भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन

डा॰ सत्यदेव शास्त्री

पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० सत्यदेव शास्त्री

रीडर तथा अध्यक्ष,

संस्कृत विभाग

मगध विश्वविद्यालय, गया

भारत

भारती

प्रकाशक
सुरेश पाण्डेय
भारत भारती
बी २८/१५ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी–५

■

प्रथम संस्करण : १९७८
मूल्य : पैंतालीस रुपये

■

मुद्रक
बाबूलाल जैन, फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी

Bhamati Prasthan Tatha Viuran Prasthan ka Tulnatmak Adhyayan

(Thesis approved for the D Litt. Degree by Patna University)

Dr. Satya Dev Shastri
Reader and Head.
Sanskrit Deptt.
Magadh University, Gaya

Bharat Bharti, Varanasi

समर्पण

पूज्य पितामह स्वर्गीय श्री

बिहारीलाल जी पुण्य स्मृति

में.........

जिनकी प्रेरणा से

मैं अद्वैत वेदान्त के

अध्ययन में

प्रवृत्त हुआ....

विनम्र

सत्यदेव

प्राक्कथन

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर सर्वतंत्रस्वतंत्र वाचस्पतिमिश्र द्वारा रचित "भामती" व्याख्या का अद्वैतवेदान्त के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर मौलिक दृष्टि से विचार किया गया है। भाषा तथा भाव की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त गम्भीर है। पद्मपादाचार्य की पंचपादिका पर प्रकाशात्मयति का "पंचपादिकाविवरण" भी ठीक इसी प्रकार का गम्भीर ग्रन्थ है। इन दोनों ग्रन्थों में दो भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का प्रवर्तन हुआ है, जिनके आधार पर शंकरोत्तर वेदान्त में भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का आविर्भाव हुआ। इस दृष्टि से भामती तथा पंचपादिका विवरण इन दोनों ग्रन्थों का शंकरोत्तर वेदान्त में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भामती तथा विवरण के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए अनेक विद्वानों ने इनका अध्ययन प्रस्तुत किया है। पिछले कुछ वर्षों में इन पर कुछ शोध-कार्य भी हुए हैं। डॉ० एस० एन० हरसुकर का "अद्वैतवेदान्त पर वाचस्पति मिश्र" नामक शोध-प्रबन्ध मिथिला रिसर्च इंस्टीच्यूट दरभंगा से १९५८ में प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार डॉ० बी० के० सेन गुप्ता का "विवरणप्रस्थान की समीक्षा" नामक शोध-प्रबन्ध १९५९ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। भामती तथा विवरण के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में भी कुछ कार्य संपन्न हो चुका है। म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री ने स्वसंपादित नवटीकोपेत ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में स्थान-स्थान पर दोनों के मतभेद को प्रदर्शित किया है। मद्रास गवर्नमेंट ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित "पंचपादिका तथा पंचपादिकाविवरण" की भूमिका में श्रीराम शास्त्री ने भामतीकार तथा विवरणकार के मतभेदस्थलों का प्रदर्शन संक्षेप में किया है तथापि भामतीप्रस्थान और विवरणप्रस्थान के विशालकाय साहित्यसागर का अवगाहन करके समीक्षात्मक दृष्टिकोण से इनके तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करने का प्रयास अद्यावधि नहीं हुआ है। इसी अभाव को ध्यान में रख कर ही प्रस्तुत प्रबन्ध की रचना की गई है।

इस शोध-प्रबन्ध की अपनी मौलिक विशेषता है। इसमें शांकर वेदान्त (विशेषतः शंकरोत्तर वेदान्त) के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उन सभी प्रश्नों का उल्लेख संभव नहीं है। अतएव कुछ अत्यन्त प्रमुख प्रश्नों का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के भूमिका भाग में भारतवर्ष में प्रचलित अद्वैतवाद के विभिन्न स्वरूपों का परिचय देते हुए शांकर अद्वैतवाद की विशेषता का प्रतिपादन किया गया है। वहाँ यह दिखलाया गया है कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद को बौद्ध शून्यवाद या विज्ञानवाद का "औपनिषद संस्करण मात्र" नहीं माना जा सकता। भूमिका में मण्डनमिश्र और सुरेश्वराचार्य की एकता के प्रश्न पर भी विचार किया गया है और प्रबल युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि इन दोनों व्यक्तियों को किसी प्रकार अभिन्न व्यक्ति नहीं माना जा सकता। इसी प्रसंग में भामतीप्रस्थान तथा विवरणप्रस्थान पर पड़ने वाले इनके प्रभावों के संबन्ध में भी विचार किया गया है।

प्रबंध के प्रथम अध्याय में नामरूपात्मक देहादि प्रपंच की अध्यस्तरूपता का निरूपण करते हुए ब्रह्म की अद्वितीयता के सिद्धांत का समर्थन किया गया है। द्वितीय अध्याय में शंकराचार्य द्वारा प्रदत्त अध्यास के लक्षण पर विचार किया गया है तथा चिदात्मा पर देहादि के अध्यास की संभावना की परीक्षा की गयी है। तृतीय अध्याय में भामतीकार वाचस्पतिमिश्र के अविद्याश्रय-विषयक मत का युक्तिपूर्वक उपपादन किया गया है और यह दिखलाया गया है कि जीव को अविद्या का आश्रय मानने के पक्ष में प्रसक्त इतरेतराश्रयदोष का निवारण किस प्रकार किया जा सकता है। वाचस्पतिमिश्र के जीवाश्रिताविद्या-वाद के संबंध में जो अनेक विचारकों का यह मत है कि उनके इस सिद्धान्त से दृष्टिसृष्टिवाद की प्रसक्ति होती है तथा जगत् के कारण के रूप में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती; उस मत की समीक्षा पंचम अध्याय में प्रस्तुत की गयी है और अनेक प्रमाणों के आधार पर उसे सर्वथा असंगत एवम् अयुक्ति-युक्त सिद्ध किया गया है। वहाँ यह दिखाया गया है कि जीव को अविद्या का आश्रय मानने पर भी वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर को ही जगत् का कारण माना है, जीव को नहीं। अतएव उनके मत में दृष्टिसृष्टिवाद की कल्पना समीचीन नहीं है। प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में जीव और ब्रह्म के संबन्ध पर विचार किया गया है। इस प्रसंग में भामतीकार के अवच्छेदवाद, विवरणकार के प्रतिबिम्ब-वाद तथा वार्तिककार के आभासवाद की विस्तृत रूप से समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। यहाँ यह दिखलाया गया है कि जीव के स्वरूप को समझाने के लिये शंकराचार्य द्वारा प्रयुक्त घटाकाशादि अवच्छेदपरक, मुखचन्द्रादि प्रतिबिम्बपरक एवं स्फटिकलौहित्यादि आभासपरक दृष्टान्तों की अपनी-अपनी उपयोगिता एवं विशेषता है। इन सभी दृष्टांतों को दृष्टान्त के रूप में ही समझा जाना उचित है। जैसा कि स्वयं शंकराचार्य का कथन है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में किसी विवक्षितांश के सारूप्य का प्रदर्शन ही अभीष्ट होता है, पूर्णसारूप्य का प्रदर्शन

नही । यदि दोनों मे पूर्णरूप से साम्य हो जाये तो इनके दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भाव का ही उच्छेद हो जाये । पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य ने जीव के संबंध में शंकराचार्य द्वारा प्रदर्शित तीनों प्रकार के दृष्टान्तों की उपयोगिता को स्पष्ट रूप मे स्वीकार किया है । विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य ने भी पूर्वोक्त सभी दृष्टांतों की उपयोगिता मानी है । उनका कथन है कि प्रतिबिम्ब दृष्टांत से जीव और ब्रह्म की एकता, रज्जुसर्पादि दृष्टान्त से अधिष्ठानभूत ब्रह्मव्यतिरिक्त प्रपंच के स्वातन्त्र्य का अभाव तथा घटाकाशादि दृष्टान्त से आत्मा की असंगता का प्रदर्शन ही अभीष्ट है । इस दृष्टि से विचार करने पर पूर्वोक्त तीन वादों का विरोध मिट जाता है और वे एक दूसरे के बाधक होने के स्थान पर एक दूसरे के पूरक ही सिद्ध होते हैं । षष्ठ अध्याय में विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए जगत् की व्यावहारिक सत्ता को सिद्ध किया गया है । इस प्रसंग में नागेश के उस मत की समीक्षा की गयी है जिसके अनुसार व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता में कोई भेद नहीं है । सप्तम अध्याय में नागेश के मत का खण्डन करते हुए अनिर्वचनीयोत्पत्तिवाद का समर्थन किया गया है । साथ ही यहाँ ख्याति के संबंध में विभिन्न वादों की परीक्षा करते हुए अद्वैतवेदान्तसम्मत अनिर्वचनीय-ख्यातिवाद का प्रबल युक्तियों के द्वारा समर्थन किया गया है । अष्टम अध्याय में मुक्त पुरुष के स्वरूप का विवेचन किया गया है और इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि मुक्त पुरुष को ब्रह्मभावापत्ति होती है या ईश्वरभावापत्ति । नवम अध्याय में मुक्ति के साधन पर विचार करते हुए ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन करके एक मात्र ज्ञान को ही मुक्ति का साधन सिद्ध किया गया है । ज्ञानोत्पत्ति में यज्ञादि कर्मों की उपयोगिता पर विचार करते हुए यज्ञादि के विद्यार्थत्वपक्ष तथा विविदिषार्थत्वपक्ष पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया गया है । इस प्रसंग में इच्छा के विधिविषयत्व एवं साध्यत्व के प्रश्न पर भी विचार हुआ है । ब्रह्मसाक्षात्कार के करण के संबंध में भी विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत किया गया है । इस प्रसंग में "शब्दापरोक्षवाद" की परीक्षा गयी है और इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है कि ब्रह्मसाक्षात्कार में मन को करण माना जा सकता है या नहीं ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे मुख्यतया उपर्युक्त प्रश्नों पर ही आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है । आशा है कि इस प्रबंध से अद्वैतवेदान्त के संबन्ध में में प्रचलित अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण हो जायगा एवं उसके अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर एक नया प्रकाश पड़ सकेगा । यदि ऐसा हुआ तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूंगा ।

अन्त में मैं नवनालन्दा महाविहार के भूतपूर्व निर्देशक डॉ० एस० के० मुकर्जी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी प्रेरणा से ही मैं इस गहन विषय के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो सका। मैं उन सभी ग्रन्थकारों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनके अमूल्य ग्रन्थों से इस प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर उद्धरण प्रस्तुत किये गये है।

—सत्यदेव

विषय-सूची

■

भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का

तुलनात्मक अध्ययन

भूमिका

शांकरपूर्व अद्वैत विचारधारा :

अद्वैत मत भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित है। कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक संहिताओं में अद्वैतमत के प्रकाशन का विशेष अवसर न रहने पर भी यत्र-तत्र उसका आभास दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में अद्वैतवाद के मूल तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था के संबंध में यहाँ कहा गया है कि उस समय न तो सत् था और न ही असत्,[1] न प्रकाश था और न अन्धकार, न आकाश था और न आकाश से परे विद्यमान द्युलोक,[2] न मृत्यु थी और न ही अमरत्व था। उस समय दिन और रात्रि का भेद भी नहीं था।[3] सब कुछ तम से आच्छादित होने के कारण गूढ़ या अविविक्त था।[4] यह कोई नहीं बता सकता कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान तम के लिए यहाँ "तुच्छ" शब्द का प्रयोग किया गया है।[5] इसी प्रकार ऋग्वेद के 'वागाम्भृणि' सूक्त में यह कहा गया है कि रुद्र, आदित्य, मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, सोम, त्वष्टा, पूषन् आदि देवों को धारण करने वाली शक्ति एक ही है।[6] वही समस्त ब्रह्मांड का धारण एवं पोषण कर रही है। यह शक्ति सर्वत्र विराजमान है। यह केवल इन लोकों में ही परिमित नहीं अपितु इनसे परे भी वर्तमान है। पुरुष सूक्त में भी विराट् पुरुष से ही समस्त ब्रह्मांड की उत्पत्ति का वर्णन उपलब्ध होता है। यहाँ समस्त ब्रह्मांड को विराट् पुरुष का शरीर माना गया है। जो कुछ भी है या हो चुका है, या भविष्य में होने वाला है, वह सब कुछ पुरुष ही है।[7] यह समस्त ब्रह्मांड उसका एक चतुर्थांश मात्र है, उसके तीन पाद अमर लोक में हैं,[8] मर्त्यलोक से

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। (ऋ० १०।१२९।१)

२. नासीद्रजो नो व्योमा परो यत। (वही)

३. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राव्या अह्न आसीत् प्रकेतः (वही, मं० २)

४. तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्। (वही, ३)

५. तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्। (वही, ३)

६. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः (ऋ० १०।१२५।१)

७. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् (ऋ० १०।९०।२)

८. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि (ऋ० १०।९०।३)

उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वन् इत्यादि भिन्न-भिन्न नामों से एक परमेश्वर का ही वर्णन माना गया है। इसी तरह यजुर्वेद के बत्तीसवें अध्याय में अग्नि, वायु, आदित्य, जल, प्रजापति, ब्रह्म इन सबको एक ही कहा गया है।[१] ऋग्वेद के वामदेव सूक्त में भी अद्वैतमत का आभास है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण ने "शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्" (ब्र० सू० १।१।३०) इस सूत्र में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत वैदिक संहिताओं में भी यत्र-तत्र अद्वैतवाद के मूलतत्त्व विद्यमान हैं। वेदों के अन्तिम भाग रूप उपनिषत् साहित्य में तो अद्वैतवाद की समर्थक श्रुतियों का बाहुल्य ही है। सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० ३।१४।१) एकमेवाद्वितीयम् (छा० ६।२।१) अयमात्मा ब्रह्म (बृह० २।५।१९) इदं सर्वं यदयमात्मा (बृ० २।४।६) तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छा० ६।८।७), ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् (मुंड० २।२।११) इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट रूप से अद्वैतमत का प्रतिपादन एवं समर्थन कर रही हैं। महाभारत आदि ग्रन्थों में भी अन्यान्य मतों के साथ अद्वैतमत का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। योगवासिष्ठ में भी अद्वैतमत का प्रतिपादन हुआ है।

प्राचीन वेदान्ताचार्यों में भी कोई-कोई अद्वैतमत को स्वीकार करते थे। वेदान्त शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में भर्तृप्रपंच, भर्तृहरि, भारुचि ब्रह्मदत्त, ब्रह्मनन्दी, टंक, उपवर्ष, बोधायन, द्रविड़ाचार्य आदि अनेक वेदान्ताचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है। इनमें से कई अद्वैतमत के समर्थक थे। इनमें से किसी ने गीता के ऊपर भाष्य की रचना की थी और किसी ने ब्रह्मसूत्र और गीता दोनों पर। उपनिषदों पर भी किसी-किसी ने भाष्य लिखा था। भर्तृप्रपंच ने कठोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य लिखे थे। ये ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। दार्शनिक दृष्टि से इनका मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि नामों से प्रसिद्ध है। इनके मत में परमार्थ सत्ता एक भी है और अनेक भी। ब्रह्मरूप में वह एक है, किन्तु जगद्रूप में अनेक है। अद्वैत के समान द्वैत भी सत्य है। कार्य-कारण कल्पित नहीं अपितु वास्तविक है। इस मत में द्वैतभाव के सत्य होने से कर्मकांड को भी प्रमाण माना जाता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञानकर्मसमुच्चय को ही श्रेष्ठ साधन माना गया है। भर्तृमित्र का उल्लेख न्यायमंजरी में तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में किया गया है। इससे सूचित होता है कि ये भी अद्वैत के आचार्य रहे होंगे। भर्तृहरि का नाम भी यामुनाचार्य के ग्रन्थ में

---

१. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। (यजु० ३२।१)

उल्लिखित है। इनका वाक्यपदीय व्याकरणविषयक ग्रन्थ होने पर भी दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है। इसमें अद्वैतमत का प्रतिपादन किया गया है। किसी किसी आचार्य का तो यहाँ तक कहना है कि भर्तृहरि के शब्दब्रह्मवाद का अवलम्बन करके ही मंडन मिश्र ने "ब्रह्मसिद्धि" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह, अविमुक्तात्मरचित इष्टसिद्धि तथा जयन्तकृत न्यायमंजरी में भी शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। उत्पल तथा सोमानन्द के कथन से यह ज्ञात होता है कि भर्तृहरि तथा उनके अनुयायी पश्यन्ती वाक् को ही शब्दब्रह्म मानते थे। इनके मत में पश्यन्ती ही परावाक् है और यही समस्त जगत् का नियामक है तथा अन्तर्यामी चित् तत्त्व से अभिन्न है।

शंकराचार्य के पूर्व ब्रह्मदत्त नामक एक प्रसिद्ध वेदान्ती हुए थे। ये भी अद्वैतवादी थे। किन्तु अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर इनका शंकराचार्य से मतभेद है। इनके मत में जीव अनित्य है, एकमात्र ब्रह्म ही नित्य है। जीव तथा जगत् दोनों ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इनके मत में उपनिषदों का तात्पर्य "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों में न होकर "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि नियोगसूचक वाक्यों में ही है। ये अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञान से मानते हैं, शाब्दज्ञान से नहीं। औपनिषद ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी मोक्ष की प्राप्ति के लिये जीवनपर्यन्त भावना का अभ्यास करना आवश्यक है। "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों के श्रवण मात्र से आत्मस्वरूप-विषयक अखण्डाकार वृत्ति उदित नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द में तादृश शक्ति नहीं है। निदिध्यासन या प्रसंख्यान में ही ऐसी शक्ति है। ब्रह्मदत्त ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी थे। इनके मत में जीवनपर्यन्त कर्म आवश्यक है। ये शंकराचार्य के जीवन्मुक्ति के सिद्धांत के समर्थक नहीं हैं। शंकर के मत में जीवन्मुक्त को कर्मों की आवश्यकता नहीं है जबकि ब्रह्मदत्त के मत में जीवनपर्यन्त कर्म आवश्यक हैं। शंकर के मत में मोक्ष दृष्टफल है, जबकि ब्रह्मदत्त के मत में वह अदृष्ट फल है।

शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में कहीं-कहीं उपवर्ष नामक एक प्राचीन वृत्तिकार के मत का भी उल्लेख किया है। इस वृत्तिकार ने दोनों ही मीमांसा-शास्त्रों पर वृत्तिग्रन्थ लिखे थे। शंकराचार्य के पहले सुन्दर पाण्ड्य नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्तिक की रचना की थी। शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में (ब्र० सू० १-१-४) इनके तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। मधुसूदन सरस्वती ने संक्षेपशारीरक की टीका (३-२१७) में ब्रह्मनन्दी के मत का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी अद्वैतवाद के आचार्य रहे

होंगे। ब्रह्मसूत्र पर बोधायन की भी एक वृत्ति थी। रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में इस वृत्ति से अनेक वाक्यों को उद्धृत किया है। रामानुज कृत वेदार्थ संग्रह में भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव, कपर्दिक तथा द्रविड़ाचार्य इन छह वेदान्ताचार्यों का उल्लेख मिलता है। रामानुजाचार्य ने इन सब आचार्यों का नाम आदरपूर्वक लिया है। इससे यह सूचित होता है कि इन आचार्यों का मत रामानुज की विचारधारा के अनुकूल रहा होगा।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र में भी अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख है। विभिन्न प्रसंगों में सूत्रकार ने काशकृत्स्न, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, बादरि, जैमिनी आदि अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। इन्होंने विज्ञानात्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर आश्मरथ्य, औडुलोमि तथा काशकृत्स्न के मतभेद का उल्लेख किया है। आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। इनके मत में विज्ञानात्मा और परमात्मा में कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद। जिस प्रकार वह्नि से उठते हुये वह्नि के विकार रूप विस्फुलिंग न तो वह्नि से अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि वे भी वह्निरूप ही हैं और न ही उससे अत्यन्त अभिन्न, क्योंकि ऐसा मानने पर उनकी परस्पर व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी; उसी प्रकार ब्रह्म-विकार जीवात्माएं भी न तो ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न हैं और न ही अत्यन्त अभिन्न। यदि इन्हें ब्रह्म से भिन्न माना जाय तो उनके चिद्रूपत्व के अभाव की प्रसक्ति होगी और यदि उन्हें ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्न माना जाय तो इनकी परस्पर व्यावृत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये जीवात्मा और परमात्मा में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद के पक्ष को ही आश्मरथ्य ने स्वीकार किया है।[1] किन्तु औडुलोमि ने अवस्था के भेद से जीवात्मा और परमात्मा में भेद और अभेद दोनों को ही संगत माना है। इनके मत में संसारावस्था में जीवात्मा और परमात्मा में भेद है, किन्तु मुक्तिदशा में इनमें अभेद है। भविष्यत्कालीन अभेद के आधार पर भेदकाल में भी अभेद का व्यवहार किया जाता है।[2] परन्तु इसके विपरीत काशकृत्स्न आचार्य के मत में जीवात्मा और परमात्मा में पारमार्थिक दृष्टि से अभेद है। इनके मत में जीव न तो परमेश्वर से भिन्न है और न ही उसका विकार; अपितु वह अविकृत परमेश्वर ही है।[3] शंकराचार्य ने काशकृत्स्न के मत को ही श्रुत्यनुसारी एवं

---

१. तस्मात्कथंचिद्भेदो जीवानामभेदश्च। (भामती, १।४।२०)

२. भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽप्यभेद उक्तः। (भामती, १।४।२१)

३. काशकृत्स्नस्याचार्यस्य विकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्। (ब्र० सू० शां० भा० १।४।२२)।

उपादेय माना है। इस संबंध में उनका कथन है कि यद्यपि आश्मरथ्य को भी जीव और परमात्मा का अनन्यत्व अभिप्रेत है, तथापि "प्रतिज्ञासिद्धेः" इससे इससे सापेक्षत्व का अभिधान होने से इनके बीच कुछ कार्यकारण-भाव की भी प्रतीति होती है। औडुलोमि के पक्ष में तो स्पष्टरूप से अवस्थानुसार भेद और अभेद दोनों को संगत माना गया है। किन्तु इन सब में काशकृत्स्न का मत ही मानने योग्य है, क्योंकि वह तत्त्वमसि इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपिपादयिषित अर्थ के अनुकूल है।[1] शंकराचार्य के इस कथन से यह सूचित होता है कि आचार्य काशकृत्स्न अद्वैतवादी विचारक रहे होंगे।

अद्वैतवाद की मूल भावना भारतीय चिन्तनधारा में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है। प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी अद्वैतवाद को मान्यता प्रदान की गई थी। शून्यवादी तथा विज्ञानवादी बौद्ध अद्वैतवाद के समर्थक थे। माध्यमिक सम्प्रदाय में एकमात्र शून्य की तथा योगाचार सम्प्रदाय में एकमात्र विज्ञान की ही सत्ता मानी गई है। इस प्रकार माध्यमिक मत में शून्याद्वैत को तथा योगाचार मत में विज्ञानाद्वैत को स्वीकार किया गया है। इसी कारण बुद्ध के अनेक नामों में से एक नाम अद्वयवादी भी था। बौद्ध विचारकों के अतिरिक्त वैयाकरण, शाक्त तथा शैव आदि भी किसी न किसी रूप में अद्वैतवाद को स्वीकार करते थे। वैयाकरणों का शब्दाद्वैत, शैवों का शिवाद्वैत तथा शाक्तों का शक्त्यद्वैत अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। यहाँ संक्षेप में अद्वैतवाद की इन प्रमुख विचारधाराओं का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे कि इसकी पृष्ठभूमि में शंकराचार्य के अद्वैतवाद का मूल्यांकन समुचित रूप से किया जा सके।

(क) शब्दाद्वैतवाद

इसका ही दूसरा नाम स्फोटवाद या प्रणववाद है। इसके अनुसार शब्द ही विश्व का कारण है। भगवती श्रुति कहती है "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे। वाच इत्सर्वममृतं मर्त्यं च" अर्थात् वाणी से ही समस्त भुवन उत्पन्न हुए और वाणी से ही मर्त्य तथा अमर्त्य सबकी उत्पत्ति हुई। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भूः, भुवः, स्वः इन तीन महाव्याहृतियों से ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्यु लोक की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है।[2] मनुस्मृति में कहा गया है कि महेश्वर ने सृष्टि के

---

१. आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतम्; तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात्कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते। औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते। तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते। (ब्र० सू० शां० भा० १।४।२२)

२. स भूरितिव्याहरत्स भूमिमसृजत। (तै० ब्रा० २।२।४।२)

प्रारम्भ में पदार्थों के नाम, रूप आदि की रचना वेद के शब्दों से ही की थी।[1] स्वयंभू ने सृष्टि के आरम्भ में अनादिनिधन, नित्य, सनातन वेदवाणी को प्रकट किया जिससे कि मनुष्य के सारे व्यवहार चल सकें।[2] इस प्रकार श्रुति तथा स्मृति दोनों के द्वारा शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन होता है। पाणिनि ने भी "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्" (१।२।५३) इस सूत्र में शब्द व्यवहार को अनादि एवं सनातन माना है। कात्यायन के वार्तिक "सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे" में शब्दाद्वैतवाद का संकेत है। स्फोट शब्द का सबसे पहले प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य में हुआ है। परन्तु भर्तृहरि ही सर्वप्रथम विचारक थे जिन्होंने शब्दाद्वैतवाद या स्फोटवाद को एक शास्त्रीय रूप प्रदान किया। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "वाक्य पदीय" में शब्दाद्वैत का विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया है। वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में वे कहते हैं कि अक्षर, अविनाशी, अनादि-निधन, सर्वव्यापक शब्द तत्त्व ही विवर्त द्वारा अनेकविध पदार्थों के रूप में प्रकट होता है, जिससे कि जगत् के सारे व्यवहार सिद्ध होते हैं।[3] भर्तृहरि के बाद भर्तृमित्र ने अपने "स्फोटसिद्धि" नामक ग्रन्थ मे वर्ण-व्यतिरिक्त स्फोट की सिद्धि के द्वारा शब्दाद्वैतवाद का समर्थन किया। इसके बाद इस सिद्धान्त का विशदरूप से विवेचन पुण्यराज तथा कैयट के भाष्यों में तथा नागेश के उद्योत में उपलब्ध होता है। नागेश शब्दाद्वैत के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने अपनी "मंजूषा" में इस सिद्धान्त का सर्वाङ्गीण प्रतिपादन किया है।

व्याकरण मत के अनुसार परावाक् व्यवहारोन्मुख होने पर पश्यन्ती वाक् कहलाती है। अक्षर और शब्द ब्रह्म इसी के नामान्तर हैं। यह चैतन्य स्वरूप है। यह अखण्ड, अभिन्न, अद्वय परमतत्त्व है। इसमें ग्राह्य तथा ग्राहक का भेद प्रतीत नहीं होता। इसमें देशगत तथा कालगत क्रम का आभास भी नहीं है। इसीलिये इसे अक्रमा या प्रतिसंहृतक्रमा के नाम से पुकारा जाता है। पश्यन्ती वाक् ही ब्रह्मार्थवासना के प्रभाव से घट, पट आदि पदार्थों के रूप में विवर्तभाव को प्राप्त होकर इन्द्रियगोचर बनती है। वस्तुतस्तु वाचक शब्द से पृथग्भूत वाच्य अर्थ की सत्ता है ही नहीं।[4] वाच्य वाचकविभाग पारमार्थिक नहीं, अपितु

---

१. नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ (मनु० १।२१)

२. अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ (मनु०)

३. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ (ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १)

४. भारतीय संस्कृति और साधना—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।

काल्पनिक है। परन्तु काल्पनिक या अविद्याजन्य होने पर भी ज्ञान के उपाय के रूप में इसका ग्रहण करना ही पड़ता है। ज्ञानमात्र ही वागात्मक है, अतः परावाक् या शब्दब्रह्म ही परमार्थ तत्त्व है। अतएव व्याकरण मत में शब्दब्रह्म को ही परमार्थतत्त्व माना गया है तथा जगत् के समस्त पदार्थों को शब्दब्रह्म का ही विवर्त स्वीकार किया गया है। शब्दब्रह्म को निराकार, देशकालादि परिच्छेद से शून्य अक्रम एवं अनवच्छिन्न माना गया है। यही वैयाकरणों का स्फोटरूप अद्वैततत्त्व है।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरणभाष्य में शब्दाद्वैतवाद का खण्डन किया है। वे शब्द से सृष्ट्युत्पत्ति के सिद्धान्त को समीचीन नहीं मानते। उन्होंने स्फोटवाद का खण्डन करते हुए यह प्रदर्शित किया है कि शब्द से संसार की उत्पत्ति का सिद्धान्त माननीय नहीं है। वे कहते हैं कि वर्णों से ही अर्थप्रतीति के संभव होने से वर्णव्यतिरिक्त स्फोट की कल्पना अनर्थक है।[1] वर्ण उत्पत्ति-विनाशशील नहीं हैं, क्योंकि वर्णविषयक प्रत्यभिज्ञान अनुभवसिद्ध है। इस प्रत्यभिज्ञान को ज्वालादि के समान सादृश्यमूलक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका प्रमाणान्तर से बाध अनुपपन्न है। इस प्रत्यभिज्ञान को आकृतिविषयक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ वर्णव्यक्ति का ही प्रत्यभिज्ञान होता है, आकृति का नहीं। यदि प्रत्युच्चारण में गवादि व्यक्तियों के समान अन्य-अन्य वर्ण-व्यक्तियों की प्रतीति होती तो इस प्रत्यभिज्ञान को आकृतिविषयक माना जा सकता था। किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। अतएव वर्णविषयक प्रत्यभिज्ञान को व्यक्तिविषयक ही मानना होगा आकृतिविषयक नहीं। यहाँ पर यह शंका होती है कि देवदत्त और यज्ञदत्त की ध्वनियों के श्रवणमात्र से वर्णगतभेद की प्रतीति होती है, अतः अनुभवसिद्ध वर्णभेद को क्यों न माना जाय? इस शंका के समाधान में शंकराचार्य का कथन है कि वर्णगत वैचित्र्य का कारण वर्णगतस्वरूपभेद न होकर वर्णाभिव्यंजक कारण में भेद ही है।[2] एक ही वर्ण अभिव्यंजक कारण के भेद से नाना रूपों में उपलब्ध होता है। जैसे एक ही वर्ण अभिव्यंजक निमित्त के भेद से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार से सुनाई पड़ता है। वर्णगत उदात्तादि भेद ध्वनिनिबन्धन है, स्वरूप निबन्धन नहीं। अतएव वर्णों को उत्पत्तिविनाशशील एवं अनित्य नहीं माना जा सकता। इस-

---

१. वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः संभवात्स्फोटकल्पनानर्थिका।
(ब्र० सू० शां० भा० १।३।२८)

२. अभिव्यंजकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः।
—(वही)

लिये अर्थावबोध के निमित्त वर्णव्यतिरिक्त स्फोट की कल्पना व्यर्थ है। इस पर स्फोटवाद की ओर से यह कहा जा सकता है कि वर्णों को नित्य मानने पर भी एकैकवर्णग्रहणोत्तरकालीन पदगत एकत्वबुद्धि के ग्रहण के लिये स्फोट की कल्पना करनी ही पड़ेगी, अन्यथा "गौ" इस पद में एकत्वबुद्धि की व्याख्या कैसे की जा सकेगी ? इस आक्षेप के समाधान में शंकराचार्य का कथन है कि यह एकत्व-बुद्धि समस्तवर्णविषयक ही है अर्थान्तरविषयक (स्फोटविषयक) नहीं।[1] क्योंकि इस बुद्धि में भी गकारादि वर्णों की ही अनुवृत्ति होती है अन्य की नहीं। यदि "गौ" इस बुद्धि का विषय गकारादि से भिन्न होता तो दकारादि के समान गकारादि की भी इससे व्यावृत्ति होती। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः यह मानना होगा कि यह एकत्वबुद्धि (पदबुद्धि) वर्णसमुदायविषयक ही है, अर्थान्तर-विषयक (स्फोटविषयक) नहीं। अनेक वर्णों में एकत्वबुद्धि वन, सेना, पंक्ति आदि के समान उपपन्न है। जैसे क्रमानुरोधिनी पिपीलिकाओं में ही पंक्ति-बुद्धि होती है वैसे ही क्रमबद्ध वर्णों में ही पदबुद्धि होती है, अन्यत्र नहीं। अतः वर्णों के समान होने पर भी क्रम-विशेष के कारण राजा—जारा, कपि—पिक इत्यादि पदों में भेद हो जाता है। अतएव पदबुद्धि के लिये वर्णातिरिक्त कारणान्तर की कल्पना सर्वथा अनर्थक है। वर्णों का अर्थावबोधकत्व दृष्ट है। इसलिये अर्थबोध के निमित्त दृष्ट कारण का परित्याग कर अदृष्ट कारणान्तर (स्फोट) की कल्पना को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।[2] इस प्रकार शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरणभाष्य में प्रबल युक्तियों के आधार पर स्फोटवाद का खण्डन करते हुये शब्दाद्वैतवाद की अप्रामाणिकता को प्रदर्शित किया है।

(ख) शिवाद्वैतवाद

काश्मीर देश में प्रचलित शैव आगम को प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। शैवागम में अद्वैतवाद का प्रतिपादन है। किन्तु यह अद्वैतवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न है। शैवागम में आत्मा का परम रूप चिदानन्द घन, स्वातन्त्र्य सार तथा परम शिवात्मक है। आगमविदों के मत से सांख्य के पुरुष तथा वेदान्त के ब्रह्म में भी आत्मा के यथार्थस्वरूप का प्रकाशन नहीं होता क्योंकि सांख्यमत में पुरुष बहुसंख्यक हैं तथा वेदान्त का ब्रह्म विमर्शहीन है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन पूर्णतया अद्वैतवादी है। इसका दूसरा नाम "ईश्वराद्वय-

---

१. एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया नार्थान्तर-विषया। —(वही)

२. स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च। (वही)

वाद" भी है। इसके अनुसार एक परमेश्वर ही परमार्थतत्त्व है। अज्ञान, माया तथा जगत् आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छा परिगृहीत रूप है। नट के समान परमेश्वर अपनी इच्छा मात्र से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करते हैं। अज्ञान उनकी स्वातन्त्र्यशक्ति का विजृम्भणमात्र है। परमेश्वर तथा जगत् के पारस्परिक संबंध को अभिनवगुप्त ने दर्पणबिम्बवत् बतलाया है। जैसे निर्मल दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्ष आदि पदार्थ प्रतिबिम्बित होने पर उससे अभिन्न होने पर भी भिन्नवत् प्रतीत होते हैं तथा ग्राम-नगर आदि पदार्थ परस्पर भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, वैसे ही पूर्ण संविद्रूप परमेश्वर में प्रतिबिम्बित यह विश्व उससे अभिन्न होने पर भी घटपटादिरूप से भासित होता है। लोक में प्रतिबिम्ब की सत्ता बिम्ब पर अवलम्बित होती है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण बिम्ब के बिना ही जगद्रूप प्रतिबिम्ब उदित होता है। अतः द्वैतभावना कल्पित है। आभास के सिद्धान्त को मानने के कारण प्रत्यभिज्ञा दर्शन के दार्शनिक दृष्टिकोण को "आभासवाद" के नाम से पुकारा जाता है। प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी में जड़ चेतन सभी पदार्थों को आभास रूप कहा गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ये असत्य एवं मिथ्या हैं। चिन्मयी शक्ति का स्फुरण होने के कारण जगत् को असत्य नहीं माना जा सकता। जगत् को न तो शिव का परिणाम माना जा सकता है और न ही उसका विवर्त। शिव के अपरिणामी होने के कारण उसका परिणाम नहीं हो सकता। शिव के प्रकाश स्वरूप होने के कारण उसके प्रकाश का तिरोधान भी संभव नहीं। अतः जगत् न तो शिव का परिणाम हो सकता है और न विवर्त। परिणामवाद में एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में परिणाम माना जाता है। विवर्तवाद के अनुसार वस्तु का परिणाम तो नहीं होता, परन्तु वह अपने स्वरूप के तिरोधान के कारण अन्य रूप में अवभासित होती है। शैवागम में न तो सांख्य के परिणामवाद को माना जाता है और न ही वेदान्त के विवर्तवाद को। इस मत में जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में स्वातन्त्र्यवाद को ही स्वीकार किया जाता है जिसके अनुसार यह जगत् शिव की स्वातन्त्र्यशक्ति का स्फुरण मात्र है। परमेश्वर के हृदय में विश्व सृष्टि की कामना के उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं—एक शिव रूप तथा दूसरा शक्ति रूप। शिव प्रकाश रूप है तथा शक्ति विमर्शरूपिणी है। विमर्श का अर्थ है पूर्ण एवं अकृत्रिम "अहम्" की स्फुर्ति। यह स्फुर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार, स्थितिकाल में विश्वप्रकाश तथा संहारकाल में विश्वसंहरण रूप से होती है। इसी की चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, सार, हृदय, महासत्ता, परावाक्, स्पन्द आदि अनेक संज्ञाएँ हैं। शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है। शक्ति के बिना शिव शव के समान है।

शिव तथा शक्ति का सम्बन्ध नित्य है। शिव न तो शक्ति से विरहित रह सकते हैं और न शक्ति शिव से। इसी शिव-शक्ति के आन्तर निमेष को "सदाशिव" तथा बाह्य उन्मेष को "ईश्वर" कहते हैं। सदाशिव दशा में अचलरूप शिव में किंचित् चलनात्मक रूप स्फुरित होता है। प्रभा का अहमंश इदमंश को आच्छादित कर देता है। अतः जगत् का अव्यक्त रूप से भान होता है। सत्ता का आरम्भ यहीं से होता है। इसी से इसका नाम सदाख्य तत्त्व है। विकासोन्मुख ज्ञान की अगली अवस्था को ईश्वर तत्त्व कहते हैं। यहाँ "अहम्" इदम् (जगत्) को स्पष्ट रूप से किन्तु आत्मा से अभिन्न रूप से अनुभव करता है। पिछले विमर्श में "अहम्" को प्रधानता थी किन्तु इस विमर्श में "इदम्" की प्रधानता रहती है। पंचमतत्त्व को विद्या या सद्विद्या कहते हैं। ज्ञान की दशा में "अहम्" तथा "इदम्" का पूर्ण सामानाधिकरण्य रहता है एवं दोनों की समान रूप से प्रधानता रहती है। इस प्रकार शिवतत्त्व में "अहमिदम्" विमर्श तथा ईश्वरतत्त्व में "इदमहम्" विमर्श होता है। इनमें से प्रत्येक स्थल में प्रथम पद की प्रधानता रहती है। इसके बाद माया शक्ति का कार्य आरम्भ होता है जो "अहम्" और "इदम्" इन दोनों को पृथक्-पृथक् कर देती है। अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश हो जाता है प्रकृति। परन्तु शिव को पुरुष रूप में आने के लिए माया पाँच उपाधियों की सृष्टि करती है। ये हैं—कला, विद्या, राग, काल तथा नियति। इन उपाधियों का परिभाषित नाम "कञ्चुक" (शक्ति को परिच्छिन्न करने वाला आवरण) है। सर्वकर्तृत्व शक्ति को संकुचित करने वाला तत्त्व "कला" है जिसके कारण जीव की कर्तृत्वशक्ति संकुचित हो जाती है। सर्वज्ञता का संकोच करने वाला तत्त्व "विद्या" है जिसके कारण जीव किञ्चिज्ज्ञ हो जाता है। नित्यतृप्तित्व गुण को संकुचित करने वाला तत्त्व "राग" है जिसके कारण जीव विषयों से अनुराग करने लगता है और परिणामतः उसका नित्यतृप्तत्व संकुचित हो जाता है। नित्यत्व को संकुचित करने-वाला तत्त्व "काल" है जिसके कारण देहादिकों से संबद्ध होकर जीव अपने को अनित्य समझने लगता है। इसी प्रकार "नियति" जीव की स्वातंत्र्य शक्ति को संकुचित कर देती है। इन्हीं माया-जनित कंचुकों से आवृत्त जीव पुरुष कहलाता है। इदमंश रूप प्रकृति से महदादि पृथ्वीपर्यन्त तत्त्व सांख्यरीति से उत्पन्न होते हैं।

ब्रह्मवाद तथा ईश्वराद्वयवाद में भेद

शंकराचार्य के अद्वैतवाद (ब्रह्मवाद) तथा अभिनवगुप्त आदि शैव आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित ईश्वराद्वयवाद में पर्याप्त अन्तर है। ईश्वराद्वयवाद में अज्ञान या माया की प्रवृत्ति को आकस्मिक नहीं माना जाता। इसे आत्मा का स्वातंत्र्यमूलक रूप माना जाता है। जैसे पुरुष जान बूझकर नाना

प्रकार का अभिनय करता है, ठीक वैसे ही परमेश्वर भी अपनी इच्छा से नाना प्रकार की भूमिकाओं को ग्रहण करता है। वह अपने स्वरूप को प्रकट करने या ढँकने में स्वतंत्र है। जिस समय वह अपने स्वरूप को ढँक लेता है उस समय भी उसका आवरणहीन रूप विद्यमान रहता है। अज्ञानथा माया परमेश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति का विजृम्भणमात्र है। संसार की सृष्टि करने में लीलापरायण परमेश्वर की लीला ही मुख्य कारण है। किन्तु इसके विपरीत शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म विशुद्ध साक्षिस्वरूप है, उसमें कर्तृत्व नहीं है। वह विश्वोत्तीर्ण है। कर्तृत्वादि धर्म मायाजन्य होने के कारण मिथ्या है। ईश्वराद्वयवाद में ज्ञान और भक्ति दोनों को मुक्ति का साधन माना गया है। यह न तो शुद्ध ज्ञान-मार्ग को ही ठीक मानता है और न ही ज्ञान-विहीन भक्ति मार्ग को। किन्तु शंकराचार्य ने एकमात्र ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना है। इनके मत बन्धन का कारण अविद्या है। अतः विद्या के उदय से अविद्या के दूर होते ही जीव मुक्त हो जाता है। जीव परमार्थतः मुक्त ही है। अविद्या के कारण ही वह अपने को बद्ध समझ रहा है। जिस क्षण उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है। इसलिये मुक्ति के लिये किसी कर्म की अपेक्षा नहीं है। शङ्कराचार्य के मत में भक्ति भी मोक्ष का साधन नहीं है। भक्ति के लिए द्वैधभावना आवश्यक है। भक्त और भगवान् के भेद को माने बिना भक्ति की व्याख्या संभव नहीं। अतः अद्वैत की चरमावस्था में भक्ति का कोई स्थान नहीं है।

(ग) शाक्तयद्वैतवाद

शैव दर्शन के समान शाक्तदर्शन (त्रिपुरादर्शन) भी दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवाद का समर्थक है। छत्तीस तत्त्वों से परे एक तत्त्वातीत पदार्थ है जो विश्व में व्यापक होने पर भी विश्व से पृथक् है। अतः वह एक साथ विश्वात्मक भी है और विश्वोत्तीर्ण भी। सदाशिव से लेकर क्षितिपर्यन्त चौंतीस तत्त्व विश्व कहलाता है। जिस तत्त्व का यह विश्व उन्मेषमात्र है वह तत्त्व "शक्ति" है। शक्ति के साथ शिव सदा मिले रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति है। अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख दोनों भाव सनातन हैं। शिवतत्त्व में शक्तिभाव गौण और शिव भाव प्रधान है जबकि शक्ति तत्त्व में शिव भाव गौण और शक्तिभाव प्रधान है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है और न शक्ति की, प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। वही शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को शैव लोग परम शिव के नाम से पुकारते हैं, परन्तु शाक्तलोक पराशक्ति के नाम से। शाक्त मत में

शिव पराशक्ति से उत्पन्न होकर जगत् का उन्मीलन करते हैं। शैव दर्शन के समान शाक्तदर्शन में भी भक्ति को मुक्ति का प्रमुख साधन स्वीकार किया गया है।

(घ) विज्ञानाद्वैतवाद

शंकराचार्य के पहले सर्वास्तिवाद के समान विज्ञानवाद भी अत्यन्त प्रसिद्ध था। यह योगाचार सम्प्रदाय का सिद्धान्त है। यद्यपि लंकावतार सूत्र आदि ग्रन्थों में भी विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया गया था तथापि दार्शनिक क्षेत्र में विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु और इनके अनुयायियों के प्रयत्न से हुई थी। मैत्रेयनाथ तथा असंग के अनन्तर वसुबन्धु ने विज्ञानवाद के इतिहास में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था। अपने बड़े भाई असंग के प्रभाव से वसुबन्धु वैभाषिक मत को छोड़कर विज्ञानवादी बन गये थे। वसुबन्धु ने योगाचार मत में दीक्षित होने पर बीस और तीस कारिकाओं में "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" लिखी। इसे विंशिका और त्रिंशिका के नाम से डा० सिल्वाँ लेवी ने पेरिस से प्रकाशित किया है। "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" विज्ञानवाद का नितान्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। वसुबन्धु के शिष्यों में आचार्य स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ तथा दिङ्नाग ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की थी। स्थिरमति ने अपने गुरु द्वारा रचित त्रिंशिका, महायान सूत्रालंकारवृत्ति और मध्यान्तविभागसूत्र के ऊपर टीका लिखी थी। विमुक्त सेन प्रज्ञापारमिता के विशेषज्ञ थे। गुणप्रभ ने विनय में विशेषज्ञता प्राप्त की थी। परन्तु वसुबन्धु के शिष्यों में दिङ्नाग ही सर्वश्रेष्ठ थे। ये शास्त्रार्थ में अत्यन्त कुशल थे। इन्होंने प्रमाण की विशेषरूप से परीक्षा की। उनके प्रमाण समुच्चय, आलम्बन परीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, नयद्वार, नयमुख, नयप्रवेश आदि ग्रन्थ शंकराचार्य के समय में प्रतिष्ठित ग्रन्थों में गिने जाते थे। प्रमाणसमुच्चय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की परीक्षा की गई है। स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण रूप द्विविध प्रमेयों के ग्रहण के निमित्त प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण को स्वीकार किया गया है। अर्थक्रियासमर्थ वस्तु स्वलक्षण है। इससे जो भिन्न है वह सामान्यलक्षण है। दिङ्नाग के मत में कल्पनासंसृष्ट एवं नामजात्यादियुक्त ज्ञान परोक्ष है तथा कल्पनाहीन ज्ञान प्रत्यक्ष है। दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन हुए। ईश्वरसेन के शिष्य धर्मकीर्त्ति अत्यन्त कुशाग्रमति थे। प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा आदि इनके प्रधान ग्रन्थ हैं।

विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र सत्य है। यह उपचारसमन्वित नानात्मक संसार मनोविजृम्भणमात्र है। संसार में दो प्रकार के उपचार अनुभूत

होते हैं—(१) आत्मोपचार तथा (२) धर्मोपचार। जीव, जन्तु, मनुष्य ये सब आत्मोपचार हैं। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये सब धर्मोपचार हैं। ये दोनों प्रकार के उपचार विज्ञान के ही परिणाम हैं। विज्ञान के बाहर स्वतंत्ररूप से इनकी सत्ता नहीं है। विज्ञेय परिकल्पितस्वभाव वाला होने के कारण अवास्तविक है परन्तु विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से नितान्त सत्य है। इस प्रकार विज्ञानवाद के अनुसार एकमात्र विज्ञान की ही सत्ता को स्वीकार किया जाता है।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के तर्कपाद में विज्ञानवाद का प्रबल युक्तियों के द्वारा खंडन किया है।[१] वे कहते हैं कि जबकि हमें घट, पट, स्तम्भ, कुड्य आदि बाह्य पदार्थों की उपलब्धि स्पष्टरूप से होती है, हम इन उपलभ्यमान पदार्थों का अभाव कैसे मान सकते हैं?[२] घटादि पदार्थ हमें उपलब्धि के विषय के रूप में ही उपलब्ध होते हैं। उपलब्धि को ही कोई पुरुष घटादि-पदार्थ के रूप में उपलब्ध नहीं करता।[३] अतएव विज्ञान (उपलब्धि) के अतिरिक्त विज्ञेय की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। किंच यदि विज्ञान के अतिरिक्त विज्ञेय की सत्ता न मानी जाय तो विज्ञान के भेद की व्याख्या नहीं की जा सकती। विज्ञेय पदार्थ के भेद के कारण ही विज्ञान में भेद संभव है। घटज्ञान, पटज्ञान इत्यादि में ज्ञान के विशेषणरूप घट और पट के भेद के कारण ही ज्ञान में भेद होता है। अतएव ज्ञान तथा ज्ञान के विषय में भेद को मानना आवश्यक है। विज्ञान से पृथक् विज्ञेय की सत्ता को स्वीकार किये बिना विज्ञान के भेद की समुचित व्याख्या संभव नहीं है। इसी प्रकार विज्ञान से व्यतिरिक्त स्वयंसिद्ध साक्षी की सत्ता का भी अलाप नहीं किया जा सकता। विज्ञान उत्पत्तिविनाशशील क्षणिक एवं नाना है। किन्तु इसके विपरीत विज्ञान का साक्षीभूत चैतन्य कूटस्थ, नित्य एवं अविकारी है। अतएव विज्ञान से पृथक् नित्य, शुद्ध, साक्षिस्वरूप चैतन्य की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है।[४] इस प्रकार शंकराचार्य ने प्रबल युक्तियों के आधार पर विज्ञानवाद का खंडन किया है।

---

१. नाभाव उपलब्धेः। (ब्र० सू० २।२।२८ शां० भा०)

२. उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थ स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति। न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति।

(ब्र० सू० शां० भा० २।२।२८)

३. न हि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते। (वही)

४. साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्धोपलभ्यभावोपपत्तेः। (वही)

(ङ) शून्याद्वैतवाद

नागार्जुन तथा उनके अनुयायी आर्यदेव आदि आचार्यों ने प्रज्ञापारमिता आदि शास्त्रों के आधार पर शून्यवाद का प्रचार किया। इनके मत में सत्, असत्, सदसत् तथा सदसद्विलक्षण (इन चार कोटियों से विनिर्मुक्त, निर्विकल्पक, निष्प्रपंच, आकाश के समान निर्लेप एवं असंग तत्त्व ही शून्यपदवाच्य है। यह शून्य अभाव से भिन्न है क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष है, जबकि शून्य निरपेक्ष परमतत्त्व का सूचक है। वह अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत इत्यादि विशेषणों से वर्णित किया गया है। यही पारमार्थिक सत्य है। सत्य का एक दूसरा स्वरूप भी है। वह बुद्धि या संवृति नाम से कहा गया है। बुद्धिमात्र ही विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होने के कारण अविद्यात्मक है। बुद्धि के द्वारा पारमार्थिक सत्य का ग्रहण संभव नहीं है। संवृति को अविद्या, मोह, विपर्यास आदि नामों से भी कहा गया है। माध्यमिक सम्प्रदाय में अविद्या या संवृति के दो कार्य माने जाते हैं—(१) वस्तु के स्वरूप का आवरण तथा (२) असत् पदार्थ का आरोपण। संवृति भी दो प्रकार की मानी गयी है—(१) तथ्य संवृति तथा (२) मिथ्या संवृति। प्रतीत्यसमुत्पन्न घट, पट आदि वस्तुओं का स्वरूप जब अदुष्ट इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होता है तब वह लौकिक दृष्टि से सत्य माना जाता है। यही तथ्य संवृति है। किन्तु इसके विपरीत माया-मरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि दुष्ट इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होने से लौकिक दृष्टि से भी मिथ्या कहे जाते हैं। यही मिथ्या संवृति है। तथ्य संवृति का स्वरूप लौकिक दृष्टि से अवितथ अर्थात् सत्य ही है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से यह सत्य नहीं है।

शून्यवाद के अनुसार चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य ही परमार्थ तत्त्व है। नागार्जुन ने "माध्यमिककारिका" में गति, इन्द्रिय, स्कन्ध, धातु, दुःख, संसर्ग, स्वभाव, कर्म, बंध, मोक्ष, काल, आत्मा आदि की पाण्डित्यपूर्ण परीक्षा करते हुये इन सबकी असत्यता प्रदर्शित की है। वे कहते हैं कि जगत् के भावों की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। भाव न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं और न परतः, न दोनों से और न अहेतु से।[1] यदि यह माना जाय कि पदार्थ स्वतः उत्पन्न होते हैं, तो ऐसी दशा में उत्पत्ति व्यर्थ हो जायगी। जो पदार्थ विद्यमान हैं, उनकी उत्पत्ति का प्रयोजन क्या होगा? यह भी नहीं माना जा सकता कि पदार्थ अपने से भिन्न कारण से (परतः) उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ऐसी अवस्था

---

१. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन। (मा० का०)

में किसी पदार्थ से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। पूर्वोक्त दोनों पक्षों में दोष होने से इनका समुच्चय भी नहीं माना जा सकता। यह भी नहीं माना जा सकता कि हेतु के बिना ही कार्य उत्पन्न होता है। कार्यकारण का सिद्धान्त माननीय है, अन्यथा सब पदार्थ सब पदार्थों से उत्पन्न होने लगें। अतः जगत् के भावों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार नागार्जुन ने अपनी सूक्ष्म तर्क पद्धति के आधार पर जगत् की समस्त व्यावहारिक धाराओं की असत्यता को प्रदर्शित करते हुए एकमात्र "शून्य" को ही परमार्थ तत्त्व सिद्ध किया है। यह शून्य अभाव से नितान्त भिन्न है, क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है, परन्तु यह शून्य निरपेक्ष परमतत्त्व का सूचक है। यह मनोवाणी से अगोचर होने के कारण नितरां अनिर्वचनीय है। उस परमतत्त्व को सूचित करने के लिए ही "शून्य" शब्द का प्रयोग किया गया है। वेदान्त में अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग "सदसद्विलक्षण" के लिए किया गया है, परन्तु बौद्धदर्शन में इसका प्रयोग "चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व" के लिए हुआ है। यह अनिर्वचनीय शून्य ही माध्यमिक मत में एकमात्र परमार्थ तत्त्व है। यह समस्त नानात्मक प्रपंच इसी शून्य का ही विवर्त माना जाता है। इस प्रकार माध्यमिक बौद्ध शून्याद्वैतवाद के समर्थक हैं।

शून्यवाद के इस संक्षिप्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि माध्यमिकों के शून्याद्वैत तथा शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैत में अनेक समानतायें हैं। इसी कारण बहुत से आलोचक शंकराचार्य तथा उनके भी पूर्ववर्ती आचार्य गौडपाद के सिद्धांतों पर माध्यमिकों की विचारधारा का प्रभाव स्वीकार करते हैं। "मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च" इत्यादि पौराणिक वचन भी इसी मत के समर्थक हैं। इस मत के अनुयायियों का यह कथन है कि गौडपाद कारिका के पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ भाषा तथा भाव की दृष्टि से आद्यन्त माध्यमिक दर्शन के विचारों से प्रभावित है। इसमें आत्मा को सत्, असत्, सदसदुभयात्मक तथा सदसद्विलक्षण इन चारों कोटियों से विनिर्मुक्त माना गया।[1] गौड़पाद से बहुत पहले नागार्जुन ने भी शून्य को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त माना था।[2] अतएव इन आलोचकों के मत में शून्यवादी बौद्धों का शून्य तत्व तथा गौड़पाद का आत्मतत्त्व प्रायः एक ही प्रकार का है। इसलिये इन्होंने शांकर मत को बौद्ध शून्यवाद का औपनिषद संस्करणमात्र स्वीकार किया है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार

---

१ अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः। (गौ० का०)

२. न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ (मा० का०)

करने पर उपर्युक्त मत सर्वथा असंगत एवं अयुक्तियुक्त सिद्ध होता है। शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में बौद्धों के शून्यवाद का प्रबल युक्तियों के आधार पर खण्डन किया है। उनका कथन है कि आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है। इसके संबंध में किसी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती। किसी भी पुरुष को अपने अस्तित्व के संबंध में सन्देह नहीं होता। सभी अपने अस्तित्व को स्वीकार करते है।[1] संसार की अन्य वस्तुओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी को भले ही संदेह हो किन्तु अपने अस्तित्व के संबंध में किसी को संदेह नहीं होता। संदेह ही संदेह करने वाले की सत्ता को सिद्ध कर देता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने आत्मा की सत्ता को स्वयंसिद्ध स्वीकार किया है। शून्यवाद के संबंध में उनका यह विचार है कि यह मत सभी प्रमाणों से प्रतिषिद्ध है, अतएव इसके निराकरण के लिए विशेष प्रयास अनावश्यक है।[2]

मण्डन और सुरेश्वर की भिन्नता तथा भामतीप्रस्थान और विवरणप्रस्थान के उद्भव पर इनके विचारों का प्रभाव

वेदान्त दर्शन के इतिहास में यह किवदन्ती प्रसिद्ध है कि सुरेश्वर का गृहस्थाश्रम का नाम मण्डन मिश्र था। सुरेश्वर पहले कुमारिल के शिष्य थे। ये कर्मवादी मीमांसक थे शंकराचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित होने पर ये उनके शिष्य बन गये और तब उनका नाम सुरेश्वर पड़ा। इस किवंदन्ती के अनुसार मण्डन के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ सुरेश्वर द्वारा गृहस्थाश्रम में रचे गये थे। कर्नल जी० ए० जैकोब ने भी "नैष्कर्म्यसिद्धि" के द्वितीय संस्करण में मण्डन और सुरेश्वर की एकता को स्वीकार किया है मण्डन और सुरेश्वर का यह अभेदवाद विद्यारण्य के शंकर दिग्विजय की पूर्वोक्त किवदन्ती के आधार पर है। इसी कारण इतने दिनों तक यह मत पण्डित समाज में प्रामाणिक माना जाता रहा। परन्तु आजकल इस मत को प्रामाणिक नहीं माना जाता। महामहोपाध्याय कुप्पु स्वामी ने ब्रह्मसिद्धि की भूमिका में अनेक युक्तियों के आधार पर मण्डन और सुरेश्वर की भिन्नता को प्रदर्शित किया है। उनका कथन है कि मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि मे जो विचार प्रकट किये हैं वे सुरेश्वराचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के मौलिक सिद्धांतों के विरुद्ध है। अतएव मण्डन और सुरेश्वर को एक नहीं माना जा सकता। यद्यपि मण्डन और सुरेश्वर दोनों ही "अद्वैतवाद" को स्वीकार करते हैं, तथापि "अद्वैत" के स्वरूप के सम्बन्ध में इनमें परस्पर मतभेद है। मण्डन "भावाद्वैत" के समर्थक

---

१. सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति। (ब्र० सू० शां० भा० १।१।१)

२. शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते। (२।२।३१ शां० भा०)

जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। ज्ञान से अज्ञान के दूर होते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। बंधन का कारण देहादि नहीं, अपितु देहादि में अहंत्व की भावना ही है। इसलिये आत्मज्ञान के उदित होते ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। किन्तु अज्ञान के दूर हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने तक देहादि अवस्थित रहते हैं। क्योंकि ज्ञान के द्वारा संचित कर्मों का ही क्षय होता है, प्रारब्ध कर्मों का नहीं। प्रारब्ध कर्मों का क्षय तो फलोपभोग से ही सम्भव है। प्रारब्ध कर्मों के फलोपभोग के लिये जीवन्मुक्त को अनेक नये-नये शरीर भी धारण करने पड़ते हैं। अपान्तरतम, वसिष्ठ, सनत्कुमार, दक्ष, नारद आदि जीवन्मुक्त पुरुषों को भी प्रारब्ध कर्मों के फलोपभोग के लिये नवीन शरीर धारण करने पड़े थे। किन्तु शरीर धारण करने पर भी मुक्ति में कोई अन्तर नहीं आने पाता। सुरेश्वर कहते हैं कि जीवन्मुक्त के लिये शरीर धारण करने या न करने में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि मनुष्य के बन्धन का कारण अविद्या ही है, शरीर नहीं। इस प्रकार उन्होंने शंकर द्वारा प्रतिपादित जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का भलीभाँति समर्थन किया है। किन्तु इसके विपरीत मण्डन मिश्र जीवन्मुक्ति के सिद्धांत को नहीं मानते।

शंकराचार्य के प्रति मण्डन और सुरेश्वर की भावनाओं में भी महान् अन्तर दीख पड़ता है। मण्डन मिश्र शंकराचार्य को एक प्रतिद्वन्द्वी विचारक के रूप में मानते हुए उनके सिद्धान्तों से स्थान-स्थान पर अपना मतभेद प्रदर्शित करते हैं। किन्तु इसके विपरीत सुरेश्वर शंकराचार्य को अपने परम आराध्य गुरु के रूप में मानते हैं और कहीं भी उनसे अपना मतभेद प्रदर्शित नहीं करते। मण्डन की ब्रह्मसिद्धि का आधार प्रस्थानत्रयी है, जबकि सुरेश्वर के सभी ग्रन्थ शंकराचार्य के भाष्यों पर ही आधारित हैं। मण्डन अपने सिद्धांत के समर्थन में शंकर को कहीं भी प्रमाणरूप से प्रस्तुत नहीं करते। मण्डन ने गौड़पाद को भी केवल एक बार ही उद्धृत किया है। ब्रह्मसिद्धि में गौड़पाद की माण्डूक्य-कारिका का केवल एक श्लोक उद्धृत किया गया है। अपने मत के समर्थन में मण्डन मिश्र भर्तृहरि का उद्धरण अधिक देते हैं। इसके विपरीत सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थों में शंकराचार्य के भाष्यग्रन्थों से स्थान-स्थान पर उद्धरण देते हुये अपने पक्ष का समर्थन किया है। शंकराचार्य के प्रति मण्डन और सुरेश्वर की भावनाओं का यह स्पष्ट अन्तर भी इस मत का समर्थक है कि ये दोनों अभिन्न व्यक्ति नहीं हैं।

प्राचीन काल में भी मण्डन और सुरेश्वर की एकता के सम्बन्ध में विद्वानों को शंका थी। अनेक विद्वानों ने तो इन दोनों की भिन्नता को स्पष्ट शब्दों

में स्वीकार भी किया है। सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरक में मण्डनप्रस्थान को शंकरप्रस्थान से भिन्न बतलाया है।[1] संक्षेपशारीरक के टीकाकारों ने भी मण्डनप्रस्थान को शंकरप्रस्थान से भिन्न माना है जबकि सुरेश्वर को शंकर का अनुयायी बतलाया है।[2] प्रकाशात्मयति ने अपने पंचपादिकाविवरण तथा शब्दनिर्णय नामक ग्रंथों में पद्मपाद तथा सुरेश्वर के विचारों का समर्थन किया है जबकि मण्डन मिश्र के विचारों की कटु आलोचना की है।[3] आनन्दबोध ने न्यायमकरन्द में अनेक स्थलों पर ब्रह्मसिद्धि को उद्धृत किया है। उन्होंने मण्डन के कुछ विचारों का समर्थन भी किया है, किन्तु जहाँ उन्हें सुरेश्वर के विचार युक्तियुक्त प्रतीत हुए वहाँ मण्डन के विचारों की आलोचना की है।[4] चित्सुखाचार्य ने न्यायमकरन्द की टीका में मूल ग्रन्थ में उद्धृत सभी पंक्तियों का प्रसंग बतलाया है, किन्तु कहीं भी ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मिश्र तथा वार्तिककार सुरेश्वराचार्य की एकता का संकेत नहीं दिया। इसके विपरीत चित्सुखाचार्यरचित ''तत्त्वदीपिका'' की टीका में प्रत्यक्स्वरूप ने मण्डन मिश्र को सुरेश्वर से भिन्न माना है।[5] आनन्दानुभव ने न्यायरत्नदीपावली में सुरेश्वर और मण्डन को भिन्न बतलाया है। आनन्दगिरि ने भी जिन्होंने कि न्यायरत्नदीपावली तथा सुरेश्वर के वार्तिकों पर टीका लिखी है, सुरेश्वर और मण्डन के भेद को स्वीकार किया है और यह कहा है कि सुरेश्वर ने मण्डन के प्रसंख्यानसम्बन्धी विचारों का खण्डन किया है। कल्पतरुकार अमलानन्द ने भी मण्डन और सुरेश्वर के भेद को स्वीकार किया है।[6] विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में सुरेश्वर को विश्वरूपाचार्य

---

१. जीवन्मुक्तिगतो यदाह भगवान् सत्संप्रदायप्रभुः
जीवाज्ञानवचस्तदीदृगुचितं पूर्वापरालोचनात्।
अन्यत्रापि तथा बहुश्रुतवचः पूर्वापरालोचना-
न्नेतव्यं परिहृत्य मण्डनवचस्तद्ध्यन्यथाप्रस्थितम्॥
—(सं० शा० श्लोक १७४)

२. विश्ववेदकृत टीका सिद्धान्तदीप—मण्डनमिश्रस्य तु प्रस्थानान्तरत्वात्तदीयं वचो यथाश्रुतमेवास्तु। (Govt. Ori. Mss. Lib., Madras Ms. R. No 1558) वेदानन्दकृत टीका संबन्धोक्ति—अयमेव न्यायो वार्तिकादिषु नेतव्यः, परिहृत्य मण्डनवचः, तस्यान्यथाप्रस्थितत्वात्। (वही, Ms. R. No. 2919)

३. पं० पा० वि०, पृ० १०५ तथा शब्दनिर्णय श्लोक ७१।

४. न्यायमकरन्द, पृ० ३२३।

५. नयनप्रसादिनी टीका पृ० ३३३ तथा ३४०।

६. वे० क० पृ० ९२१।

के नाम से उद्धृत किया है तथा मण्डन को ब्रह्मसिद्धिकार के रूप में उससे भिन्न व्यक्ति माना है।[१] अप्पयदीक्षित ने वार्तिककार और ब्रह्मसिद्धिकार को वार्तिक और ब्रह्मसिद्धि के लेखक के रूप में अलग-अलग माना है।[२] मधुसूदन सरस्वती और ब्रह्मानन्द सरस्वती भी मण्डन और सुरेश्वर को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्नलक्षण, लघुचन्द्रिका तथा गुरुचन्द्रिका में मण्डन के विचारों को जिस रूप में उपस्थित किया गया है, उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है।[३] ज्ञानामृत ने सुरेश्वर की नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका 'विद्यासुरभि' में मण्डन के प्रसंख्यान सम्बन्धी विचारों का खण्डन किया है और यह सिद्ध किया है कि शाब्दबोध ब्रह्मसाक्षात्कार में समर्थ है। इसी प्रसंग में ज्ञानामृत ने मण्डन को मीमांसक बतलाया है और कहा है कि ब्रह्मसिद्धि में मण्डन ने जिस अद्वैतसंप्रदाय का प्रवर्तन किया है वह सत्सम्प्रदाय नहीं अपितु सुरेश्वर का सम्प्रदाय ही शंकराचार्य के सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण सत्संप्रदाय है।[४]

मंडन और सुरेश्वर के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मंडन और सुरेश्वर अभिन्न व्यक्ति नहीं हैं। ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। सुरेश्वर अपने गुरु शंकराचार्य के परम भक्त हैं और उन्होंने अपने ग्रन्थों मे अपने गुरु के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का पूर्णरूप से समर्थन किया है। इसके विपरीत मण्डन ने अनेक विषयों पर शंकराचार्य से अपना मतभेद प्रकट किया है। इन्होंने अपनी ब्रह्मसिद्धि में एक नई विचारधारा का प्रवर्तन किया है। मंडन द्वारा प्रवर्तित इस विचारधारा से भामतीकार वाचस्पति मिश्र अत्यधिक प्रभावित हुये। इन्होंने भामती में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर मंडन के विचारकों का समर्थन किया। परिणामस्वरूप अद्वैतवेदान्त में एक नये प्रस्थान का जन्म हुआ जो भामती की विचारसरणि का अनुसरण करने के कारण भामती प्रस्थान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार मंडन-मिश्र के द्वारा प्रवर्तित विचारधारा ने भामतीप्रस्थान के उद्भव और विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसके विपरीत पद्मपाद तथा सुरेश्वर के विचारों से प्रभावित होकर प्रकाशात्मयति ने एक दूसरी विचारधारा को जन्म

---

१. वि० प्र० सं०, पृ० ९२ तथा २२४
२. सि० ले० सं० पृ० ४१८ तथा ४९८
३. अद्वैतसिद्धि पृ० ३१८, अद्वैतरत्नरक्षण, पृ० २१ लघुचन्द्रिका पृ० ३२९, गुरुचन्द्रिका, पृ० ४८४।
४. Govt. Ori. Mss. Lib. Madras, Ms. R. No. 3354, Pp. 350-51

दिया जो आगे चलकर पंचपादिकाविवरण के नाम पर विवरण प्रस्थान के नाम से विख्यात हुई ।

भामतीप्रस्थान तथा विवरणप्रस्थान के प्रमुख ग्रन्थ

(क) भामतीप्रस्थान के प्रमुख ग्रंथ :

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र का नाम भारतीय दर्शन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने के योग्य है। वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों पर इनके पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। सांख्यकारिका पर सांख्य-तत्त्वकौमुदी, योगसूत्र के पातंजलभाष्य पर तत्त्ववैशारदी, न्यायवार्तिक पर न्याय-वार्तिकतात्पर्यटीका तथा विधिविवेक पर न्यायकणिका इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वेदान्तशास्त्र में भी इनके दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक है शंकराचार्य के शारीरक भाष्य पर भामतीटीका तथा दूसरा है मंडन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि पर ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा। ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। इस ग्रन्थ के उपलब्ध हो जाने पर वाचस्पति मिश्र के वेदान्त सम्बन्धी सिद्धान्तों पर और अधिक प्रकाश पड़ सकेगा। किन्तु जबतक यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो जाता तबतक हमें वाचस्पति के वेदान्तविषयक सिद्धान्तों को समझने के लिए उनकी भामती पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। आफ्रेट (Aufrecht) ने वाचस्पति के तत्त्वबिन्दु को भी वेदान्तविषयक ग्रन्थ माना है। किन्तु उनका यह विचार संगत नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ में व्याकरण के स्फोटवाद का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन है और वेदान्त से इसका सम्बन्धविशेष नहीं है। अतएव वर्तमानकाल में एकमात्र भामती ही वाचस्पति मिश्र का वेदान्त विषयक ग्रन्थ उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है कि अपनी सहधर्मिणी "भामती" के नाम को अमरत्व प्रदान करने के उद्देश्य से ही वाचस्पति मिश्र ने अपने इस ग्रन्थ का नाम "भामती" रखा था। यह ग्रन्थ अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है तथा वाचस्पति-मिश्र की सर्वतोगामिनी प्रतिभा के सर्वथा अनुरूप है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने न्यायकणिका, तत्त्वसमीक्षा, तत्त्वबिन्दु तथा न्याय, सांख्य व योग पर लिखे गये अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इससे सूचित होता है कि यह उनका अन्तिम ग्रन्थ रहा होगा। इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि यह ग्रन्थ नृग राजा के शासन काल में लिखा गया था किन्तु ग्रन्थ में उल्लिखित नृग राजा के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है।

भामती वाचस्पति मिश्र की सर्वोत्तम कृति है। इसकी अपनी विशेषताएँ एवं मान्यताएँ हैं। इसकी विचारधारा एवं विचारपद्धति के अन्तर्गत ग्रन्थ भामती प्रस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। भामती पर अनेक टीकाग्रन्थ लिखे गये। इनमें

सबसे प्राचीन एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'वेदान्तकल्पतरु'; जो अनुभवानन्द के शिष्य अमलानन्द (१२४७-१२६०) द्वारा रचित है। वेदान्तकल्पतरु पर अप्पयदीक्षित ने (१६०० ई० के लगभग) वेदान्तकल्पतरुपरिमल नामक टीकाग्रन्थ की रचना की। लक्ष्मीनृसिंह ने भी १७वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वेदान्तकल्पतरु पर आभोग नामक टीका लिखी। ये कोण्डभट्ट के पुत्र तथा रंगोजीभट्ट के पौत्र थे। आभोग पर वेदान्तकल्पतरुपरिमल के विचारों की छाप स्पष्टतया दृष्टिगत होती है। किन्तु इसके साथ ही अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर इनमें पर्याप्त मतभेद भी दीख पड़ता है। वैद्यनाथपयगुण्ड ने भी वेदान्तकल्पतरुमंजरी नामक एक टीकाग्रन्थ की रचना की थी। वेदान्तकल्पतरु पर लिखी गई इन टीकाओं के अतिरिक्त भामती पर भी भामतीतिलक, भामतीविलास आदि अनेक ग्रंथों की रचना हुई। भामतीतिलक, भामती पर अल्लाल रचित टीका ग्रन्थ है। अल्लाल, नाम से दाक्षिणात्य प्रतीत होते हैं। इनके पिता का नाम त्रिविक्रमाचार्य तथा माता का नाम नागमाम्बा था। कल्पतरुकार अमलानन्द ने शास्त्रदर्पण नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ की भी रचना की थी। इस ग्रन्थ में ब्रह्मसूत्र के विभिन्न अधिकरणों के भावों को वाचस्पति के मतानुसार सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है। वाचस्पति के मत का प्रकाशन ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। चौदहवीं शताब्दी में आनन्दगिरि के शिष्य अखण्डानन्द (१३५० ई०) ने भामती के ऊपर ऋजुप्रकाशिका नामक एक टीका की रचना की थी। पंचपादिका-विवरण के ऊपर लिखा गया इनका तत्त्वदीपन नामक ग्रन्थ भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस प्रकार इन्होंने भामती और विवरण दोनों पर ही उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की थी।

(ख) विवरणप्रस्थान के प्रमुख ग्रंथ

पद्मपाचार्य द्वारा रचित पंचपादिका के ऊपर प्रकाशात्मयति के पंचपादिका-विवरण नामक ग्रन्थ के आधार पर विवरणप्रस्थान का नामकरण हुआ है। पंचपादिकाविवरण पंचपादिका पर लिखी गयी एक अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण टीका है। इसमें अनेक मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ की अपनी विशेष विचारपद्धति है। इस पद्धति का अनुसरण करने वाले ग्रन्थ विवरण प्रस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं।

पंचपादिका आजकल चतुःसूत्री पर्यन्त ही उपलब्ध है। किन्तु ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य से यह सूचित होता है कि यह ग्रन्थ मूल रूप में इसके आगे भी लिखा गया था। विभिन्न विषयों पर विचार करते समय यह बात बार-बार दुहराई गयी है कि इस विषय पर आगे विस्तार से विचार किया जायगा, अतः इस

समय अधिक कहना अनावश्यक है। उदाहरणार्थ बौद्धों के अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व के सिद्धान्त के खण्डन के प्रसंग में पंचपादिका के प्रथम वर्णक में यह बात कही गयी है क्योंकि इस प्रश्न पर सुगत मत की परीक्षा के समय विशेष रूप से विचार किया जाना है, अतः यहाँ अधिक विचार अनावश्यक है। बौद्धमत की परीक्षा ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद (तर्क पाद) में की गयी है। इससे यह स्पष्ट है कि पंचपादिका में कम से कम प्रथम छह पादों की टीका की गयी थी। अतएव ग्रन्थ के नाम के आधार पर कुछ विद्वानों का जो यह मत है कि इस ग्रन्थ में पाँच पादों की टीका होने से ग्रन्थ का नाम पंच-पादिका रखा गया था, यह मान्य प्रतीत नहीं होता। इस सम्बन्ध में मद्रास गवर्नमेंन्ट ओरियेन्टल सीरीज में प्रकाशित पंचपादिका तथा पंचपादिकाविवरण की भूमिका में श्रीराम शास्त्री का यह कथन है कि ग्रन्थ का नाम 'पंचपादिका' संभवतः इसलिए रखा गया था कि इसमें शारीरक भाष्य की टीका पाँच पादों या भागों में विभक्त थी। टीका के पाँच भाग ये हैं—(१) पदच्छेद (२) पदार्थोक्ति (३) विग्रह (४) वाक्ययोजना तथा (५) आक्षेप का समाधान। इन पाँच भागों में विभक्त होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम पंचपादिका पड़ा। ग्रन्थ के पाँच भागों को पद्मपादाचार्य ने "पदादिवृन्तभारेण" इस श्लोक में प्रयुक्त पदादि पद के द्वारा सूचित किया है। तत्त्वदीपनकार तथा ऋजुविवरणकार दोनों ने पदादिपद के द्वारा पूर्वोक्त पाँच भागों को ही सूचित माना है। पंचपादिका की टीका प्रबोधपरिशोधिनी में आत्मस्वरूप ने तथा तात्पर्यार्थद्योतिनी में विज्ञानात्मा ने भी पदादि पद के द्वारा उन्हीं पाँच भागों का प्रतिपादन माना है। अतएव पदच्छेदादिरूप व्याख्यान के पाँच भागों से युक्त होने के कारण ग्रन्थ का नाम पंचपादिका हो सकता है। यद्यपि व्याख्यान के उपर्युक्त पाँच भाग अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं तथापि योगरूढ़ि के द्वारा "पंचपादिका"—यह नाम पद्मपादाचार्य द्वारा प्रणीत शारीरक भाष्य की टीका के लिए ही प्रसिद्ध है। पंचपादिका इस नाम के सम्बन्ध में श्रीराम शास्त्री ने एक दूसरी संभावना भी प्रदर्शित की है। वे कहते हैं कि विस्तारार्थक "पंचि" धातु से निष्पन्न पंच शब्द का अर्थ है विस्तृत तथा ज्ञानापरपर्यायगत्यर्थक "पद्ल" धातु से निष्पन्न पाद शब्द का अर्थ है—ज्ञान। इस प्रकार पंचपादिका का अर्थ हुआ 'वह ग्रन्थ जिसमें विस्तार से भाष्यार्थ का प्रतिपादन किया गया है'। अतएव "पंचपादिका" इस नाम के आधार पर ग्रन्थ को प्रथम पाँच पादों तक ही सीमित मानना उचित नहीं है। उन्होंने ग्रन्थ के भूमिका-भाग में अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यह ग्रन्थ समग्र शारीरक भाष्य पर लिखा गया था। मद्रास की राजकीय हस्तलिखित ग्रंथशाला में देवनागरी लिपि में

लिखा हुआ आज भी एक ग्रन्थ उपलब्ध है जिसमें "ईक्षत्यधिकरण" के कुछ भाग तक पञ्चपादिका का व्याख्यान मिलता है। भामतीकार तथा कल्पतरुकार के समय पंचपादिका का चतुःसूत्री से आगे का भाग भी उपलब्ध था। भामती के वैश्वानराधिकरण (१।२।२६) तथा दहराधिकरण (१।३।१७) में पंचपादिका-कार के मत का खण्डन किया गया है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इन अधिकरणों में जिस मत का खण्डन किया है वह पंचपादिकाकार का ही मत है, यह बात कल्पतरुकार ने स्पष्ट रूप से कही है। इससे यह स्पष्ट है कि भामती-कार तथा कल्पतरुकार दोनों ने ही पंचपादिकाकार का वैश्वानराधिकरण तथा दहराधिकरण का व्याख्यान देखा था। अतएव इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि पंचपादिका टीका चतुःसूत्री भाग के आगे भी लिखी गई थी। संभवतः यह ग्रन्थ सम्पूर्ण शारीरकभाष्य पर लिखा गया था।

पंचपादिका के ऊपर अनेक टीकाओं की रचना हुई। आत्मस्वरूप ने इस पर प्रबोधपरिशोधिनी तथा विज्ञानात्मा ने तात्पर्यार्थद्योतिनी नामक टीकाओं की रचना की। इन टीकाओं को पंचपादिका के मूल भाग के सहित श्रीराम शास्त्री ने मद्रास से प्रकाशित किया है। पंचपादिका के गूढ़ार्थ को समझने के लिये ये टीकाएँ अत्यन्त उपयोगी हैं। इन टीकाओं के अतिरिक्त विद्यासागर ने पंच-पादिका टीका तथा अमलानन्द ने पंचपादिकादर्पण नामक ग्रन्थों की रचना की। किन्तु पंचपादिका पर लिखी गई इन सभी टीकाओं से अधिक प्रसिद्ध टीका प्रकाशात्मयति (१२०० ई०) द्वारा रचित पंचपादिकाविवरण नामक टीका है। इसमें अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं और एक नवीन विचारपद्धति का प्रवर्तन किया गया है। इस विचारपद्धति के अन्तर्गत ग्रन्थों को "विवरणप्रस्थान" के नाम से पुकारा जाता है। जनार्दन के पुत्र विष्णुभट्टोपाध्याय ने पंचपादिकाविवरण पर ऋजुविवरण नामक टीका लिखी। एक जनश्रुति के अनुसार जनार्दन ही संन्यासाश्रम में आनन्दगिरि के नाम से विख्यात हुए थे। ये संभवतः गुजरात के रहने वाले थे और तेरहवीं शताब्दी के मध्य में हुए थे। म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री ने अपने नवटीकोपेत शांकर-भाष्य में इस टीका को प्रकाशित किया है। पंचपादिकाविवरण पर चित्सुखाचार्य द्वारा रचित विवरणतात्पर्यदीपिका तथा नृसिंहाश्रमाचार्य कृत विवरणभाव-प्रकाशिका नामक टीकाओं को श्रीराम शास्त्री ने पंचपादिका तथा पंचपादिका-विवरण के साथ मद्रास से प्रकाशित किया है। आनन्दगिरि के शिष्य अखण्डानंद ने पंचपादिकाविवरण पर "तत्त्वदीपन" की रचना की। इसमें विवरण के गूढ़ार्थ को प्रकाशित किया गया है। विद्यारण्य ने पंचपादिकाविवरण में प्रतिपादित प्रमेयों को विवरणप्रमेयसंग्रह नामक ग्रन्थ में संगृहीत किया है।

विवरणप्रस्थान के प्रमेयपक्ष के सम्यगवबोध के लिये यह ग्रन्थ नितांत उपादेय है। गोविन्दानन्द के शिष्य रामानन्द सरस्वती द्वारा रचित विवरणोपन्यास नामक ग्रन्थ भी विवरणमत को समझने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। गोविन्दानन्द ने भी शारीरक भाष्य की टीका 'रत्नप्रभा' में विवरण मत को ही स्वीकार किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त विद्यारण्य की पंचदशी, श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य, धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्तपरिभाषा आदि ग्रंथों में भी विवरण की विचार-सरणि का ही अनुसरण किया गया है।

भामतीप्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान के प्रमुख ग्रन्थों का यही संक्षिप्त परिचय है।

—सत्यदेव

■

ब्रह्म

ब्रह्म की अद्वितीयता एवं देहादि प्रपञ्च की अध्यस्तरूपता

अद्वैत वेदान्त के अनुसार अशेषविशेषप्रत्यनीक चिन्मात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत् है। तदतिरिक्त ज्ञातृज्ञेयज्ञानरूप नामरूपात्मक प्रपंच उसमें ही परिकल्पित होने के कारण मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है। श्रुतियों में एक अद्वितीय ब्रह्म को ही सत् बतलाया गया है।[1] उसे सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य माना गया है।[2] ब्रह्म से अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के सत् न होने से वह सजातीय तथा विजातीय भेद से रहित है। ब्रह्म में स्वगत भेद भी नहीं है। "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है"[3] इस ब्रह्म के स्वरूपलक्षण में प्रयुक्त सत्य ज्ञान और अनन्त पद ब्रह्म के गुणों के प्रतिपादक नहीं हैं; क्योंकि सामानाधिकरण्य से इन पदों के द्वारा एकार्थता एवं अखण्डार्थता का ही बोध होता है। इस प्रकार यदि शंका हो कि अनेक गुणों से विशिष्ट वस्तु के अभिधान में भी एकार्थता संभव है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि विशेषण के भेद से अर्थ का भेद अनिवार्य है और अर्थ का भेद होने पर एकार्थता संभव नहीं है।[4] यदि शंका हो कि सत्य ज्ञान आदि पदों से गुण का ग्रहण न माना जाय तो इन पदों को पर्यायवाचक मानना पड़ेगा; क्योंकि इन पदों से किसी विशेष अर्थ का बोध नहीं होगा, तो यह भी युक्त नहीं है; क्योंकि पदों के एकार्थक होने पर भी उनका अपर्यायत्व संभव है। सत्यादि पदों के द्वारा किन्हीं विशेष गुणों या धर्मों का प्रतिपादन अभीष्ट नहीं है, अपितु इनके द्वारा अपने विरोधी असत्य आदि धर्मों का निवारण ही अभीष्ट है।[5] सत्य पद असत्य का, ज्ञान पद अज्ञान का तथा अनन्त

---

१. एकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य उ०, ६।२।१
२. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, पृ० १८९–९०
३. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तै० उ०, २।१।१
४. ननु सत्यज्ञानादिशब्दानां भिन्नार्थत्वे कथमखण्डैकरसे वृत्तिः ? एकार्थत्वे पुनरुक्तिप्रसंगः (वि० प्र० सं०, पृ० ७४९)
५. तात्पर्येण प्रतिपाद्यस्यैकत्वेऽपि व्यावर्त्यानामसत्यजडादीनामनिर्वचनीयानामनेकत्वात्। (वही)

पद सान्त का निवारक है। ब्रह्म के असत्य, अज्ञान तथा सान्त से रहितत्व का प्रतिपादन ही "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस ब्रह्मस्वरूपावबोधिका श्रुति का तात्पर्य है। सत्यपद ब्रह्म को असत्य, विकारास्पद नामरूपात्मक प्रपंच से व्यावृत्त करता है। ज्ञानपद स्वयंप्रकाशब्रह्म को अन्याधीनप्रकाश जड़ वस्तु से व्यावृत्त करता है। तथा अनन्त पद दिग्देशकालावच्छिन्न वस्तु से ब्रह्म का व्यावर्तक है। यह व्यावृत्ति भी ब्रह्म का भावरूप या अभावरूप धर्म नहीं है, अपितु यह ब्रह्मरूप ही है। जैसे शौक्ल्यादि से कार्ष्ण्यादि की व्यावृत्ति तत्तत्पदार्थ का स्वरूप ही है, धर्मान्तर नहीं, वैसे ही सत्यादि पद सकलेतर पदार्थों के विरोधी ब्रह्म के स्वरूप के ही प्रतिपादक हैं, धर्मों के प्रतिपादक नहीं। और जैसे "प्रकृष्ट प्रकाश वाला चन्द्रमा" इस चन्द्रमा के लक्षणवाक्य में प्रयुक्त प्रकृष्ट, प्रकाश तथा चन्द्रमा—इन तीनों शब्दों से एक ही अर्थ सिद्ध होता है, वैसे ही प्रकृत में भी सत्य, ज्ञान और अनन्त इन पदों से एक ही अर्थ की सिद्धि होती है।[1] चन्द्र के लक्षण वाक्य में प्रयुक्त प्रकाशपद प्रकाशत्व सामान्य को कहता हुआ लक्षणा के द्वारा व्यक्ति विशेष का बोधक हो जाता है और प्रकृष्ट शब्द प्रकर्ष गुण का बोध कराता हुआ लक्षणा से प्रकाशविशेष का बोध कराता है। इनमें गुण तथा सामान्य ये दो चन्द्रपद के अभिधेय अर्थ नहीं हैं, इसलिये इन दोनों का त्याग कर उसमें रहनेवाले प्रकाशविशेष का ही चन्द्रपद के अभिधेय अर्थ के रूपमें समर्पण किया जाता है, इसलिये प्रकृष्ट प्रकाश तथा चन्द्र इन तीनों पदों की एकार्थता सिद्ध होती है।[2] इन पदों की एकार्थता होते हुए भी निरर्थकता की शंका युक्त नहीं, क्योंकि प्रकाश-

---

१. कश्चन्द्र इति प्रश्नोत्तरे "प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः" इति वाक्ये प्रकृष्टप्रकाशशब्दौ प्रकर्षप्रकाशत्वरूपस्वार्थबोधनद्वारा तदाश्रयं बुभुत्सितं वस्तुतश्चन्द्ररूपं व्यक्तिविशेषं लक्षयत इति तत्र प्रकर्षप्रकाशत्ववैशिष्ट्यं न वाक्यार्थज्ञानानुप्रविष्टम्। (वे० क० प०, पृ० ९३)

२. प्रकाशशब्दः सामान्याभिधानमुखेन लक्षणया व्यक्तिविशेषे वर्तते, प्रकृष्टशब्दश्च लक्षणया प्रकर्षगुणाभिधानमुखेन प्रकाशविशेषे वर्तते, तत्र गुणसामान्ययोः चन्द्रपदाभिधेयत्वाभावात् जहल्लक्षणया तदुभयंव्युदस्य तत्समवायिप्रकाशविशेष एव चन्द्रपदाभिधेयता समर्प्यते, इति प्रकृष्टप्रकाशचन्द्रशब्दानामेकार्थवृत्तिता सिद्धा। (पं० पा० वि०, पृ० ७१९)

शून्य मेघादि की व्यावृत्ति के लिए प्रकाशपद की तथा स्वल्पप्रकाशवाले नक्षत्र आदि की व्यावृत्ति के लिए प्रकृष्टपद की उपयोगिता है। इसी प्रकार सत्य, ज्ञान आदि पदों के एकार्थक होते हुए भी इनकी सार्थकता असत्य आदि की व्यावृत्ति के लिए स्वीकार की जाती है, विशेष धर्मों के प्रतिपादन के लिए नहीं। इस तरह सत्य, ज्ञान आदि पदों का एक ही अखण्डार्थ "ब्रह्म" के बोधन में तात्पर्य समझा जाना चाहिये।[1]

यहाँ पर शंका होती है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति में प्रयुक्त सत्यज्ञानादि पदों को स्वार्थविबोधक न मानकर यदि स्वार्थ-विरोधी वस्तु से व्यावृत्तिपरक माना जाय तो सभी पदों में लक्षणा माननी होगी। किन्तु सभी पदों की लक्षणा कहीं नहीं देखी जाती। अतएव सत्यज्ञानादि पदों को स्वार्थबोधक मानना ही उचित है, इतरव्यावृत्ति-परक नहीं।

इस शङ्का के समाधान में यह कहा जा सकता है कि जहाँ मुख्यार्थ का बाध होता है अर्थात् जहाँ मुख्यार्थ को मानने से वाक्य की संगति नहीं लगती वहाँ संगति एवं तात्पर्यबोध के लिये मुख्यार्थ को त्याग कर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है और इसके लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। वाक्यार्थ की संगति होने तथा तात्पर्य का बोध हो जाने पर एक पद में भी लक्षणा नहीं होती। किन्तु वाक्य के तात्पर्य का बोध हो जाने पर उस वाक्यार्थ से अविरोधका स्थापन करने के लिए एक दो या सभी पदों की लक्षणा मानने में भी कोई दोष नहीं है। "गंगायां घोषः" यहाँ गंगा पद तथा घोषपद के वाक्यार्थ में विरोध होने के कारण अविरोध स्थापन के निमित्त गंगापद में लक्षणा मानी जाती है। किन्तु "गंगायां मत्स्याः प्रतिवसन्ति" (गंगा में मछलियाँ रहती हैं) यहाँ विरोध न होने के कारण लक्षणा स्वीकार नहीं की जाती, जबकि "विषं भुङ्क्ष्व" यहाँ दोनों पदों में लक्षणा माननी पड़ती है। इस तरह अर्थ की संगति एवं वाक्य के तात्पर्य में अविरोध स्थापन के हेतु आवश्य-कतानुसार पदों मे लक्षणा मानी जा सकती है। अतएव असदादि की व्यावृत्ति के लिये सत्यज्ञानादि सभी पदों में लक्षणा मानने में कोई दोष नहीं है। इस कारण सत्यज्ञानादि धर्मों के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म में स्वगत भेद की शंका युक्त नहीं है। ब्रह्म से व्यतिरिक्त नामरूपात्मक प्रपंच

---

१. एवं सत्यज्ञानादिवाक्येऽप्यखण्डार्थता योजनीया। (वि० प्र० सं०, पृ० ७९७)

ब्रह्म पर ही अध्यस्त होने से मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है। जीव भी परमार्थतः ब्रह्मरूप ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं। अतएव सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य ब्रह्म ही परमार्थतः सत्य है।

यहाँ यह शंका होती है कि देहेन्द्रियादि प्रपंच के प्रकाशित एवं अनुभूत होने के कारण इसे असत् कैसे माना जा सकता है? इस शंका के समाधान में भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि प्रकाशमानता-मात्र सत्त्व नहीं है जिससे कि देहेन्द्रियादि प्रपंच के प्रकाशित होने के कारण इसे सत् माना जा सके।[१] सत् वह है जो सदैव अबाधित रहे अर्थात् जिसका किसी काल में बाध न हो। इस दृष्टि से देहेन्द्रियादि प्रपञ्च को सत् नहीं माना जा सकता क्योंकि इसका बाध हो जाता है। जाग्रत् अवस्था में जिस नामरूपात्मक प्रपञ्च की प्रतीति होती है, सुषुप्ति में उसका भान नहीं होता। संकल्पविकल्पात्मक मन के समस्त व्यापारों की भी सुषुप्ति में परिसमाप्ति हो जाती है। तुरीयावस्था में तो अहंभाव का भी भान नहीं होता। अतएव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि के सम्बन्ध से प्रतीयमान प्रपञ्च कादाचित्क होने के कारण सत्य नहीं माना जा सकता है। यदि प्रकाशमान होने से ही किसी पदार्थ को सत् मान लिया जाय तो रज्जु आदि के सर्पादिभाव से अथवा स्फटिकादि के रक्तादिगुणयुक्तरूप से प्रकाशित होने के कारण उन्हें भी सत् मानना पड़ेगा।[२] यदि प्रकाशमान होने से ही कोई पदार्थ सत् हो तो मृगमरीचिका में भी जल के प्रकाशित होने से उससे प्यास बुझ सके।[३] अतएव आरोपित वस्तु के प्रकाशमान होने पर भी उसकी वास्तविक सत्ता नहीं मानी जा सकती।[४] जैसे मृगमरीचिका में दीख पड़नेवाला जल न तो सत् है, न असत् और न ही सदसत् अपितु अनिर्वाच्य है, वैसे ही प्रकाशमान देहेन्द्रियादि प्रपञ्च भी सदसद्विलक्षण होने से अनिर्वाच्य एवं मिथ्या है।

---

१. न प्रकाशमानतामात्रं सत्त्वं येन देहेन्द्रियादेः प्रकाशमानतया सत्त्वं भवेत्।
(भामती, पृ० २१)

२. न हि सर्पादिभावेन रज्ज्वादयो वा स्फटिकादयो वा रक्तादिगुणयोगिनो न प्रतिभासन्ते, प्रतिभासमाना वा भवन्ति तदात्मानस्तद्धर्माणो वा।
(भामती, पृ० २१–२२)

३. वही।

४. तस्मादकामेनापि आरोपितस्य प्रकाशमानस्यापि न वस्तुसत्त्वमभ्युपगमनीयम्
(वही)

इसे सत् इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि इसका उत्तरकाल में बाध हो जाता है। सर्वथा असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि इसका भान होता है, सत् और असत् के परस्पर विरोधी होने के कारण इसे सदसत् भी नहीं कह सकते। अतएव प्रतीयमान देहेन्द्रियादि प्रपंच को इन सभी से विलक्षण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या माना जाता है।[1] श्रुतियों में भी प्रपंच के मिथ्यात्व का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। "यह जो कुछ भी है, वह आत्मा है",[2] "यहां कुछ भी नाना नहीं है, जो यहां मिथ्याभूत नानात्व को देखता है वह घोर मृत्यु को प्राप्त होता है",[3] "जहां मिथ्याभूत द्वैत है वहीं कोई अपने से भिन्न को देख पाता है, किन्तु जहां इसके लिए सब कुछ आत्मरूप हो गया तब किससे किसको देख सकता है, किससे किसको जान सकता है",[4] "विकार और नामधेय वाचारम्भण अर्थात् व्यावहारिक है, मृत्तिका ही सत्य है",[5] "सान्ध्यसृष्टि (स्वप्नप्रपञ्च) मायामात्र है, क्योंकि इसका स्वरूप पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं है",[6] "विभेदजनक ज्ञान का आत्यन्तिक नाश हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म का अवास्तविक भेद कौन कर सकेगा",[7] "इस चराचर जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है जो मेरे बिना हो सके"[8] इत्यादि श्रुति स्मृति वाक्यों में ब्रह्म से भिन्न नामरूपात्मक प्रपञ्च के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है। नामरूपात्मक देहेन्द्रियादि प्रपञ्च त्रिकालाबाधित न होने के कारण मिथ्या है। सत् वही है जो त्रिकालाबाधित हो। किन्तु जो प्रतीयमान तो हो किन्तु यथावस्थित वस्तु के ज्ञान से निवृत्त हो जाये वह सत् नहीं अपितु मिथ्या है। जैसे रज्जु में प्रतिभासित सर्प अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत्त हो जाने के कारण मिथ्या माना जाता है।[9] इस दृष्टि से विचार करने

१. एवं च देहेन्द्रियादिप्रपञ्चोऽप्यनिर्वाच्यः। (भामती, पृ० २५)
२. इदं सर्वं यदयमात्मा। (बृह० उ० २।४।६)
३. नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। (बृह० उ० ४।४।१९)
४. यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति.... (बृह० उ० २।४।१४)
५. वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छा० उ० ६।१।४)
६. मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। (ब्र० सू० ३।२।३)
७. आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति। (वि० पु० ६।७।९४)
८. न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्। (गीता १०।३९)
९. मिथ्यात्वं नाम प्रतीयमानत्वपूर्वकयथावस्थितवस्तुज्ञाननिवर्त्यत्वम्, यथा रज्ज्वाद्यधिष्ठानकसर्पादिः। (श्रीभाष्य, पृ० ४७)

पर संसार के समस्त पदार्थों में सन्मात्र की ही अनुवृत्ति होने से सन्मात्र ही परमार्थ है तथा विशेषधर्म व्यावर्तमान होने के कारण रज्जुसर्पादि के समान अपरमार्थ हैं।[1] घट है, पट है, घट का अनुभव होता है, पट का अनुभव होता है इत्यादि रूप से समस्त पदार्थ सत्तानुभूति-घटित ही दीख पड़ते हैं। इन सभी अनुभूतियों में सन्मात्र ही अनुवर्तमान होने से परमार्थ है। घटपटादि विशेष तो व्यावृत्त हो जाने के कारण रज्जुसर्पादिवत् अपरमार्थ हैं। इस पर यदि शंका हो कि सन्मात्र भी अनुभूति का विषय होने के कारण अनुभूति से भिन्न है अतः उसको भी अनुभूति के विषय घटपटादि के समान अपरमार्थ मानना होगा तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि सन्मात्र अनुभूति का विषय नहीं है, अपितु अनुभूति स्वरूप है। सत्ता और अनुभूति भिन्न नहीं, अपितु एक हैं। अनुभूतिरूप या संविद्रूप चिदात्मा ही एकमात्र सत्य है क्योंकि वह सभी कालों में अबाधित रहता है। यह स्वयंप्रकाश है, क्योंकि यदि इसे अन्याधीनप्रकाश माना जाय तो यह भी घटादि की तरह अनुभाव्य होने से जड़ हो जायगा।[2] आत्मा की स्वयंप्रकाशता प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्दप्रमाण से सिद्ध है। सुषुप्ति में स्वयंप्रकाश आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। सुषुप्ति से उठने के बाद "मैं सुखपूर्वक सोया" इस प्रकार सुषुप्तिकाल में अनुभूत सुख का स्मरण होता है। सुषुप्तिकाल में सुखानुभव के प्रयोजक किसी चक्षु आदि की वृत्ति के न होने से वहाँ स्वयंप्रकाश आत्मा का सद्भाव मानना ही होगा। अतः सुषुप्तिकालीन प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा की स्वयंप्रकाशता सिद्ध है। आत्मा की स्वयंप्रकाशता निम्नलिखित अनुमान से भी सिद्ध है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, अपने सद्भाव में अतिरिक्त प्रकाश की अपेक्षा न करने से, प्रदीप तथा संवेदन के समान।[3] प्रदीप आदि के समान आत्मा अपने प्रकाश के लिए किसी अतिरिक्त प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता। अतः आत्मा स्वयंप्रकाश है। आत्मा की स्वयंप्रकाशता "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" (सुषुप्ति में पुरुष स्वयंप्रकाश होता है) इस श्रुति से भी सिद्ध है।[4]

---

१. सर्वासु प्रतिपत्तिषु सन्मात्रमनुवर्तमानं दृश्यत इति तदेव परमार्थः, विशेषास्तु व्यावर्तमानतयाऽपरमार्थाः रज्जुसर्पादिवत्। (श्रीभाष्य, पृ० ६०)

२. अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घटः। (तत्त्वप्रदीपिका, पृ० २१)

३. आत्मा स्वप्रकाशः स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकरहितत्वात्, प्रदीपवत् संवेदनवच्च। (वि० प्र० सं०, पृ० ६२७)

४. अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः। (बृह० उ० २।३।९)

आत्मा की स्वयंप्रकाशता के सम्बन्ध में चित्सुखीकार का कथन है कि चिद्रूपत्व, अकर्मत्व, तथा स्वयंज्योतिश्रुति इन तीन हेतुओं से आत्मा की स्वप्रकाशता सिद्ध होती है।[1] आत्मा के चिद्रूप होने से वह स्वयंप्रकाश है। आत्मा की चिद्रूपता आत्मविषयक संशय विपर्यय आदि के अभाव से ही सिद्ध है। यदि आत्मा चिद्रूप या संविद्रूप न होता तो आत्मा के संबंध में संशयादि संभव होता। किन्तु किसी पुरुष को "मैं हूं या नहीं" इस प्रकार का संशय अथवा "मैं नहीं हूं" इस प्रकार का विपर्यय अपने आत्मा के संबंध में नहीं होता।[2] सभी को अपने आत्मा के अस्तित्व का विश्वास है, "मैं नहीं हूँ" यह नहीं। यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध नहीं होता तो सभी लोग "मैं नहीं हूं" ऐसा विश्वास करते।[3] आत्मा के संबंध में संशय या विपर्यय का अभाव तथा इसके अस्तित्व के सम्बन्ध में विश्वास आत्मा के स्वप्रकाशज्ञानरूपत्व के बिना संभव नहीं हैं।[4] "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "प्रज्ञानं ब्रह्म", "ज्ञानघन एव" इत्यादि श्रुतियों से भी आत्मा के संविद्रूपत्व की सिद्धि होती है।[5] आत्मा की स्वयंप्रकाशता "अकर्मत्व" हेतु से भी सिद्ध है। आत्मा में अकर्मत्व को न मानकर यदि ज्ञानकर्मत्व (वेद्यत्व) मानें तो स्वाश्रित ज्ञान की विषयता के कारण कर्मत्व और कर्तृत्व इन दो विरोधी धर्मों की वहाँ प्राप्ति होगी। ज्ञानरूप क्रिया का आश्रय होने से आत्मा कर्त्ता तथा उसी क्रिया से जन्य विषयता रूप फल का आश्रय होने से वह कर्म होगा। अतः कर्तृत्व और कर्मत्व रूप दो विरोधी धर्मों के प्रसंग से आत्मा में कर्मत्व नहीं माना जा सकता।[6] आत्मा ज्ञान का कर्म न हो सकने से संविद्रूप एवं स्वयंप्रकाश सिद्ध होता है क्योंकि ज्ञान से भिन्न पदार्थ का तभी अपरोक्ष होता है जबकि उसमें ज्ञान का कर्मत्व

१. चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः॥ (चित्सुखी, पृ० ३८)

२. न ह्यात्मन्यहमनहं वेति कश्चित् संदिग्धे, नैवाहमिति वा विपर्यस्यति। (चित्सुखी, पृ० ३९)

३. सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। (ब्र० सू० शा० भा० १।१।१)

४. न चैतत्स्वप्रकाशज्ञानरूपतामन्तरेणावकल्पते। (चित्सुखी, पृ०३९)

५. "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "प्रज्ञानं ब्रह्म", "ज्ञानघन एव" त्यादिश्रुतिभिश्चात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धिः। (चित्सुखी, पृ० ४३)

६. चित्सुखी, पृ० ४३।

रहे।[1] अतएव अकर्मत्व हेतु से आत्मा का संविद्रूपत्व तथा स्वयंप्रकाशत्व
सिद्ध होता है। इस प्रकार संविद्रूप आत्मा के स्वयंप्रकात्व की सिद्धि
होती है। स्वयंप्रकाश संवित् नित्य है, क्योंकि इसके अभाव की कल्पना
नहीं की जा सकती। संवित् स्वयं अपने अभाव का सूचक नहीं हो
सकती। संवित् के अभाव का ज्ञान किसी अन्य वस्तु से भी संभव नहीं
है, क्योंकि यह अनन्यगोचर है। स्वयंप्रकाश संवित् के नित्य होने के
कारण इसे नाना नहीं माना जा सकता, क्योंकि कोई भी अनुत्पन्न एवं
नित्य वस्तु नानाभूत नहीं देखी जाती। भेदादि संवित् के विषय हैं अतः
ये उसके धर्म नहीं हो सकते। संवित् के सभी धर्मों से शून्य होने के
कारण इसके आश्रयभूत ज्ञाता की कल्पना नहीं की जा सकती।
स्वयंप्रकाश संवित् ही आत्मा है। "मैं जानता हूँ" यहाँ आत्मा में प्रतीत
होने वाला ज्ञातृत्व धर्म आत्मा का नहीं, अपितु अहंकार का है।
ज्ञातृत्व का अर्थ है ज्ञानक्रिया का कर्तृत्व। क्रिया उत्पत्तिविनाशशील
है। अतः क्रिया का आश्रय भी विकारशील होगा। इसलिए ज्ञातृत्व
आत्मा का धर्म नहीं हो सकता, अपितु यह विक्रियात्मक जड़ अहंकार
का ही धर्म है। सुषुप्ति, मूर्छा आदि की अवस्था में अहंप्रत्यय के अभाव
में भी आत्मा का अनुभव होता है।

यहाँ विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुजाचार्य की ओर से यह शंका
की गई है कि सुषुप्ति, मूर्छा आदि में अहंप्रत्यय का अभाव नहीं होता
क्योंकि सुप्तोत्थित पुरुष को "मैं सुख से सोया" यह अनुभव हुआ करता
है। यह अनुभव ही इस बात में प्रमाण है कि सुषुप्ति दशा में अहंभाव
बना रहता है। यदि कहें कि सुप्तोत्थित पुरुष का यह अनुभव कि "मैंने
अपने को तथा दूसरों को नहीं जाना" इस बात में प्रमाण है कि सुषुप्ति
में अहंप्रत्यय का अभाव था तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इस अनुभव का
सम्बन्ध भी "मैं" के साथ ही है और इस अनुभव में भी "मैं" यह
अनुभव बना ही हुआ है।[2]

---

१. संविद्व्यतिरिक्तस्य संवित्कर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमादात्मनः कर्मत्वाभावे तदनुपपत्तेः। (चित्सुखी, पृ० ४४)

२. एवं सुप्तोत्थितस्य परामर्शः सुखमहमस्वाप्समिति। अनेन प्रत्यवमर्शेन तदानीमप्यहमर्थस्यैवात्मनः सुखित्वं, ज्ञातृत्वं च ज्ञायते। ....अनुवर्तमानस्य ज्ञातुरहमर्थस्य नासिद्धिरनेनैव "न किंचिदहमवेदिष" मिति परामर्शेन साधयंस्त्विममर्थं देवानामेव प्रियः साधयतु। (श्रीभाष्य, पृ० १०६–८)

उपर्युक्त शंका के समाधान में यह कहा जाता है कि "मैं सुख से सोया" इस अनुभव में "मैं" यह आत्मांश है और "सुख से" यह आनन्दांश है। जागरण के होते ही अहंकार का तादात्म्याध्यास हो जाता है, अतः "मैं" इसका परामर्श होता है। वस्तुतः सुषुप्ति में शुद्ध आत्मा के साक्षीस्वरूप का ही अनुभव होता है, अहंकार का नहीं। सुप्तोत्थित पुरुष का यह अनुभव कि "मैंने अपने आपको तथा दूसरे को नहीं जाना" इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि सुषुप्ति में अहंभाव का भान नहीं होता। अतः सुषुप्ति में अहंकार का अभाव मानना उचित है। यहाँ यह शंका ठीक नहीं कि अहंकार के निषेधक अनुभव का सम्बन्ध भी "अहम्" (मैं) से ही है, अतः इस अनुभव से अहम् का निषेध युक्त नहीं; क्योंकि सुषुप्ति में अहंकार का निषेध करने वाले अनुभव का जाग्रत् अवस्था में पुनरुत्पन्न अहंकार के साथ सम्बन्ध हो जाता है। सुषुप्ति में लीन हुआ अहंकार जागने पर पुनः उत्पन्न होता है[1] और उत्पन्न हुआ अहंकार स्मरण के विषय आत्मा को सविकल्पक रूप से स्पष्ट व्यवहार के लिये 'मैं' इस उल्लेख से उपलक्षित करता है।[2] आत्मा का स्पष्ट सविकल्पक उल्लेख ही अहंकारवृत्ति का एकमात्र प्रयोजन है।[3] इसीलिये आत्मा का कभी भी अहमाकारवृत्ति से अतिरिक्त दूसरी अन्तःकरण की वृत्तियों से व्यवहार नहीं होता है।[4] इस सम्बन्ध में नैष्कर्म्यसिद्धि में सुरेश्वराचार्य का कहना है कि आत्मा के प्रत्यक्स्वरूप होने, अतिसूक्ष्म होने तथा आत्मदृष्टिमात्र द्वारा उसका अनुशीलन होने से अन्य घटपटाद्याकारवृत्तियों को छोड़कर केवल अहमाकार वृत्ति से वह उपलक्षित होता है।[5] इस अहंकार की दो अवस्थायें हैं—एक तो आत्मा के साथ व्याप्त रहना और दूसरी विलीन हो जाना। इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त इसकी कोई तीसरी दशा नहीं है।[6] अतएव अहं बुद्धि से ही

---

१. सुषुप्तौ विलीनोऽहंकार; प्रबोधे पुनरुत्पद्यते। (वि० प्र० सं०, पृ० २१०)

२. स चोत्पन्नः परामृश्यमानमात्मानं सविकल्पत्वेन स्पष्टव्यवहारायोपलक्षयति। (वही)

३. एतदेकप्रयोजनत्वादहंकारवृत्तेः। (वि० प्र० सं०, पृ० २१०)

४. अत एवात्मा कदाचिदपि नान्याभिरन्तःकरणवृत्तिभिर्व्यवह्रियते। (वही)

५. प्रत्यक्त्वादतिसूक्ष्मत्वादात्मदृष्ट्यनुशीलनात्। अतो वृत्तीर्विहायान्या ह्यहंवृत्त्योपलक्ष्यते॥ (वही)

६. वही।

आत्मा का सविकल्पक बोध होता है। इसलिये जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में जड़ अहंकार आत्मा के स्वरूप से प्रतिभासित होता है। किन्तु सुषुप्ति में अहंकार का अभाव हो जाता है, इसलिये उस समय अहंभाव का भान नहीं होता है। इस प्रकार सुषुप्ति में अहंकार का अभाव सिद्ध हो जाने से अहंकार को स्वप्रकाश आत्मा का स्वरूप नहीं माना जा सकता।[1]

सुषुप्ति के समान मोक्षावस्था में भी अहंकार का अस्तित्व नहीं रहता। रामानुजाचार्य का यह तर्क कि यदि मोक्षावस्था में "मैं" का ही अभाव हो जाय तो कौन बुद्धिमान् पुरुष उस अवस्था की कामना करेगा क्योंकि कोई भी अपने विनाश की कामना नहीं कर सकता, युक्ति-युक्त नहीं है; क्योंकि अहंकार के विनाश से आत्मा का विनाश नहीं हो जाता। अहंकार के समान आत्मा उत्पत्ति-विनाशशील नहीं है, अपितु वह नित्य, कूटस्थ एवं अविकारी है। अहंकार के नाश से उस उपाधि का ही नाश होता है जिसके कारण अनन्त एवं अनवच्छिन्न आत्मा सान्त एवं अवच्छिन्न-सा प्रतीत होता है। अहंभाव के नष्ट हो जाने से सान्त जीव अनन्त के साथ मिलकर अनन्तरूप हो जाता है और इस प्रकार अपने पारमार्थिक आनन्दस्वरूपता को प्राप्त होता है। इसलिये अहंकार के नाश से आत्मविनाश की शंका समीचीन नहीं है। मोक्षावस्था की प्राप्ति के लिये अहंकार का नाश आवश्यक है, क्योंकि बन्धन का अभाव ही मोक्ष है और अहंकार ही बन्धन का मूल कारण है। अहंकार के तादात्म्याध्यास के माध्यम से ही देहेन्द्रियादि अनात्मा का आत्मा पर अध्यास होता है। इसलिये जब तक बन्धन के मूलकारण अहंकार का विनाश नहीं हो जाता तब तक मोक्ष संभव ही नहीं है। अतएव मोक्षावस्था में भी अहंकार के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सुषुप्ति तथा मोक्ष की अवस्थाओं में अहंकार का विनाश हो जाने से अहंकार को आत्मा नहीं माना जा सकता। यदि आत्मा को अहंप्रत्ययगोचर माना जाय तो देह के समान आत्मा में भी जड़त्व, पराक्त्व तथा अनात्मत्व की प्रसक्ति होगी। अतएव अहमर्थ से विलक्षण साक्षी ही प्रत्यगात्मा है। यह स्वयंप्रकाश आत्मा

---

१. ततो जाग्रत्स्वप्नयोरात्मत्वेन प्रतिभासमानोऽप्ययं जडोऽहंकारः सुषुप्तावभावान्न स्वयंप्रकाशस्यात्मनः स्वरूपमिति श्रुतिस्मृतिकुशलैरभ्युपेयमिति।

(वि० प्र० सं० पृ० २११)

ही ब्रह्म है।[1] सभी कालों में अबाधित रहने के कारण प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत् है।[2] इससे अतिरिक्त समस्त नाम-रूपात्मक प्रपंच इस पर ही अध्यस्त होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है।[3]

अब प्रश्न होता है कि अध्यास किसे कहते हैं और आत्मा पर अनात्मा का अध्यास कैसे होता है? अतः आगे अध्यास के लक्षण तथा उसकी संभावना के प्रश्न पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

●

---

१. अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। (बृ० उ० २।५।१९)

२. अबाधिता स्वयंप्रकाशतैवास्य सत्ता। (भामती, पृ० २५)

३. स्वयंप्रकाशत्वादबाधितमात्मनः सत्त्वं, न दृश्यस्य देहादेः, दृग्दृश्यसंबन्धा-निरूपणात्। (वे० कल्पतरु, पृ० २५)

द्वितीय अध्याय

अध्यास

१. अध्यास का लक्षण

शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में अध्यास का लक्षण इस प्रकार किया है "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः"। "परत्र"—दूसरे स्थान में अर्थात् आरोपणीय वस्तु से भिन्न आरोप के विषय में "पूर्वदृष्ट" आरोपणीय वस्तु का स्मृतिरूप अवभास अध्यास है। अध्यास के इस लक्षण से स्पष्ट है कि अध्यास के लिये एक वस्तु में (जो सत्य है) दूसरी वस्तु का (जो असत्य है, अर्थात् वहां अविद्यमान है) आरोप होता है। इस प्रकार अध्यास "सत्यानृत" के "मिथुनीकरण" का परिणाम है। अध्यास के लक्षण में प्रयुक्त "अवभास" पद का अर्थ है अवसन्नभास अथवा अवमत भास अर्थात् ऐसा भास जिसका उत्तरकाल में प्रत्ययान्तर से बाध हो जाए। इस तरह अवभास पद मिथ्याज्ञान या बाधितज्ञान का सूचक है।[1] इसी तरह अध्यास के लक्षण में प्रयुक्त "पूर्वदृष्ट" पद अनृत आरोपणीय वस्तु का उपस्थापक है। अध्यास के लिये पूर्वकालीन वस्तु का दृष्टत्व मात्र उपयोगी है वस्तुसत्त्व नहीं। इसीलिये "पूर्वदृष्ट" इस पद में दृष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] यद्यपि आरोपणीय वस्तु का दर्शन आरोप के लिये आवश्यक है तथापि उसका वर्तमान दर्शन आरोप में उपयोगी नहीं है। इसलिये यहां 'पूर्व' यह विशेषण दिया गया है।[3] पूर्वदृष्ट वस्तु स्वरूप से सत् होते हुए भी आरोपणीय रूप से अनिर्वाच्य है, इसलिये यह अनृत है।[4] किन्तु मिथ्याज्ञानरूप अध्यास अनृत और सत्य के मिथुनीकरण के बिना संभव नहीं है इसलिये आरोप के विषय का सत्यत्व आवश्यक है। आरोप के विषय के सत्यत्व का प्रतिपादन परत्र इस पद के द्वारा किया गया है।[5] आरोप के विषय के सत्य होने के कारण निरधिष्ठान अध्यास संभव नहीं है।[6] लक्षण वाक्य में "स्मृतिरूपः"

---

१. अवसन्नोऽवमतो वा भासः अवभासः।
प्रत्ययान्तरबाधश्च अवसादोऽवमानो वा।
एतावता मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति। (भामती, पृ० १८)

२. तस्य च दृष्टत्वमात्रमुपयुज्यते न वस्तुसत्तेति दृष्टग्रहणम्। (वही, पृ० १८)

३. तथापि वर्तमानं दृष्टं दर्शनं नारोपोपयोगीति पूर्वेत्युक्तम्। (वही)

४. तत्र पूर्वदृष्टं स्वरूपेण सदप्यारोपणीयतयानिर्वाच्यमित्यनृतम् (वही)

५. आरोपविषयं सत्यमाह—परत्रेति। (वही)

६. तदेवं न क्वचिन्निरधिष्ठानोऽध्यासः (पं० पा० पृ० ६८)

इसलिए स्वप्नज्ञान को भी अध्यास रूप माना जाता है। इसी प्रकार "पीत शंख" "तिक्त गुड़" इत्यादि ज्ञान भी अध्यासरूप है। इसी तरह द्विचन्द्र, दिङ्मोह, अलातचक्र, गन्धर्वनगर, वंशोरग[1] इत्यादि भ्रमस्थलों में भी अध्यास का लक्षण सङ्गत होता है, क्योंकि इन सभी स्थलों में "सत्य में असत्य का आरोप" दृष्टिगत होता है।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अध्यास के लक्षण "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" में प्रयुक्त "स्मृतिरूपः" पद के असंनिहितविषयत्व का बोधक होने से असत् ख्याति से भिन्न समस्त सत्ख्यातियों अर्थात्, अख्याति, आत्मख्याति, अन्यथाख्याति, तथा सत्ख्याति का निवारण हो जाता है।[2] क्योंकि इन सभी ख्यातियों में आरोपणीय वस्तु को सत् तथा संनिहित माना जाता है। भ्रमविषय रजतादिक तादात्म्य से अथवा ताद्धर्म्य से जिसमें रहता है, वही उसका अधिष्ठान होता है।[3] अख्याति तथा अन्यथाख्याति में देशान्तरस्थ वस्तु अधिष्ठान है, आत्मख्याति में ज्ञान, सत्ख्याति में पुरोवर्ती शुक्त्यादिक अधिष्ठान होता है। इन चारों वादों में तत्तदधिष्ठान समसत्ताक सत् रजतादि की ही ख्याति मानी जाती है। अतएव "स्मृतिरूपः" इस पद के द्वारा असन्निधान के सूचित होने से सभी सत्ख्यातिवादों का निवारण हो जाता है।[4]

लक्षणवाक्य में प्रयुक्त "परत्र" इस पद से असत्ख्यातिवाद का निवारण हो जाता है।[5] अवभास पद भी असत्ख्यातिवाद का निवारक है।[6] इस प्रकार शंकराचार्य द्वारा प्रदत्त अध्यास के लक्षण से सत् और

१. एतेन दिङ्मोहालातचक्रगन्धर्वनगरवंशोरगादिविभ्रमेष्वपि यथासंभवं लक्षणं योजनीयम्। (वही)
२. तत्रासंनिधानेनासत्ख्यातिव्यतिरिक्ताख्यात्यादिसकलसत्ख्यातिनिवारणम्।
(वे० क० प०, पृ० १९)
३. भ्रमविषयरजतादिकं तादात्म्येन ताद्धर्म्येण वा यद्गतं तद् अधिष्ठानम्। (वही)
४. तथा चासत्ख्यात्यन्यथाख्यातिमतयोर्देशान्तरस्थमधिष्ठानम्, आत्मख्यातिमते ज्ञानम्, सत्ख्यातिमते पुरोवर्ति शुक्त्यादिकम्, अस्मिन् मतचतुष्टयेऽपि सदेव रजतादिकं तत्तदधिष्ठानसमसत्ताकमित्यसंनिधानविशेषणेन चतुर्विधाप्येषा सत्यख्यातिर्वार्यते। (वे० क० पं, पृ० २०)
५. परत्रेत्यादिपदैरसत्ख्यातिनिरासेन प्रपंचनम्। (वे० क०, पृ० १८)
६. अथवा संनिधानेन सत्ख्यातिरिह वारिता।
अवभासादसत्ख्यातिर्नृभृङ्गे तददर्शनात्॥ (वे० क०, पृ० २०)

असत् इन दोनों से भिन्न अनिर्वचनीय ख्याति का समर्थन होता है। ख्यातियों के सम्बन्ध में क्योंकि विस्तृत रूप से आगे विचार प्रस्तुत किया जाना है इसलिए यहाँ अधिक विचार करना अनावश्यक है। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि अध्यास के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यास के लिए सत्यानृत का मिथुनीकरण तथा आरोप के अधिष्ठान का अज्ञान आवश्यक है। अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि क्या स्वयंप्रकाश चिदात्मा अनात्मा के आरोप का अधिष्ठान बन सकता है और क्या चिदात्मा पर बुद्धयादि का अध्यास सम्भव है?

२. चिदात्मा पर अध्यास की सम्भावना

शारीरकभाष्य के उपोद्घात में शंकराचार्य ने अनात्मा और आत्मा को अन्धकार और प्रकाश के समान अत्यन्त विरुद्धस्वभाव वाला बतलाया है। वे कहते हैं कि अनात्मा युष्मत्प्रत्ययगोचर है जबकि आत्मा अस्मत्प्रत्ययगोचर; अनात्मा विषय एवं जड़ है जबकि आत्मा विषयी एवं चेतन है। इस तरह अनात्मा और आत्मा ये दोनों अन्धकार और प्रकाश के तुल्य अत्यन्त विरुद्धस्वभाव वाले हैं।[१]

इस पर शंका होती है कि यदि आत्मा और अनात्मा को परस्पर विरुद्ध माना जाय तो इनमें इतरेतरभाव कैसे माना जा सकता है।[२] इस शंका के सम्बन्ध में पञ्चपादिकाकार कहते हैं कि अन्धकार और प्रकाश के दृष्टान्त से अनात्मा और आत्मा में सहानवस्थानलक्षण विरोध अभिप्रेत नहीं हो सकता; क्योंकि मन्द प्रकाशवाले गृह में रूप का दर्शन अस्पष्ट रूप से तथा अन्यत्र स्पष्टरूप से होता है।[३] इससे सूचित होता है कि मन्दप्रकाशवाले घर में अन्धकार की भी कुछ स्थिति रहती है।[४] इसी प्रकार छाया में भी तारतम्यरूप से उपलभ्यमान उष्णता वहाँ आतप के भी अवस्थान का सूचक है।[५] अतएव अन्धकार और प्रकाश

१. युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमः प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः। (ब्र० सू० शां० भा० १।१।१)

२. इतरेतरभावानुपपत्ति। (वही)

३. यदि तावत् सहानवस्थानलक्षणो विरोधः ततः प्रकाशाभावे तमसो भावानुपपत्तिः। दृश्यते हि मन्दप्रदीपे वेश्मनि अस्पष्टं रूपदर्शनं इतरत्र च स्पष्टम्। (पं० पा०, पृ० १९)

४. तेन ज्ञायते मन्दप्रदीपे वेश्मनि तमसोऽपि ईषदनुवृत्तिः। (पं० पा० पृ० २०)

५. तथा छायायामपि औष्ण्यं तारतम्येन उपलभ्यमानं आतपस्यापि तत्र अवस्थानं सूचयति। (वही)

का दृष्टान्त अनात्मा और आत्मा में सहानवस्थानलक्षणविरोध का सूचक नहीं माना जा सकता, अपितु यह इनके परस्परानात्मतालक्षण-विरोध का ही सूचक माना जा सकता है।[1] आत्मा और अनात्मा परस्पर विरुद्धस्वभाव वाले हैं, अतः इनका इतरेतरभाव या तादात्म्य सम्भव नहीं है। आत्मा द्रष्टा है और अनात्मा दृश्य है। आत्मा चेतन है और अनात्मा जड़ है। ऐसी अवस्था में इनके परस्पर तादात्म्य को किस प्रकार माना जा सकता है। क्या द्रष्टा का दृश्य के साथ तादात्म्य माना जाय, या दृश्य का द्रष्टा के साथ तादात्म्य माना जाय। यदि प्रथम पक्ष मानें तो प्रश्न होगा कि यह तादात्म्य स्वाभाविक है, या आगन्तुक ? यह तादात्म्य स्वाभाविक तो हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा चिदेकरस है, अतः उसमें दृश्यत्वांश रह ही नहीं सकता।[2] और यदि तादात्म्य को आगन्तुक मानें, तो प्रश्न होता है कि क्या द्रष्टा स्वतः दृश्याकार में परिणत होता है, या किसी हेतु के बल से ? ये दोनों ही पक्ष ठीक नहीं हैं, क्योंकि द्रष्टा निरंजन, निरवयव एवं अपरिणामी है।[3] अतः उसका स्वतः या किसी दूसरे कारण से दृश्याकार में परिणाम नहीं हो सकता; जैसे कि निरवयव आकाश का किसी भी प्रकार सावयवत्व रूप से परिणाम नहीं होता।[4] दृश्य का द्रष्टा के साथ तादात्म्य है अर्थात् दृश्य द्रष्टा के आकार में परिणत होता है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में दृश्य का द्रष्टा के आकार में परिणत होना यदि स्वाभाविक है, तो द्रष्टा दृश्य दोनों के समान हो जाने से उसका दृश्यत्व ही नष्ट हो जायगा।[5] यदि परिणाम को आगन्तुक मानें तो प्रश्न होता है कि क्या स्वयं ही दृश्य द्रष्टा के आकार में परिणत हो जाता है या अपने में आत्मचैतन्य का संक्रमण कराता है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि जड़ का परिणामरूप कार्य चैतन्यात्मक नहीं हो सकता, जैसे कि

---

१. परस्परानात्मतालक्षणो विरोधः। (वही)

२. स्वतस्तावत् विषयिणः चिदेकरसत्वात् न युष्मदंशसंभवः।
(पं० पा०, पृ० २१)

३. अपरिणामित्वात् निरञ्जनत्वाच्च न परतः। (वही)

४. न हि निरवयवमाकाशं स्वतो वा कारणान्तराद्वा सावयवाकारेण परिणममानं दृष्टम्। (पं० पा० वि०, पृ० ३८)

५. विषयस्यापि न स्वतः चित्संभवः, समत्वात् विषयत्वहानेः। (पं० पा० पृ० २१)

जड़ मिट्टी का कार्य घट चैतन्यरूप नहीं होता।[1] दृश्य चैतन्य को ही अपने में संक्रान्त कर अपना अंश बना लेता है, यह द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं है, क्योंकि सर्वत्र व्यापक चैतन्य का स्थलविशेष में संक्रमण भी नहीं हो सकता।[2] इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का परस्पर तादात्म्य किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि आत्मा और अनात्मा रूप धर्मियों का परस्पर तादात्म्याध्यास भले ही सम्भव न हो, परन्तु आत्मा के धर्मों का अनात्मा में अध्यास क्यों नहीं हो सकता है? यदि कहो कि आत्मा तो चिदेकरस है, अतः उसमें कोई धर्म ही नहीं रह सकता है, इसलिये उसके धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है; क्योंकि आत्मा में आनन्द, विषयानुभव, नित्यत्व आदि धर्म विद्यमान हैं।[3] यद्यपि ये पूर्वोक्त आनन्द आदि आत्मा के स्वरूपभूत हैं, धर्म नहीं हैं; तथापि अन्तःकरण की वृत्तिरूप की उपाधि के होने पर अनेक-से भासते हैं, अतः उनमें आत्मधर्मत्व का उपचार से व्यवहार होता है।[4] इस पर यदि शंका हो कि धर्मी के अध्यास के बिना धर्मों का स्वतन्त्ररूप से अध्यास नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है; क्योंकि जपाकुसुम की सन्निधि होने पर स्फटिक रक्त है इत्यादि अध्यासस्थल में धर्मी का अध्यास न होने पर भी (जपाकुसुम और स्फटिक के परस्पर तादात्म्याध्यास न होने पर भी) केवल धर्म का अध्यास देखा जाता।[5] अतः आत्मा और अनात्मारूप धर्मियों के परस्पर तादात्म्याध्यास न होने पर भी उनके धर्मों का अध्यास सम्भव है।

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की ओर से यह कहा जाता है कि धर्मी के अध्यास के बिना स्वतन्त्ररूप से धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता। स्फटिक रक्त है, इत्यादि स्थल में भी स्फटिक में प्रतिबिम्बित जपाकुसुम

---

१. जडजन्यस्य कार्यस्य चिद्रूपत्वासंभवात्। न हि जडाया मृदः परिणामो घटः चिद्रूपः दृष्टः (वि० प्र० सं०, पृ० ३८)

२. न परतः, चितेः अप्रतिसंक्रमत्वात्। (पं० पा० पृ० २१)

३. न च चिदेकरसस्यात्मनो धर्मासंभवः। आनन्दविषयानुभवनित्यत्वादीनां सत्त्वात्। (वि० प्र० सं०, पृ० ३९)

४. यद्यपि एते स्वरूपभूता एवात्मनः, तथाप्यन्यःकरणवृत्त्युपाधौ नानेवावभासन्त इति तेषां धर्मत्वमुपचर्यते। (वही)

५. जपाकुसुमसंनिधौ लोहितः स्फटिक इत्यादौ धर्ममात्राध्यासदर्शनात्। (वही)

की रक्तिमा का ही अध्यास होता है, स्वतन्त्ररूप से नहीं।[१] अतः धर्मी के अध्यास के बिना धर्मों का अध्यास सम्भव नहीं है। धर्म और धर्मी-रूप अर्थों के अध्यास के निराकरण से तन्निबन्धन ज्ञानाध्यास का भी निराकरण हो जाता है। अतएव अध्यास का किसी भी युक्ति से समर्थन सम्भव नहीं है।

अध्यास के विरुद्ध पूर्वपक्ष द्वारा उठायी गयी उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य कहते हैं कि अध्यास के निषेध का क्या अभिप्राय है? युक्तिविरोध के कारण अध्यास को नहीं मानना चाहिए—यह अभिप्राय है या यह कि अध्यास कोई वस्तु ही नहीं है? इनमें से यदि पहले पक्ष को माना जाय तो अनिर्वचनीयवादी वेदान्तमत से इसका कोई विरोध नहीं है क्योंकि यहाँ भी अध्यास को अनिर्वचनीय तथा अयुक्तियुक्त ही माना जाता है। आत्मा और अनात्मा के परस्पर तादात्म्याध्यास के युक्तिविरुद्ध होने के कारण ही इसे अनिर्वचनीय स्वीकार करते हैं।[२]

अब यदि दूसरे पक्ष को मानकर यह कहें कि अध्यासनामक कोई वस्तु ही नहीं है, तो यह युक्त नहीं क्योंकि आत्मा के निर्गुण और निरवयव होने से अध्यास की सामग्री न होने पर भी "पीला शंख" इस निरुपाधिक भ्रम के समान आत्मा पर अध्यास सम्भव है।[३] सोपाधिक भ्रम में ही सादृश्यादि धर्म की अपेक्षा होती है, निरुपाधिक भ्रम में नहीं। अतः चैतन्यैकरस आत्मा के निर्धर्मक होने पर भी उस पर अध्यास सम्भव है। इस पर यदि कहें कि "पीला शंख" इस भ्रम में नेत्रगत काच, कामला आदि दोषरूप सामग्री उपस्थित है तो प्रकृत आत्मा और अनात्मा के अध्यास में भी अविद्यासामग्री विद्यमान है।[४]

विवरणप्रमेयसंग्रह में अध्यास की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति तथा आगम प्रमाण भी उपस्थित किया गया है। अध्यास की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण देते हुए विद्यारण्य कहते हैं कि सारा संसार "मैं

---

१. स्फटिकेऽपि प्रतिबिम्बितजपाकुसुमाश्रितमेव लौहित्यं प्रतीयते न तु स्वातंत्र्येण। (पं० पा० वि०, पृ० ३९)

२. विरुद्धयते ह्यात्मानात्माध्यासो युक्तिभिरित्येवानिर्वाच्यत्वमंगीक्रियते। (पं० पा० वि०, पृ० ४०)

३. सादृश्यमन्तरेणैव "पीतः शंखः" इति निरुपाधिकभ्रमदर्शनात्। (वही, पृ० ४२)

४. अस्त्येव तर्हि अत्राप्यविद्याख्या सामग्री। (वही)

मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं पशु हूँ" इस प्रकार जाति से विशिष्ट शरीर, इन्द्रिय आदि संघात में चिद्रूप आत्मा के अभेद का अध्यास करके ही प्रमाता, प्रमेय आदि का व्यवहार करता है।[1] जब तक देहेन्द्रियादि संघात में "अहम्" "मम" इत्यादि अभिमान नहीं होता, तबतक प्रमाण, प्रमेय, प्रमातृत्व आदि कोई भी व्यवहार नहीं हो सकता, अन्यथा सुषुप्तिकाल में भी जागरण और स्वप्न के समान प्रमातृत्व आदि का व्यवहार होना चाहिए। इस प्रकार शरीरेन्द्रियादि में चिद्रूप आत्मा का अध्यास प्रत्यक्ष-सिद्ध है। यहाँ यह शंका ठीक नहीं कि "मैं मनुष्य हूँ, यह शरीरादि मेरा है" इत्यादि व्यवहार में चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रमाणकोटि में नहीं आती इसलिए इसे प्रत्यक्षसिद्ध कैसे माना जाय; क्योंकि बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष-में ही इन्द्रिय संयोग अपेक्षित है आत्मप्रत्यक्ष में नहीं। अतः साक्षी से भास्य होने के कारण उक्त व्यवहार को साक्षी द्वारा प्रत्यक्ष मानने में कोई बाधा नहीं है।[2]

प्रत्यक्ष की तरह अनुमान भी अध्यास की सिद्धि में प्रमाण है। विमत अर्थात् विवादग्रस्त देवदत्त की जाग्रत् और स्वप्न अवस्था उसी देवदत्त के "मैं मनुष्य हूँ" इत्यादि अध्यास द्वारा ही प्रमातृत्व आदि व्यवहार से युक्त है, सुषुप्ति अवस्था से भिन्न अवस्था होने से, जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं है, जैसे उसी देवदत्त का सुषुप्तिसमय।[3]

अर्थापत्ति भी अध्यास में प्रमाण है। प्रमातृत्व आदि व्यवहार देहादि के साथ तादात्म्य-अध्यास के बिना नहीं हो सकते[4]; क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में मनुष्य में उक्त अध्यास न होने से पूर्वोक्त प्रमातृत्व आदि का व्यवहार नहीं देखा जाता है। अतः प्रमातृत्व आदि व्यवहार की उपपत्ति के लिए कूटस्थ निर्विकार आत्मा का देहादि के साथ अध्यास मानना ही होगा।

---

१. सर्वो लोको "मनुष्योऽहं देवोऽहं पशुरहम्" इति जातिविशिष्टशरीरेन्द्रियादि-संघाते चिद्रूपस्य स्वस्य तादात्म्याध्यासस्यैव व्यवहारं प्रमातृप्रमेयादिरूपं कुरुत इति प्रत्यक्षमेतत्। (वि० प्र० सं०, पृ० २९७)

२. नित्यं साक्षिप्रत्यक्षं संभविष्यति। (वही)

३. विमतो देवदत्तस्य जाग्रत्स्वप्नकालो तस्यैवाहं मनुष्यः इत्याद्यध्यासपुरःसरप्रमातृ-त्वादिव्यवहारवन्तो, तस्यैव सुषुप्त्यादिकालादन्यकालत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा तस्यैव सुषुप्त्यादिकाल इति। (वही)

४. अर्थापत्तिरपि प्रमातृत्वादिव्यवहारो देहादितादात्म्याध्यासं विना नोपपद्यते।
(वि० प्र० सं, पृ० २८९)

"ब्राह्मणो यजेत" (ब्राह्मण यज्ञ करे) इत्यादि श्रुति भी अध्यास में प्रमाण है।[१] अन्यथा ब्राह्मणपद जो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट का यज्ञ में अधिकार दिखलाता है, वह निर्धर्मक आत्मा में अध्यास के बिना उपपन्न नहीं होगा।

इस प्रकार विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य ने प्रमातृत्व आदि व्यवहार के उपपादक अध्यास को प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति तथा आगम प्रमाण से सिद्ध किया है।

स्वयंप्रकाश प्रत्यगात्मा के अध्यास की सम्भावना पर विचार करते हुए भामतीकार वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि जो पराधीनप्रकाश और अंशवाला है, वह सामान्य अंश के गृहीत और कारणदोषवश विशेषांक के गृहीत न होने से अन्यथा प्रकाशित होता है। किन्तु प्रत्यगात्मा तो अपराधीनप्रकाश होने से अपने ज्ञान के लिए अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखता जिससे कि उसमें तदाश्रित दोषों से दूषित होने की सम्भावना हो। वह अंशवान् भी नहीं है, जिससे कि उसका कुछ अंश गृहीत हो और कुछ अगृहीत।[२] इसलिए आत्मा के स्वयंप्रकाशपक्ष में अध्यास अनुपपन्न है। यदि आत्मको सर्वदा अप्रकाशित माना जाय तो भी उसके पुरोऽवस्थितत्व एवं अपरोक्षत्व के अभाव से अध्यास संभव नहीं है।[३] इस कारण प्रत्यगात्मा के अत्यन्त गृहीत होने पर अथवा अत्यन्त अगृहीत होने पर दोनों ही अवस्थाओं में अध्यास नहीं हो सकता।[४] चिदात्मा विषयी होने के कारण अस्मत्प्रत्यय का विषय नहीं हो सकता। यदि चिदात्मा को विषय माना जाय तो विषयी कोई दूसरा होगा और जो विषयी है वही चिदात्मा है। विषय को विषयी से भिन्न युष्मत्प्रत्ययगोचर माना जाता है। इस कारण अनात्म का प्रसंग होने से तथा अनवस्था के परिहार के लिए आत्मा को युष्मत्प्रत्ययापेत एवं अविषय मानना उचित है। अतः चिदात्मा पर अध्यास नहीं हो सकता।[५]

---

१. आगमस्तु "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादिरवगन्तव्यः (वही)

२. प्रत्यगात्मा त्वपराधीनप्रकाशतया न स्वज्ञाने कारणान्यपेक्षते, येन तदाश्रयैर्दोषैर्दूष्येत। न चांशवान्, येन कश्चिदस्यांशो गृह्येत कश्चिन्न गृह्येत।
(भामती, पृ० ३७)

३. सदातनेऽप्यप्रकाशे पुरोऽवस्थितत्वस्यापरोक्षत्वस्याभावान्नाध्यासः। (वही)

४. तस्मादत्यन्तग्रहेऽत्यन्ताग्रहे च नाध्यासः। (वही)

५. विषयत्वे हि चिदात्मनोऽन्यो विषयी भवेत्। तथा च यो विषयी स एव

उपर्युक्त शंका के समाधान में वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि यद्यपि प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाश होने के कारण वस्तुतः आरोप का अविषय तथा अनंश है[1], तथापि अनिर्वचनीय अनादि अविद्या से परिकल्पित बुद्धि, मन सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर, इन्द्रिय आदि के अवच्छेद से वस्तुतः अनवच्छिन्न होता हुआ भी अवच्छिन्न सा, अभिन्न होता हुआ भी भिन्न-सा, अकर्त्ता होता हुआ भी कर्त्ता-सा, अभोक्ता होता हुआ भी भोक्ता-सा, अविषय होता हुआ भी अस्मत्प्रयय का विषय-सा जीव-भावापन्न रूप से अवभासित होता है,[2] जैसे घट, मणिक, मल्लिका, आदि अवच्छेदकों के भेद से अनच्छिन्न आकाश अवच्छिन्न-सा तथा अनेकधर्मयुक्त-सा अवभासित होता है। चिदेकरस आत्मा के चिदंश के गृहीत हो जाने पर कुछ भी अगृहीत नहीं रहता है। आनन्द, नित्यत्व, विभुत्व इत्यादि धर्म इसके चिद्रूप से वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, जिससे कि उसके गृहीत हो जाने पर इनका ग्रहण न हो सके। वस्तुतः ये गृहीत हो जाने पर भी कल्पित भेद के कारण अविवेचित एवं अगृहीत-से अवभासित होते हैं।[3] इस पर यह शङ्का होती है कि यदि चिदेकरस आत्मा के स्वरूप का ग्रहण हो गया तो बुद्ध्यादि से उसके भेद का ग्रहण भी हो जाना चाहिए और ऐसी स्थिति में आत्मा पर बुद्ध्यादि का अध्यास नहीं होना चाहिए।

इस शङ्का का समाधान करते हुए भामतीकार कहते हैं कि आत्मा का बुद्ध्यादि से भेद तात्त्विक नहीं है, जिससे कि आत्मा के ग्रहण से उस भेद का भी ग्रहण हो सके।[4] बुद्ध्यादि अनिर्वाच्य हैं, अतः उसका आत्मा

चिदात्मा। विषयस्तु ततोऽन्यो युष्मत्प्रत्ययगोचरोऽभ्युपेयः। तस्मादनात्मत्वप्रसङ्गादनवस्थापरिहाराय युष्मत्प्रत्ययापेतत्वम्, अत एवाविषयत्वमात्मनो वक्तव्यम्, तथा च नाध्यासः।

(भामती, पृ० ३७-३८)

१. सत्यं प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाशत्वादविषयोऽनंशश्च। (भामती, पृ० ३८)

२. अनवच्छिन्नोऽपि वस्तुतोऽवच्छिन्न इव, अभिन्नोऽपि भिन्न इव, अकर्तापि कर्तेव, अभोक्तापि भोक्तेव, अविषयोऽपि अस्मत्प्रत्ययविषय इव जीवभावमापन्नोऽवभासते। (भामती, पृ० ३८)

३. गृहीता एव तु कल्पितेन भेदेनाविवेचिता इत्यगृहीता इवाभान्ति। (वही)

४. न चात्मनो बुद्ध्यादिभ्यो भेदस्तात्त्विकः, येन चिदात्मनि गृह्यमाणे सोऽपि गृहीतो भवेत्।

(भामती, पृ० ३८)

से भेद भी अनिर्वचनीय है, तात्त्विक नहीं। इस तरह आत्मा के बुद्ध्यादि से भेद के गृहीत न होने के कारण बुद्ध्यादि का आत्मा पर आरोप होता है। बुद्ध्यादि के आरोप के कारण स्वयंप्रकाश प्रत्यगात्मा जीवभावापन्न होता है। इस प्रकार जीव के अनिदम् (चैतन्य) और इदम् (बुद्ध्यादि) उभयात्मक होने से उसकी अस्मत्प्रत्ययविषयता उपपन्न है।[१] चिदात्मा अहं प्रत्यय में कर्त्ता भोक्ता रूप से अवभासित होता है। उदासीन आत्मा में क्रियाशक्ति अथवा भोगशक्ति सम्भव नहीं है। जिस कार्य-कारणसंघात रूप बुद्ध्यादि में क्रियाशक्ति अथवा भोगशक्ति है, उसमें चैतन्य नहीं है। अतएव चिदात्मा ही कार्यकारणसंघातरूप बुद्ध्यादि से ग्रथित होकर क्रियाशक्ति और भोगशक्ति को प्राप्त करके स्वयंप्रकाश होते हुए भी बुद्ध्यादि विषय के विच्छुरण से कथंचित् अस्मत्प्रत्यय का विषय बनकर अहंकारास्पद जीव कहलाता है।[२] इस प्रकार जीव यद्यपि स्वयंप्रकाश चिदात्मरूप होने से अस्मत्प्रत्यय का अविषय है, तथापि औपाधिकरूप से विषय बनता है।[३]

चिदात्मा के स्वप्रकाश होने से उस पर बुद्ध्यादि का आरोप कैसे हो सकता है, यह शङ्का भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वप्रकाश होने पर भी पूर्व-पूर्व अध्यास के कारण उसके स्वरूप का प्रकाश न होने से बुद्ध्यादि का आरोप होता है।[४] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चिदात्मा सर्वथा अगृहीत एवं अप्रकाशित ही रहता है, क्योंकि ऐसा होने पर वह आरोप का अधिष्ठान नहीं बन सकेगा। आरोप के लिए आरोप के अधिष्ठान का प्रकाशन आवश्यक है। अपरोक्षभ्रम का अधिष्ठान होने के लिए आत्मा का अपरोक्षत्व आवश्यक है, अन्यथा अध्यासोपयोगि-प्रथन के अभाव से उस पर अध्यास नहीं हो सकेगा।[५] इस सम्बन्ध में भामतीकार का कथन है कि चिदात्मा का अपरोक्षत्व अवश्य ही स्वीकार

१. तस्य चानिदमिदमात्मनोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वमुपपद्यते। (भामती, पृ० ३९)

२. स्वयंप्रकाशोऽपि बुद्ध्यादिविषयविच्छुरणात् कथंचिदस्मत्प्रत्ययविषयोऽहंकारास्पदं जीव इति.........आख्यायते। (भामती, पृ० ३९)

३. जीवो हि चिदात्मतया स्वयंप्रकाशतया विषयोऽप्यौपाधिकेन रूपेण विषयः (वही]

४. पूर्वपूर्वाध्यासतद्वासनाविषयीकृतस्योत्तरोत्तराध्यासविषयत्वाविरोधात्। (वही)

५. तथा च सर्वथाऽप्रथमाने प्रत्यगात्मनि कुतोऽध्यासः। (वही)

करना होगा क्योंकि यदि वही अप्रथित हो तो किसी वस्तु का प्रथन नहीं हो सकेगा और इस प्रकार जगदान्ध्य का प्रसंग होगा।[1] श्रुति भी कहती है कि उसके (चिदात्मा के) प्रकाश से ही सब प्रकाशित होता है। अतएव चिदात्मा के वास्तविक स्वरूप के पूर्णतया गृहीत न होने पर भी उसे सर्वथा अगृहीत एवं अप्रकाशित नहीं माना जा सकता। अतः आत्मा के किंचित् गृहीत और किंचित् अगृहीत होने के कारण ही उस पर बुद्ध्यादि अनात्मतत्त्व का अध्यास सम्भव होता है। अध्यास के लिए वस्तु का किंचित् ग्रहण और किंचित् अग्रहण आवश्यक है। क्योंकि यदि उसका पूर्णरूपेण ग्रहण हो जाय या पूर्णतया अग्रहण हो तो दोनों ही अवस्थाओं में अध्यास सम्भव नहीं है।[2] अध्यास सत्यानृत के मिथुनीकरण का परिणाम है।[3] यह सत्यानृत का मिथुनीकरण तभी सम्भव है जबकि वस्तु का न तो पूर्णतया ग्रहण ही हो और न ही पूर्णतया अग्रहण। चिदात्मा के वास्तविक स्वरूप का न तो पूर्णतया ग्रहण ही होता है। और न पूर्णतया अग्रहण। इसीलिए इस पर बुद्ध्यादि का आरोप सम्भव होता है। इस प्रकार भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने स्वयंप्रकाश चिदात्मा पर अनात्म बुद्ध्यादि के अध्यास को सम्भव सिद्ध किया है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि चिदात्मा यदि स्वयंप्रकाश है तो उसके वास्तविक स्वरूप का पूर्णतया प्रकाशन क्यों नहीं होने पाता? इसका कारण अनादि भावरूप अविद्या को माना गया है। अतएव आगे प्रसंग-प्राप्त अविद्या के स्वरूप के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

●

---

१. अवश्यं चिदात्माऽपरोक्षोऽभ्युपगन्तव्यः तदप्रथायां सर्वस्याप्रथनेन जगदान्ध्यप्रसंगात्।

(भामती, पृ० ३९)

२. अत्यन्तग्रहेऽत्यन्ताग्रहे च नाध्यासः।

(भामती, पृ० ३७)

३. सत्यानृते मिथुनीकृत्य।

(ब्र० सू० शां० भा०, १।१।१)

तृतीय अध्याय

अविद्या

१. अविद्या तथा माया

माया शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से होता चला आया है। विश्व की सर्वप्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में भी माया शब्द का प्रयोग बहुशः उपलब्ध होता है।[1] यहाँ यह शब्द देवों को अलौकिक शक्ति एवं आश्चर्यजनक कुशलता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। माया शब्द में रहस्य का भी संकेत है, जिसका पूर्ण विकास अथर्ववेद में हुआ है। यहाँ इस शब्द का प्रयोग इन्द्रजाल के अर्थ में किया गया है।[2] बृहदारण्यक, प्रश्न उपनिषद् तथा भगवद्गीता में माया शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] प्राचीन बौद्ध साहित्य में इस शब्द का प्रयोग छद्म या छद्मपूर्ण व्यवहार के अर्थ में किया गया है। लंकावतारसूत्र में इस शब्द का प्रयोग भ्रम के अर्थ में किया है। लंकावतारसूत्र में इस शब्द का प्रयोग भ्रम के अर्थ में हुआ है। नागार्जुन ने इसके लिए संवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है।[4] धर्मकीति ने संवृत्ति शब्द का प्रयोग अज्ञान के अर्थ में माना है।[5] गौड़पाद ने संवृति के विचार को नागार्जुन से ग्रहण किया और इसके आधार पर हिन्दुविचारधारा में एक नवीन संप्रदाय का प्रवर्तन किया जो आगे चलकर "मायावाद" के नाम से विख्यात हुआ। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि संसार वास्तविक दृष्टि

---

१. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋग्वेद, ६।४७।१८)
महीं मायां वरुणस्य प्रवोचम्। (ऋ० ५।८५।५) तथा ऋग्वेद ३।३८।७; ९।८३।३; १।१५९।४; १०।५४।२।

२. अया ह त्यं मायया वावृधानम्। (अथर्ववेद, २०।३६।६)

३. तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया। (प्रश्न, १।१६);
ईश्वरः सर्वभूताना""""भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(भ० गी० १८।६१)

४. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥ (माध्यमिककारिका, २४।८)

५. अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छेदनात् संवृतिरित्युच्यते।
(माध्यमिककारिकावृति, पृ० ४९२)

से सत् नहीं, अपितु मायिक है। आत्मा द्रष्टा तथा दृश्य दोनों ही है। यह नामरूपात्मक प्रपंच माया के द्वारा आत्मा पर आरोपित होता है। अतएव केवल आत्मा ही सत्य है एवं सम्पूर्ण द्वैधभ्रममात्र है।[1]

शङ्कराचार्य ने गौड़पाद के मायावाद को अपने भाष्यग्रन्थों में पूर्णरूप से विकसित एवं पल्लवित किया। उन्होंने माया तथा अविद्या में स्पष्टरूप से भेद नहीं किया है।[2] माया एवं अविद्या के लिए उन्होंने तम, मोह, अव्याकृत, अव्यक्त, अप्रतिबोध आदि पदों का भी प्रयोग किया है[3] तथा इसे अनादि एवं अनिवर्चनीय माना है। सत् और असत् इन दोनों से भिन्न अविद्या के अनिर्बचनीयत्व के प्रतिपादन के लिए ही इसे "माया" यह संज्ञा दी गयी है।

पंचपादिकाकार पद्मपाद ने भी माया और अविद्या इन पदों को समानार्थक माना है। उन्होंने इसके लिए प्रकृति, अव्याकृत, अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, अक्षर तथा आकाश शब्द का भी प्रयोग किया है।[4]

सुरेश्वराचार्य ने भी अविद्या तथा माया में कोई अन्तर नहीं माना है। उन्होंने माया तथा अविद्या के अभेद का स्पष्टरूप से प्रतिपादन

---

१. गौड़पादकारिका, २।१९

२. Indian Philosophy Vol. II. P. 589, S, Radhakrishnan.

३. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।

(ब्र० सू०, शां० भा० १।४।३)

अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद् विकारात् परो यो विकारस्तस्मात् परतः परम् इति भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमिव विवक्षितं दर्शयति। (वही, १।२।२२)

मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽविवेको भ्रमः, स चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम्। (बृ० उ० भा० ३।५।१)

विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते।

(ब्र० सू०, शां० भा०, १।३।१९)

४. येयं श्रुतिस्मृतिइतिहासपुराणेषु नामरूपमव्याकृतमविद्यामाया प्रकृतिः अग्रहणम् अव्यक्तं तमः कारणं लयः शक्तिः महासुप्तिः निद्रा अक्षरम् आकाश इति च तत्र तत्र बहुधा गीयते। (पं० पा०, पृ० ९८)

किया है।[1] बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक में सुरेश्वराचार्य ने जैसे स्वात्मा-विद्या के कारण ब्रह्म को जगत् का स्रष्टा बताया है, वैसे ही स्वात्ममाया के कारण जगत् का स्रष्टा माना है।[2] उन्होंने जगत्कारणत्वप्रयोजक तत्त्व के लिए केवल माया और अविद्या शब्द का ही प्रयोग नहीं किया, अपितु इसके लिए पद्मपादाचार्य के समान मोह, तम, ध्यान, असम्बोध, अनवबोध इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी अपने बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक में स्थान-स्थान पर किया है।

इसी प्रकार विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भी माया और अविद्या में अभेद माना है। वे कहते हैं कि "उस परमेश्वर के ध्यान से विश्व-माया की निवृत्ति हो जाती है" इत्यादि श्रुति में "सम्यग्ज्ञाननिवर्त्य अविद्या" के लिए माया शब्द का प्रयोग किया गया है। भाष्यकार ने भी अपने भाष्यग्रन्थों में स्थान-स्थान पर "अविद्या माया" "अविद्यात्मिका मायाशक्ति" इत्यादि अविद्या और माया के अभेद सूचक प्रयोग किये हैं।[3] ब्रह्म से जगत् के आविर्भाव के प्रश्न पर विचार करते हुए विवरणकार ने माया और अविद्या इन शब्दों का प्रयोग पर्यायवाचक शब्दों के रूप में किया है।[4]

इसी तरह भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने अविद्या और माया इन शब्दों को समानार्थक स्वीकार किया है। आनुमानिकाधिकरण में उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में किया है। वे कहते कि कि मायादि शब्दवाच्य ब्रह्म की इस अविद्याशक्ति का तत्त्व या अन्यत्व रूप से निर्वचन नहीं किया जा सकता है।[5]

---

१. स्वतस्त्वविद्याभेदोऽपि मनागपि न विद्यते।
(बृ० उ० भा० वा, ४।३।१२४४ तथा ४।४।५९९)

२. स्वात्माविद्या—(बृ० उ० भा० वा०, ३।९।१६०);
स्वात्ममाया (बृ० उ० भा० वा०, ४।३।९१९; ९४४; ९८१)

३. "तस्याभिध्यानाद्विश्वमायानिवृत्तिः"
"इत्यादिश्रुतौ सम्यग्ज्ञाननिवर्त्याविद्यायां मायाशब्दप्रयोगात्।''''भाष्यकारेण च "अविद्या माया" "अविद्यात्मिका मायाशक्तिः" इति तत्र तत्र निर्देशात्।
(पं० पा० वि०, पृ० १७२-७३)

४. तस्मात् ब्रह्मैव स्वमायया अविद्यया विवर्तते।
(पं० पा० वि०, पृ० ६९३)

५. ब्रह्मणस्त्वियमविद्याशक्तिर्मायादिशब्दवाच्या न शक्या तत्त्वेनान्यत्वेन वा निर्वक्तुम्।
(भामती, पृ० ३७७)

आरम्भणाधिकरण के भाष्य में शङ्कराचार्य ने अविद्या को नामरूप माया का कारण बतलाया है।[1] छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में उन्होंने ईश्वर को विशुद्धोपाधि से सम्बद्ध माना है।[2] वाक्यवृत्ति में सर्वज्ञत्वादिलक्षण-सम्पन्न ईश्वर को मायोपाधिक कहा है।[3] इन संकेतों के आधार पर ही शङ्करोत्तरवेदान्त में आवश्यकतानुसार माया और अविद्या के भेद को स्वीकार किया है।

२. अविद्या की भावरूपता :

विवरणप्रस्थान में अविद्या को भावरूप माना गया है। इस सम्बन्ध में विवरणकार कहते हैं कि "मैं अज्ञ हूं और मैं अपने आपको तथा दूसरे को नहीं जानता हूँ" इस प्रत्यक्ष प्रतीति से भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है।[4] यदि कहें कि "मैं नहीं जानता" इत्यादि पूर्वोक्त अनुभव ज्ञानाभावविषयक है तो यह युक्त नहीं, क्योंकि उक्त अनुभव "मैं सुखी हूँ" इस अनुभव के सदृश प्रत्यक्ष अनुभव है। अभाव तो अनुपलब्धिरूप षष्ठ प्रमाण का विषय होने से परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं।[5] अभाव को प्रत्यक्ष माननेवालों के मत में भी धर्मी (अहंपदार्थज्ञाता-आत्मा) तथा प्रतियोगी (ज्ञान) की प्रतीति रहने पर "मुझमें ज्ञान नहीं है" इस प्रकार ज्ञान के अभाव का प्रत्यक्ष व्याहत होगा।[6] इस व्याघात के भय से यदि आत्मा और ज्ञान दोनों की प्रतीति नहीं होती—ऐसा माना जाय तो हेतु के बिना अभाव का ज्ञान ही नहीं होगा, क्योंकि अभाव के ज्ञान में धर्मी तथा प्रतियोगी दोनों का ज्ञान अपेक्षित है। इस पर यदि कहें कि ज्ञानाभाव का व्यवहाररूप फलाभाव से अनुमान करते हैं, तो प्रश्न होगा कि इस अनुमान के अनुव्यवसाय में धर्मी आत्मा और प्रतियोगी

---

१. अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशेन.....।

(ब्र० सू०, शां० भा०, २।२।२ तथा २।१।१४)

२. विशुद्धोपाधिसम्बन्धात्। (छा० उ० भा० ३।१४।२)

३. मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः। (वाक्यवृत्ति)

४. प्रत्यक्षं तावत् अहमज्ञः मामन्यं च न जानामि इत्यपरोक्षावभासदर्शनात्।

(पं० पा० वि०, पृ० ७४)

५. ननु ज्ञानाभावविषयः अयमवभासः? न–अपरोक्षावभासत्वात् 'अहं सुखी" इतिवत्। अभावस्य च षष्ठप्रमाणगोचरत्वात्। (वही)

६. "मयि ज्ञानं नास्ति" इति प्रतिपत्तौ आत्मनि धर्मिणि प्रतियोगिनि च अर्थे अवगते तत्र ज्ञानसद्भावात् ज्ञानाभावप्रतिपत्त्ययोगात्। (वही)

ज्ञान की प्रतीति है या नहीं ? यदि कहें कि "है", तो "मैं अपने में ज्ञानाभाव का अनुमान करता हूँ", या "मैं ज्ञानाभाव वाला हूँ" इनमें धर्मी और प्रतियोगी दोनों का ज्ञान होने से व्याघात बना ही हुआ है। और यदि कहें कि "नहीं" तो अनुमान का उदय ही असम्भव है; अनुव्यवसाय की आशा करना तो दूर की बात है।[1]

यहाँ यह शङ्का होती है कि अज्ञान को भावरूप मानने पर भी उसको ज्ञान से निवर्त्य मानने के कारण मैं "अज्ञ हूँ" इत्यादि आश्रय और विषय दोनों की प्रतीति से युक्त अज्ञान का प्रत्यक्ष बाधित ही है। यदि कहो कि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, तो अनिर्मोक्ष प्रसंग होगा। और यदि यह माना जाय कि भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है, तो अज्ञान की सत्ता को प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नहीं माना जा सकता।

इस शङ्का के समाधान में विवरणकार का कथन है कि ज्ञान का अज्ञान से विरोध तब होता जब हम वादी की तरह अज्ञान को ज्ञान का अभावरूप मानते, किन्तु ऐसा हम नहीं मानते। जैसे घटाभावकाल में एवं घटाभावदेश में घट का रहना विरुद्ध है, वैसे ही ज्ञान का और ज्ञान के अभाव का एक साथ रहना विरुद्ध है। किन्तु हमारे मत में अज्ञान अभावरूप न होकर भावरूप है। अतः एक ही अधिकरण तथा एक ही काल में ज्ञान और अज्ञान इन दोनों भावपदार्थों का रहना व्याहत नहीं है।[2] जैसे एक ही देश और काल में घट और पट ये दो भाव पदार्थ रह सकते हैं, वैसे ही ज्ञान और अज्ञान ये दोनों भी एक साथ रह सकते हैं। इस सम्बन्ध में विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य का कथन है कि आश्रय, विषय और अज्ञान तीनों एक ही साक्षी से प्रकाशित होते हैं। इसलिए आश्रय और विषय को प्रकाशित करता हुआ साक्षी उन्हीं की तरह अज्ञान को भी प्रकाशित करता है, उसकी निवृत्ति नहीं करता। अज्ञान की निवृत्ति करने वाला तो अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित चिद्रूप ज्ञान है। और अज्ञान का विनाशक वह वृत्तिज्ञान प्रकृतस्थल में नहीं, अतः यहाँ व्याघात कैसे होगा ?[3]

---

१. षष्ठप्रमाणगोचरे फललिंगाभावानुमेयेऽपि ज्ञानाभावे आत्मादौ अवगते अनवगतेऽपि आत्मनि ज्ञानाभावप्रतिपत्त्ययोगात्। (वही, पृ० ७५)

२. भावरूपाज्ञानप्रत्यक्षवादे तु सत्यपि आश्रयप्रतियोगिज्ञाने ज्ञानाभावस्येव भावान्तरस्यापि न अनुपपत्तिः नियन्तुं शक्यते। (वही, पृ० ८१)

३. आश्रयविषयज्ञानानि त्रीण्यपि एकेनैव साक्षिणाऽवभास्यन्ते। तथा चाश्रय-

इस पर शङ्का होती है कि "मैं घट को नहीं जानता" इस प्रतीति में विशेषक घट से सम्बद्ध हुए बिना अज्ञान का साक्षी से तो भान हो नहीं सकता, क्योंकि बाह्य विषयों के प्रतिभास की सिद्धि साक्षी से सम्बद्ध प्रमाण (अन्तःकरण से युक्त चक्षु आदि) के अधीन है। प्रमाण से भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमाण व्यापार के होते ही अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।

इस शङ्का का समाधान करते हुए विद्यारण्य कहते हैं कि केवल घटादि बाह्यविषयों के साक्षिवेद्य न होने पर भी अज्ञातत्वधर्मविशिष्ट विषयों का अज्ञान के द्वारा सम्बन्ध हो जाने से साक्षी से प्रतीति हो ही सकती है।[1] यहाँ पर यह भी नहीं कह सकते कि यदि केवल विषय साक्षी से वेद्य नहीं है तो विशिष्ट भी साक्षिवेद्य कैसे होगा; क्योंकि परमाणु के मानसप्रत्यक्षविषय न होने पर भी "मैं परमाणु को जानता हूं" इस ज्ञान के विशेषण के रूप से परमाणु में मानसप्रत्यक्ष की विषयता दूसरे दार्शनिक मानते ही हैं। लोक में भी राहु का स्वतः प्रत्यक्ष न होने पर भी चन्द्रादि के सम्बन्ध में उसका प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है।[2] अतएव सभी वस्तुएँ, कुछ तो ज्ञान के विशेषण रूप से और कुछ अज्ञान के विशेषणरूप से साक्षिरूप चैतन्य के विषय हैं। इस तरह साक्षिचैतन्य सभी वस्तुओं को ज्ञातस्वरूप से या अज्ञातस्वरूप से अपना विषय बनाता है।[3]

इस पर यह शङ्का होती है कि यदि सभी वस्तुओं को साक्षिज्ञान का

विषयो साधयन्नयं साक्षी तद्वदेवाज्ञानमपि साधयत्येव न तु निवर्तयति। तन्निवर्तकं त्वन्तःकरणवृत्तिज्ञानमेव। तच्चात्र नास्तीति कथं व्याहतिः?
(वि० प्र० सं०, पृ० ५५)

१. केवलस्य घटस्य साक्षिवेद्यत्वाभावेऽपि अज्ञातत्वधर्मविशिष्टस्याज्ञानद्वारा सम्बन्धवता साक्षिणा प्रतीतिरुपपद्यत एव।
(वही, पृ० ५६)

२. परमाणोः केवलस्य मानसप्रत्यक्षत्वाभावेऽपि "परमाणुमहं जानामि" इति ज्ञानविशेषणतया मानसप्रत्यक्षविषयत्वस्य परैरङ्गीकारात्। लोकेऽपि राहोः केवलस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽपि चन्द्राद्युपरक्तस्य प्रत्यक्षत्वदर्शनात्।
(वही, पृ० ५७)

३. सर्वं वस्तु ज्ञाततया वा अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव।
(पं० पा० वि०, पृ० ८४)

विषय मान लिया जाय तो सब वस्तुएँ ज्ञात ही होंगी, पुनः वस्तुओं की ज्ञाताज्ञातरूप से व्यवस्था कैसे हो सकेगी और वस्तुओं के ज्ञात रहने से प्रमाणव्यापार की क्या उपयोगिता रह जायगी ?

इस शंका का समाधान करते हुए विद्यारण्य करते हैं कि जैसे अज्ञान अपने विषय में अज्ञातत्वधर्म का सम्पादन करके उस विषय का साक्षी से सम्बन्ध करा देता है, वैसे ही प्रमाण भी अपने विषय में ज्ञातत्व धर्म का सम्पादन करके उसका साक्षी से सम्बन्ध जोड़ देता है। इस तरह विषयों के सम्बन्ध में ज्ञाताज्ञात व्यवस्था बन जाती है तथा विषय-ज्ञान में प्रमाण की उपयोगिता भी बनी रहती है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पट है कि "अहमज्ञः" यह प्रत्यक्षबोध भावरूप अज्ञान में प्रमाण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ होने पर भी उसमें भ्रमादि की सम्भावना रहा करती है। अतएव प्रत्यक्ष अपने प्रामाण्य के लिए परीक्षा की अपेक्षा रखता है। परीक्षोत्तीर्ण ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। अतएव पूर्वोक्त प्रत्यक्षबोध के प्रामाण्य की रक्षा के लिए प्रमाणान्तरों का संवाद प्रदर्शित किया जा रहा है। प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध भावरूप अज्ञान को अनुमान प्रमाण के द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। इसकी सिद्धि निम्नलिखित अनुमानवाक्य से की जा सकती है :—

विवादगोचर प्रमाणज्ञान अपने प्रागभाव से अतिरिक्त, अपने विषय का आवरण, अपने से निवर्त्य और अपने अधिकरण में स्थित वस्त्वन्तर-पूर्वक होता है, अप्रकाशित अर्थ का प्रकाश करने वाला होने से; अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीप के प्रकाश के समान।[2]

भावरूप अज्ञान की सिद्धि के लिए विवरणकार द्वारा प्रयुक्त इस अनुमान-वाक्य के पदों का प्रयोजन विवरणतात्पर्यदीपिका में चित्सुखा-

---

१. यद्वदज्ञानमज्ञातत्वधर्मं स्वविषये संपाद्य तस्य साक्षिणा सम्बन्धं घटयति तद्वत् प्रमाणमपि ज्ञातत्वं धर्मं स्वविषये सम्पाद्य तस्य साक्षिणा सम्बन्धघटक-मित्यंगीकारेणोक्तदोषनिवृत्तेः। (वि० प्र० सं०, पृ० ५७–८)

२. विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भवितुमर्हति, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत् इति। (पं० पा० वि० पृ०, ८५)

चार्य ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं कि यदि अनुमान-वाक्य के पक्ष में प्रमाणपद नहीं दिया जाता, तो ज्ञानमात्र पक्ष होता और ज्ञानमात्र को यदि पक्ष माना जाता तो अनुवादज्ञान में हेतु के असिद्ध होने से हेत्वसिद्धि दोष हो जाता। अनुवाद-ज्ञान पूर्वप्रकाशित अर्थ का ज्ञान है, अप्रकाशित अर्थ का नहीं, इसलिए उसमें हेतु की असिद्धि है। अतएव हेत्वसिद्धि दोष के वारण के लिए पक्ष में प्रमाणपद दिया गया है।[1] यहाँ "विवादगोचरापन्नम्" यह पद धारावाहिक ज्ञान की व्यावृत्ति के लिए दिया गया है। विषयेन्द्रिय संयोग से उत्पन्न धारावाहिक ज्ञान प्रमाणज्ञान है। इसमें उत्तर-उत्तर ज्ञान का पूर्व-पूर्व ज्ञान वस्त्वन्तर है। अतः धाराज्ञान में सभी विशेषणों के आ जाने से धाराज्ञान भी पक्ष हो जायगा, जो इष्ट नहीं है। इसलिए यहाँ "विवादगोचरापन्नम्" यह पद दिया गया है। धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य में किसी का विवाद न होने से वह पक्षकोटि में नहीं आता।[2] यद्यपि साध्य में "वस्तुपूर्वकम्" इतना ही कह देने से निर्वाह हो सकता था तथापि प्रमाणज्ञान के आश्रयीभूत आत्मा आदि को लेकर सिद्धसाधनता दोष हो जायगा। अतः उसके निवारण के लिए "वस्त्वन्तर" पद दिया गया है।[3] इसी प्रकार साध्य में प्रयुक्त स्वदेशगत आदि चारों विशेषण अवरोहक्रम से स्वाश्रय से अतिरिक्त सामग्री की, धर्मादि की पूर्वज्ञान की तथा स्वप्रागभाव की व्यावृत्ति करते हैं। इनमें स्वदेशगत विशेषण स्वाश्रय से अतिरिक्त चक्षुरादि सामग्री का निवारण करने के लिए दिया गया है।[4] स्वनिवर्त्य यह विशेषण धर्मादि के निवारण करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। कार्यमात्र के प्रति धर्मादिरूप अदृष्ट कारण माना गया है, अतः उसको लेकर सिद्धसाधन या अर्थान्तर न हो जाय, इसलिए यहाँ 'स्वनिवर्त्य' पद दिया गया है।[5] प्रमाणज्ञान से धर्मादि की निवृत्ति नहीं होती। इसी

---

१. ज्ञानस्यैव पक्षीकरणे अनुवादज्ञानेऽपि हेतोरसिद्धिः स्यात् तदर्थं प्रमाणज्ञानम् इत्युक्तम्। (वि० ता० दी०, पृ० ८५)

२. प्रमाणज्ञानमित्युक्तेऽपि धारावाहिकप्रमाणज्ञाने हेतोरसिद्धरेव तदर्थं विवादगोचरेति पदम्। (वही)

३. वस्तुपूर्वकमित्युक्ते स्वाश्रयेण आत्मादिना सिद्धसाधनता स्यात्, अत उक्तम्-वस्त्वन्तरेति। (वही)

४. स्वाश्रयव्यतिरिक्तसामग्र्यादिनापि सिद्धसाधनता स्यात्, अत उक्तम्—स्वदेशगतेति। (वही)

५. धर्मादिना सिद्धसाधनता मा भूत् इत्युक्तम् स्वनिवर्त्येति। (वही)

तरह "स्व विषयावरण" यह पद पूर्वज्ञान के निवारण के लिए दिया गया है।[1] योग्य विभुगुणों के स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्य होने के कारण पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान से निवर्त्य होता है और उस प्रमाणज्ञान से पूर्व भी रहता है। अतएव इसकी व्यावृत्ति के लिए "स्वविषयावरण" पद प्रयुक्त हुआ है। पूर्वज्ञान स्वनाशक उत्तरज्ञान के विषय का आवरण नहीं करता। इसी प्रकार "स्वप्रागभावव्यतिरिक्त" यह पद स्वाश्रयातिरिक्त सामग्री की व्यावृत्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है।[2] कार्य के प्रति प्रागभाव को भी कारण माना जाता है। उक्तविशेषणविशिष्ट प्रागभाव को ग्रहण कर कहीं पूर्वोक्त सिद्धसाधन या अर्थान्तर न हो जाय, इसलिए यहाँ "स्वप्राग-भावव्यतिरिक्त" यह विशेषण दिया गया है।

इसी प्रकार साध्य में प्रयुक्त स्वप्रागभावव्यतिरिक्त आदि विशेषणों के प्रयोजन को चित्सुखाचार्य ने आरोहक्रम (अनुलोम) से इस तरह प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं कि यदि "वस्त्वन्तरपूर्वकम्" इतना ही कहा जाता तो प्रागभाव से सिद्धसाधनता दोष होगा। अतः प्रागभाव की व्यावृत्ति के लिए "प्रागभावव्यतिरिक्त" यह विशेषण दिया गया है।[3] इस विशेषण के देने पर भी घटादि से सिद्धसाधनता की प्रसक्ति होती है, अतः उसकी व्यावृत्ति के लिए स्वविषयावरण यह विशेषण दिया गया है।[4] तथापि स्वविषयावरण घटकुड्यादि से सिद्धसाधनता न हो, इसलिए स्वनिवर्त्य यह विशेषण जोड़ दिया गया है।[5] तथापि विषयगत अज्ञातत्व से भाट्टों के मत में सिद्धसाधनता की प्रसक्ति न हो इसलिए यहाँ 'स्वदेशगत' यह विशेषण दिया गया है।।[6] अज्ञान-साधक अनुमानवाक्य के हेतु में यदि "प्रकाशकत्वात्" इतना ही होता तो

---

१. पूर्वज्ञानेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थम् स्वविषयावरणेत्युक्तम्। (वही)

२. प्रागभावोऽप्येवंभूत: इत्यत उक्तं प्रागभावव्यतिरिक्तेति। (वही)

३. अनुलोमेऽपि वस्त्वन्तरपूर्वकमित्येतावत्युक्ते प्रागभावेनापि सिद्धसाधनता स्यात्, तद्व्यावृत्त्यर्थम्—प्रागभावव्यतिरिक्तेत्युक्तम्। (वही)

४. तथापि विषयेण घटादिना सिद्धसाधनता मा भूदिति स्वविषयावरणेत्युक्तम्। (वही)

५. तथापि घटकुड्यादिना स्वविषयावरणेन सिद्धसाधनता मा भूदिति स्वनिवर्त्येति पदम्। (वही)

६. तथापि अमितत्वेन (अज्ञातत्वेन) विषयगतेन भाट्टानां सिद्धसाधनताव्यावृत्त्यर्थं स्वदेशगतेति। (वही)

धारावाहिक विज्ञानों में तथा मध्यवर्तिनी प्रदीप-ज्वाला में व्यभिचार होता, इसलिए यहाँ "अप्रकाशितार्थ" यह विशेषण जोड़ दिया गया है।[1] इसी प्रकार दृष्टान्त में यदि "प्रदीवप्रभावत्" इतना ही रहता तो धारावाहिक दीपप्रभाओं में साध्य तथा साधन दोनों का अभाव होने से व्यभिचार होता, अतः यहाँ 'प्रथमोत्पन्न' यह विशेषण जोड़ा गया है।[2] दृष्टान्त में प्रयुक्त अन्धकार पद से सूर्य के प्रकाशवाले देश में जलाये गये दीप की प्रभा में व्यभिचार का वारण होता है।[3] इस प्रकार चित्सुखाचार्य ने विवरण की व्याख्या "तात्पर्य दीपिका" में अज्ञान के साधक अनुमानवाक्य में प्रयुक्त सभी पदों की उपयोगिता एवं सार्थकता प्रदर्शित की है।

विवरणकार ने भावरूप अज्ञान की सत्ता को अर्थापत्ति प्रमाण से भी सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि विशुद्धब्रह्मरूप आत्मा में तथा शुक्तिका में मिथ्याभूत अर्थज्ञानात्मक अहंकाररजताध्यास का कोई मिथ्याभूत उपादान ही अन्वेषणीय है। क्योंकि यदि उपादान को सत्य माना जाय तो कार्य के कारणस्वभाव वाला होने के कारण अध्यास के भी सत्यत्व का प्रसंग होगा[4]। मिथ्योपादान को यदि सादि माना जाय तो तथाविध उपादानान्तर की कल्पना का प्रसंग होगा। अतएव मिथ्योपादान को अनादि मानना ही उचित है।[5] इस प्रकार ज्ञानार्थरूप द्विविध अध्यास की अन्यथानुपपत्ति से उसके उपादानभूत मिथ्या अनादिभावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है।[6]

---

१. प्रकाशत्वात् इत्येव हेतूपादाने धारावाहिकविज्ञानेषु, प्रदीपज्वालायां च मध्यवर्तिन्यां व्यभिचारः स्यात् इत्यत उक्तम्—अप्रकाशितार्थेति। (वही)

२. प्रदीपप्रभावत् इत्येवोपन्यस्ते मध्यवर्तिप्रभासु साध्यसाधनवैकल्यमाशंक्य उक्तम्—प्रथमोत्पन्नेति। (वही)

३. तथापि आलोकव्याप्ते देशे यथोक्तसाध्यसाधनत्वं नास्ति इत्यत उक्तम्—अन्धकारे इति। (वही)

४. विशुद्धब्रह्मात्मनि शुक्तिकायां च अहंकार-रजताध्यासस्य अर्थज्ञानात्मकस्य मिथ्याभूतस्य मिथ्याभूतमेव किंचिदुपादानमन्वेषणीयम्। सत्योपादानत्वे कार्यस्य कारणस्वभावतया अध्यासस्यापि सत्यत्वप्रसंगात्। (पं० पा० वि०, पृ० ९०)

५. तस्यापि मिथ्योपादानस्य सादित्वे तथाविधोपादानान्तरकल्पनाप्रसंगात् अनाद्येव तत् मिथ्योपादानं इति कल्पनीयम्। (वही)

६. मिथ्याध्यास एव तथाविधाज्ञानोपादानं कारणमन्तरेण अनुपपद्यमानः तत् कल्पयति। (वही पृ० ९१)

इस तरह विवरणकार प्रकाशात्मयति ने मिथ्याभूत अर्थज्ञानात्मक द्विविध अध्यास के उपादानस्वरूप मिथ्याभूत अनादि भावरूप अज्ञान को प्रत्यक्ष अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर सिद्ध किया है।

इस प्रसंग में विवरणकार ने भेदाभेदवादी भास्करचार्य के उस मत की मीमांसा की है जिसके अनुसार अग्रहण, मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञान के संस्कार से भिन्न अज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में अनपायी, सकल संसार का बीजभूत एवं मोक्षावस्थापर्यन्त दण्डायमान हो।[1] भास्कराचार्य के मतानुसार सुषुप्ति में ज्ञानभाव हो ब्रह्मतत्वानवभास का हेतु है तथा जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं में "मैं मनुष्य हूँ" यह मिथ्याज्ञान एवं उसका संस्कार ही ब्रह्मतत्त्व के अनवभास का कारण है। अतएव इनके मत में अग्रहण मिथ्याज्ञान तथा उसके संस्कार से भिन्न अज्ञान को ब्रह्मतत्त्वानवभास का हेतु मानना उचित नहीं है। "अज्ञान" पद के नञ् का अर्थ यदि अभाव माना जाय, तो अज्ञान पद का अर्थ होगा ज्ञानाभाव। यदि इसका अर्थ 'विरोधी' यह माना जाए, तो ज्ञानविरोधी या मिथ्याज्ञान (भ्रान्तिज्ञान) अज्ञान पद का अर्थ होगा। और यदि 'नञ्' का अर्थ 'अन्य' माना जाए तो ज्ञान से अन्य अथवा मिथ्याज्ञानजनक संस्कार अज्ञान पद का अर्थ होगा। इस प्रकार ज्ञानाभाव, मिथ्याज्ञान और उसका जनक संस्कार ये तीन अज्ञान पद के अर्थ होंगे। ये तीनों ही ब्रह्मतत्त्व के "अस्ति, प्रकाशते" इस अवभास को रोक कर "नास्ति, न प्रकाशते" इत्यादि व्यवहार को उत्पन्न करने में समर्थ हैं, फिर भावरूप आवरण की कल्पना करने का क्या प्रयोजन है?[2]

इस शङ्का के समाधान में विवरणकार का कथन है कि सुषुप्तावस्था में भी अज्ञान संस्कारमात्र से अवस्थित रहता है और वही अज्ञान ब्रह्मतत्त्व के अवभास का प्रतिबन्धक है। अज्ञान के अतिरिक्त और कोई

---

१. न किल अग्रहणमिथ्याज्ञानतत्संस्कारेभ्यः अन्यत् सकलसंसारबीजं अवस्थात्रयेऽपि अनपायि आसंसारविमोक्षात् दण्डायमानमज्ञानं नाम अस्ति, किं तु भ्रान्तिदर्शनं अग्रहणं वा अज्ञानं इति।

(पं० पा० वि०, पृ० १०८)

२. नन्वज्ञानमित्यत्र नञो यद्यभावोऽर्थः तदा ज्ञानाभाव इति स्याद् विरोध्यर्थत्वे च भ्रान्तिज्ञानम्, अन्यार्थत्वे च भ्रान्तिसंस्कारः, तथा च ज्ञानाभावभ्रान्तिज्ञान–तत्संस्कारा एवाज्ञानाभिधानास्त एव ब्रह्मतत्त्वानवभासं जनिष्यन्ति किमनेन भावरूपावरणकल्पनेन? (वि० प्र० सं० पृ० ७१ (

स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप के अनवभास का हेतु नहीं माना जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे दो पुरुषों में भेद होने से पुरुषान्तर का ज्ञान पुरुषान्तर को नहीं होता वैसे ही द्रष्टृरूप जीव और ब्रह्मतत्त्व में भेद होने से जीव को ब्रह्मतत्त्व का अवभास नहीं होता; क्योंकि "वह तू है" (तत्त्वमसि) इत्यादि अभेदप्रतिपादक श्रुतियों से जीव और ब्रह्म का एकत्व सिद्ध है।[१] मिथ्याज्ञान प्रतिबन्ध को भी ब्रह्मतत्त्वानवभास का हेतु नहीं माना जा सकता क्योंकि सुषुप्तावस्था में मिथ्याज्ञान नहीं रहता।[२] मिथ्याज्ञान का संस्कार भी उसका हेतु नहीं बन सकता क्योंकि वह तत्त्वाव-भासका प्रतिबन्धक नहीं होता। रजतभ्रमसंस्कारों के होने पर भी शुक्तिकाका अवबोध दृष्ट है।[३] अग्रहणरूप प्रतिबन्ध ब्रह्मतत्त्वानवभास का हेतु नहीं हो सकता क्योंकि स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है और उसका कभी अभाव नहीं हो सकता।[४] अन्यविषयकज्ञानाभाव को भी स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप के अवभास का प्रतिबन्धक नहीं माना जा सकता।[५] अन्यथा मुक्ति में भी प्रतिबन्ध का प्रसंग होगा।[६] कर्मों को भी ब्रह्मस्वरूपावभास का विरोधी नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वदा अणुमात्र चैतन्य के भी अनवभास का प्रसंग होगा।[७] और जैसे रजतादि का संस्कार अधिष्ठानतत्त्वावभास का प्रतिबन्धक नहीं होता, वैसे ही सुषुप्तावस्था में संस्काररूप कर्म भी ब्रह्मतत्त्वावभास का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता।[८] अतएव सुषुप्तावस्था में स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप के अवभास

---

१. न तावत् सुषुप्तादौ स्वयंप्रकाशब्रह्मस्वरूपानवभासः पुरुषान्तरसंवेदनवत् द्रष्टृ-भिन्नत्वात् इति शक्यं वक्तुम्, एकत्वश्रुतेः। (पं० पा० वि०, पृ० १०६)

२. नापि मिथ्याज्ञानप्रतिबन्धात्, तत्र तस्य अभावात्। (वही)

३. नापि तत्संस्कारप्रतिबन्धात्, भ्रान्तिसंस्काराणां तत्त्वावभासप्रतिबन्धकत्वा-भावात् सत्स्वपि रजतभ्रमसंस्कारेषु शुक्तिकावबोधदर्शनात्। (वही)

४. नापि अग्रहणप्रतिबन्धात्, स्वरूपग्रहणस्य नित्यत्वात्। (वही)

५. स्वयंप्रकाशमाने संवेदने तद्विषयकादाचित्काग्रहणस्य अप्रतिबन्धकत्वात्। (पं० पा० वि०, पृ० १०६)

अन्यज्ञानाभावस्तु स्वयंप्रकाशब्रह्मतत्त्वावभासप्रतिबन्धक्षमः। (वि० प्र० सं०, पृ० ७३)

६. अन्यथा मुक्तावपि प्रतिबन्धप्रसंगात्। (वि० प्र० सं०, पृ० ७३)

७. नापि कर्मणां स्वरूपावभासविरोधिता। सर्वदा अणुमात्रस्यापि चैतन्यस्य अनवभासप्रसंगात्। (पं० पा० वि०, पृ० १०७)

८. संस्कारत्वाच्च कर्मणा भ्रान्तिसंस्कारवत् अप्रतिबन्धकता। (वही)

के प्रतिबन्धक के रूप में अग्रहण, मिथ्याज्ञान उसके संस्कार तथा कर्म से भिन्न भावरूप अज्ञान की कल्पना आवश्यक है।[1] ब्रह्मस्वरूपावभास के प्रतिबन्धक के रूप में अज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु कीकल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि ब्रह्मज्ञान से प्रतिबन्ध की निवृत्ति हुए बिना ब्रह्मस्वरूपावभास सम्भव नहीं है तथा ज्ञान से अज्ञान की ही निवृत्ति सम्भव है, अज्ञानेतर की नहीं।[2]

सुषुप्तावस्था के समान ही जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में भी अग्रहण, मिथ्याज्ञान तथा उसके संस्कार को ब्रह्मतत्त्वानवभास का हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि भेदाभेदवादी भास्कराचार्य के मतानुसार "मैं मनुष्य हूँ" इस ज्ञान को भ्रमरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैसे गाय खण्ड है, गाय मुण्ड है, इस प्रतीति में खण्ड और मुण्ड दोनों का सामानाधिकरण्य देखने से एक ही गोत्व जाति का खण्ड और मुण्ड दोनों व्यक्तियों के साथ प्राभाणिक ही भेद और अभेद माने जाते हैं, वैसे ही "अहं मनुष्यः" "अहं ब्रह्म" इस प्रतीति से एक जीव का मनुष्यपदवाच्य शरीर और ब्रह्म दोनों के साथ भेद और अभेद दोनों ही प्रामाणिक क्यों न माने जायें?[3] "मैं मनुष्य नहीं हूँ, किन्तु ब्रह्म हूँ," यह शास्त्रीय निषेध भी वह गाय खण्ड नहीं, किन्तु मुण्ड है, इसके समान ही उपपन्न है।[4] यदि यहाँ यह कहा जाय कि प्रतिपन्न इदन्तारूप उपाधि में जैसे "यह रजत नहीं है", यह निषेध है वैसे ही प्रतिपन्न आत्मारूप उपाधि में "मैं मनुष्य नहीं हूँ" इस प्रकार मनुष्यत्व का निषेध होने से आत्मा में मनुष्यत्व की प्रतीति भ्रान्त है; तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वैसा होने पर यह गाय खण्ड है इस प्रतीति में खण्डाकार से प्रतिपन्न गोत्वरूप उपाधि में पश्चात्

१. तस्मात् सुषुप्तादौ स्वरूपानवभासव्यवहारः अग्रहणमिथ्याज्ञानतत्संस्कारकर्मभ्यः अन्यदेव किंचित् प्रतिबन्धकं अज्ञानं कल्पयति।
(वही, पृ० १०८)

२. ब्रह्मज्ञानात् प्रतिबन्धनिवृत्तिमन्तरेण स्वविषयावभासायोगात्, ज्ञाननिवर्त्यस्य च अज्ञानत्वात्। (पं० पा० वि०, पृ० १०८)

३. यथा खण्डो गौर्मुण्डो गौरित्यत्रोभयसामान्याधिकरण्येन गोत्वजातेरेकस्या एवोभाभ्यामपि व्यक्तिभ्यां सह भेदाभेदौ प्रामाणिकावेव स्वीक्रियेते तथैवाहं मनुष्योऽहं ब्रह्मेति चैकस्य जीवस्य शरीरब्रह्मभ्यामुभाभ्यामपि सह भेदाभेदौ प्रामाणिकावेव किं नाङ्गीक्रियेते? (वि० प्र० सं०, पृ० ७६)

४. तथा सति खण्डो गौरिति खण्डाकारेण प्रतिपन्ने गोत्वोपाधौ पश्चान्नायं खण्ड इति निषेधात् खण्डप्रतीतेरपि भ्रान्तत्वप्रसंगात्। (वही)

'यह खण्ड नहीं है' इस निषेध से पूर्वकालिक खण्डप्रतीति के भी भ्रान्तत्व का प्रसंग होग।[१] यह भी नहीं कहा जा सकता है कि मुण्ड में खण्ड का निषेध किया जाता है, गोत्वरूप उपाधि में नहीं, क्योंकि मुण्ड में खण्ड की प्रसक्ति ही नहीं है। इस पर यदि यह कहें कि व्यक्त्यवच्छिन्न गोत्व प्रतिपन्न उपाधि है और वहाँ खण्ड का निषेध नहीं किया जाता किन्तु मुण्डत्व-व्यक्त्यवच्छिन्न में ही गोत्व का निषेध किया जाता है, तो प्रकृत स्थल में भी यह कहा जा सकता है कि मनुष्यत्वावच्छिन्न आत्मा प्रतिपन्नोपाधि है और वहाँ मनुष्यत्व का निषेध नहीं किया जाता किन्तु ब्रह्मत्वावच्छिन्न आत्मा में ही मनुष्यत्व का निषेध किया जाता है। दोनों प्रतीतियों के एक समान होने के कारण एक में भ्रमत्व और दूसरी में प्रमात्व कैसे उत्पन्न होगा ? इस प्रकार अनुगत गोत्व के साथ खण्ड-मुण्ड व्यक्ति के तुल्य अनुगत आत्मा के साथ शरीर और ब्रह्म ये दोनों सम्बद्ध हैं, इससे "खण्डो गौः" इस प्रतीति के समान "अहं मनुष्यः" इस प्रतीति को भी भेदाभेदमत में प्रमात्क मानना ही होगा। इस प्रकार भेदाभेदवादी भास्कराचार्य के मत में "मैं मनुष्य हूं" इस प्रतीति के भ्रमात्मक सिद्ध न हो सकने के कारण मिथ्याज्ञान को जाग्रत अवस्था में ब्रह्मस्वरूप के अवभास का प्रतिबन्धक नहीं माना जा सकता। अतएव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में स्वयंप्रकाश ब्रह्म के अनवभास के हेतु वरूप भावरूप अज्ञान की कल्पना नितरां अनिवार्य है।

विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भावरूप अज्ञान को निम्नलिखित अनुमान से भी सिद्ध किया है—समस्त प्रातीतिक कार्य सोपादान है, भावकार्य होने से, घटादि के समान।[२] प्रध्वंस कार्य की व्यावृत्ति के लिए हेतु में "भाव" यह विशेषण जोड़ा गया है। प्रध्वंस के अभावरूप होने के कारण उसे सोपादान नहीं माना जाता। विषयेन्द्रियादि दोष भी यद्यपि प्रातीतिक रजतादि कार्य का कारण है, किन्तु इसे निमित्तकारण ही माना जाता है, उपादान कारण नहीं; क्योंकि यह भ्रान्तिज्ञान के आश्रय

---

१. "नाहं मनुष्यः, किन्तु ब्रह्म" इत्ययं शास्त्रीयनिषेधोऽपि 'नायं खण्डो गौः, किन्तु मुण्डः' इतिवदुपपद्यते। (वही)

२. सर्वं च कार्यं सोपादानम्, भावकार्यत्वात् घटादिवत्।

(पं० पा० वि०. पृ० ६८)

आत्मा में "अवस्थित" नहीं रहता। भ्रान्तिज्ञान का जो आश्रय है, तत्स्थ ही उसका उपादान कारण होता है। अतः विषयेन्द्रियादिदोष को प्रातीतिक रजतादि कार्य का उपादान नहीं माना जा सकता।[1] आत्मा को भी इसका उपादान कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि आत्मा अपरिणामी है।[2] यदि आत्मा को उपादान कारण माना जाय तो इसमें भी परिणामित्व की प्रसक्ति होगी। किंच यदि आत्मा को रजतादि का उपादान माना जाय तो रजतादि को भी आत्मा के समान सत्य मानना पड़ेगा? क्योंकि यह नियम है कि परिणाम सदा परिणामी के समान सत्तावाला ही हुआ करता है।[3] अतएव आत्मा को भी रजतादि विवर्त का उपादान कारण नहीं माना जा सकता। अन्तःकरण को भी रजतादि का उपादान नहीं माना जा सकता; क्योंकि अन्तःकरण को रजतादिभ्रमज्ञान में इन्द्रियसंयोगादि की अपेक्षा होती है।[4] यदि भ्रमज्ञान में इन्द्रियसंयोगादि की अपेक्षा न मानें तो अन्धे पुरुष को भी रजतभ्रम का प्रसंग होगा।[5] अतः भ्रम में इन्द्रियादि संयोगादि की अपेक्षा माननी ही होगी। किन्तु मिथ्यावस्तु के प्रत्ययमात्रशरीर होने से प्रत्यय से पूर्व असिद्ध होने के कारण उसके साथ इन्द्रियसंयोग सम्भव नहीं है।[6] अधिष्ठान के साथ इन्द्रियसंयोग से भ्रान्तिज्ञान का जन्म सम्भव नहीं माना जा सकता; क्योंकि मिथ्यार्थ के साथ इंद्रिय का संयोग हुए बिना मिथ्यार्थज्ञान अनुपपन्न है।[7] यहाँ यह भी नहीं मान सकने कि "संस्कारोपनीततया यह वही देवदत्त है" इस प्रत्यभिज्ञा में तत्त्वांश की प्रतीति के समान ही इस प्रतीति के भी अभ्रान्तित्व की प्रसक्ति होगी।[8] यह भी नहीं कहा जा सकता कि संसर्गांश के असत्त्व के कारण यहाँ भ्रान्तित्व है; क्योंकि

---

१. भ्रान्तिज्ञानस्य य आश्रयः तत्स्थमेव तदुपादानं वक्तव्यम्, तच्च निमित्तकारणेषु कायादिषु नियतं न भवति। (वि० ता० दी, पृ० ७२)

२. न, आत्मनः अपरिणामित्वात्। (पं० पा० वि०, पृ० ७०)

३. परिणामस्य परिणामिसमानसत्ताकत्वनियमात्। (वि० भा०प्र०, पृ० ७२)

४. अन्तः करणस्य च इन्द्रियसंयोगादिसापेक्षत्वात्। (पं० पा० वि०, पृ० ७०)

५. अन्यथा अन्धादेरपि रजतभ्रमः स्यात्। (वि० भा० प्र०, पृ० ७०)

६. मिथ्यार्थस्य प्रत्ययमात्रशरीरत्वात् प्रत्ययात् प्राक् असिद्धेः तत्संयोगात् तद्विषयः प्रत्ययो जायते इति अयुक्तम्। (वि० ता० दी,० पृ० ७०)

७. नैवम्—तत्संयोगाभावे तत्प्रतीत्यनुपपत्तेः, (वि० ता० दी०, पृ० ७१)

८. तद्वदेव अभ्रान्तत्वापत्तेः। (वही)

उसके असत्त्व से संयोग सम्भव न होने के कारण अपरोक्षत्वाभाव का प्रसङ्ग होगा।[1] इस प्रकार इन्द्रियसंयोगादि सम्भव न होने से अन्तःकरण को रजतादिविवर्त का उपादान नहीं माना जा सकता। इदन्त्वाकार से अनुगत शुक्त्यादि के इदमंश को भी रजतादिविवर्त का उपादानकारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि सत्य वस्तु का मिथ्यावस्तु के रूप में परिणामित्व अनुपपन्न है।[2] रजतादिविवर्त का अधिष्ठानज्ञानान्तर से बाधित हो जाने से मिथ्यात्व सिद्ध ही है। अतएव शुक्त्यादि को भी रजतादि का उपादान कारण नहीं माना जा सकता। इसलिए मिथ्याज्ञान और मिथ्यार्थ दोनों के मिथ्या होने के कारण मिथ्याभूत अज्ञान को ही उसका उपादान कारण स्वीकार करना उचित है।[3]

विवरण प्रस्थान के समान भामतीप्रस्थान में अज्ञान की भावरूपता को स्वीकार किया गया है। देवताधिकरण में कल्पतरुकार अमलानन्द का कथन है कि वाचस्पति को अविद्या की भावरूपता स्पष्ट रूप से अभिमत है। अविद्या को वे भ्रम या भ्रम के संस्कार से सर्वथा भिन्न मानते हैं।[4] वेदों के नित्यत्व को सिद्ध करने के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि यद्यपि महाप्रलय के समय अन्तःकरणादि वृत्तिशून्य हो जाते हैं, तथापि स्वकारणभूत अनादि अनिर्वाच्य अविद्या में लीन होकर सूक्ष्म रूप से अवस्थित रहते हैं।[5] पुनः सृष्टिकाल में परमेश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर वे उससे उसी प्रकार आविर्भूत होते हैं, जैसे वर्षाऋतु की समाप्ति पर मृद्भाव को प्राप्त मण्डूक शरीर जलधारा से सिक्त होकर पुनः मण्डूक देह को प्राप्त होते हैं अथवा जैसे कूर्म के देह में विलीन अंग उससे निकलते हैं।[6] इस प्रकार अविद्या में लीन अन्तःकरणादि के

---

१. तर्हि तस्य असत्त्वेन संप्रयोगायोग्यता अपरोक्षत्वाभावप्रसंगात्। (वही)

२. सत्यस्य मिथ्यावस्तु परिणामित्वानुपपत्तेः (वि० भा० प्र०, पृ० ७२)

३. उभयोरपि भ्रान्तिज्ञानतदर्थयोः मिथ्यात्वात् मिथ्याभूतस्यैव अज्ञानस्य उपादानत्वं युक्तम्। (वि० ता० दी०, पृ० ७२)

४. भ्रमात्संस्कारतश्चान्या मंडूकमुदाहृतेः।
भावरूपा मता विद्या स्फुटं वाचस्पतेरिह॥
(ब्र० सू० १।३।३० देवताधिकरण, वे० क०, पृ० ३३३)

५. तथापि स्वकारणेऽनिर्वाच्यायामविद्यायां लीनाः सूक्ष्मेण शक्तिरूपेण कर्मविक्षेपिकाऽविद्यावासनाभिः सहावतिष्ठन्त एव। (भामती, पृ० ३३३)

६. ते चावधिं प्राप्य परमेश्वरेच्छाप्रचोदिता यथा कूर्मदेहे निलीनान्यंगानि ततो

पूर्ववासनावश आविर्भाव का प्रतिपादन करते हुए भामतीकार ने स्पष्टरूप से अविद्या को विद्या का अभावरूप न मानकर भावरूप में स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में प्रदर्शित कूर्माङ्ग तथा मण्डूक-शरीर का उदाहरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वाचस्पति के मत में अविद्या भावरूप एवं अनादि है।

भावरूप अज्ञान के सम्बन्ध में अमलानन्द कहते हैं कि यद्यपि अज्ञान साक्षिसिद्ध है तथापि आगमादि प्रमाणों के द्वारा उसके असत्त्व की निवृत्ति की जाती है।[1] इस पर परिमलकार अप्पयदीक्षित का कहना है कि साक्षी में अध्यस्त रूप से अज्ञान के सदा भासमान होने पर इसमें आगम का प्रामाण्य नहीं, क्योंकि आगम अप्राप्तार्थविषयक ही होता है। अनुमान का भी इसमें प्रामाण्य नहीं, क्योंकि यहाँ वह सिद्धसाधन मात्र है। अज्ञान के सम्बन्ध में चक्षु आदि की अप्रवृत्ति तो स्पष्ट ही है।[2] अतएव "मैं अज्ञ हूँ", "मैं तुम्हारे कहे हुए अर्थ को नहीं जानता" इस प्रकार साक्षिसिद्धि भावरूप अज्ञान के सम्बन्ध में असत्त्वशंका की विनिवृत्ति के लिए ही आगमादि प्रमाणों की अपेक्षा है।

भावरूप अज्ञान के सम्बन्ध में कल्पतरुकार ने निम्नलिखित अनुमान प्रस्तुत किया है। डित्थप्रमा डित्थगत जो प्रमाभाव उसके अनधिकरण अनादिस्वप्रागभाव की निर्वर्तिका है, प्रमा होने से, डपित्थप्रमा के समान।[3] इस अनुमानवाक्य से अनादि भावरूप अविद्या की सिद्धि होती है। यहाँ "प्रमाभावानधिकरण" इस पद से अविद्या की भावरूपता सिद्धि होती है।

निःसरन्ति यथा वा वर्षापाये प्राप्तमृद्भावानि मण्डूकशरीराणि''''पुनर्मण्डूकदेहभावमनुभवन्ति। (वही)

१. साक्षिसिद्धस्य ह्यज्ञानस्यागमादिभिरसत्त्वनिवृत्तिः क्रियते। (वे० क०, पृ० ३३३)

२. सदा साक्षिण्यध्यस्ततया भासमानेऽज्ञाने नागमस्य प्रामाण्यम्, तस्य अप्राप्तार्थविषयत्वात्। नानुमानस्य; सिद्धसाधनत्वात्। चक्षुराद्यप्रवृत्तिः स्पष्टा। (वे० क० प० पृ० ३३३)

३. प्रमाणं तु डित्थप्रमा, डित्थगतत्वे सति यः प्रमाभावस्तस्यानधिकरणानादिस्वप्रागभावनिर्वर्तिका, प्रमात्वाद् डपित्थप्रमावत्। (वही, वे० क०, पृ० ३३३)

भावरूप अविद्या में अर्थापत्ति भी प्रमाण है। मैं तुम्हारे कहे हुए अर्थ को नहीं जानता" इस व्यवहार की अन्यथा उपपत्ति न होने से अर्थापत्ति भी अविद्या की सिद्धि में प्रमाण है।[१]

इस प्रकार कल्पतरुकार के मत में यद्यपि भावरूप अविद्या साक्षि-सिद्ध है तथापि प्रतिपक्षियों की शंका की निवृत्ति के लिए इसमें अनुमानादि प्रमाणों की भी अपेक्षा होती है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि अविद्या को भाव रूप मानने का क्या प्रयोजन है। जगद्भ्रम की सिद्धि तो अविद्या को विद्या का अभावरूप मानने पर भी सम्भव है। जैसे शुक्ति के अज्ञान अर्थात् ज्ञानाभाव से रजतभ्रम होता है वैसे ही ब्रह्म के अज्ञान से जगद्भ्रम भी सम्भव है।[२] जगद्भ्रम को सिद्धि के लिए अविद्या को भावरूप क्यों माना जाय ?

इस शंका के सम्बन्ध में कल्पतरुकार अमलानन्द कहते हैं कि यह शङ्का समीचीन नहीं, क्योंकि अविद्या के अभाव में स्वयंप्रभ प्रत्यग्ब्रह्म का स्वविषयक प्रमाण के अनुदय में भी यथावत् प्रकाश होने से जगद्भ्रम के अभाव का प्रसंग होगा। क्योंकि स्वयंप्रभ संवेदन स्वविषयकप्रमाण के अनुदय से प्रकाशित न होता हो, यह बात नहीं है।[३] अतः भावरूप अविद्या को माने बिना जगद्भ्रम की समुचित व्याख्या सम्भव नहीं है। यद्यपि अविद्या स्वतः एव जड़ शुक्ति का आवरण नहीं करती तथापि शुक्तिस्थ अनिर्वाच्य भावरूप रजत के उपादान के रूप में अविद्या को मानना आवश्यक है।[४]

---

१. त्वदुक्तमर्थं न जानामीति व्यवहारान्यथानुपपत्तिश्च मानम्।
(वही, वे० क०, पृ० ३३)

२. ननु किं भावरूपयाऽविद्यया प्रयोजनम् ? अज्ञातशुक्तिब्रह्मविवर्तत्वेन रजतजगद्भ्रमसिद्धेः, अज्ञातत्वस्य च ज्ञानाभावादुपपत्तेः। (वही)

३. स्वयंप्रभप्रत्यग्ब्रह्मणः स्वविषयप्रमाणानुदयेऽपि यथावत्प्रकाशापत्तौ जगत्भ्रमाभावप्रसंगात्। न हि स्वयंप्रभं संवेदनं स्वविषयप्रमाणानुदयान्न भाति।
(वे० क०, पृ० ३३३)

४. यद्यपि शुक्तिं स्वत एव जडामविद्या नावृणोति, तथापि तत्स्थानिर्वाच्यभावरूपरजतोपादानत्वेनेष्टव्येति भावरूपाऽविद्या सप्रयोजना।
(वे० क०, पृ० ३३३)

इस प्रकार भामतीप्रस्थान में भी विवरणप्रस्थान के समान ही अविद्या की भावरूपता को स्वीकार किया गया है।

३. अविद्या का एकत्व या नानात्व ?

यद्यपि भामती तथा विवरण दोनों प्रस्थानों में अविद्या को अनादि एवं भावरूप माना गया है, तथापि उसके एकत्व या नानात्व के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद दृष्टिगत होता है। भामतीकार वाचस्पतिमिश्र के मत में प्रतिजीव में रहने वाली मूलाविद्या भिन्न-भिन्न है, किन्तु विवरणकार प्रकाशात्मयति ने मूलाविद्या के एकत्व को ही स्वीकार किया है नानात्व को नहीं। वाचस्पति मिश्र के पूर्व ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र ने भी अनेक जीववाद के समर्थन के लिए मूलाविद्या के नानात्व को स्वीकार किया था उन्हीं के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने भी भिन्न-भिन्न जीवों में रहने वाली अविद्या के नानात्व का समर्थन किया है। वाक्यान्वयाधिकरण में भामतीकार ने प्रतिजीव में रहने वाली अविद्या के भेद को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि जैसे एक ही बिम्ब की मणि, कृपाण इत्यादि भिन्न-भिन्न गुहाएँ होती हैं, वैसे ही ब्रह्म को भी प्रतिजीव में रहनेवाली भिन्न-भिन्न अविद्यारूप गुहाएँ हैं।[1] इसी प्रकार आनुमानिकाधिकरण में अविद्या के नानात्व के समर्थन में वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि अविद्या के नानात्व के कारण ही जीवों के बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था सङ्गत होती है। यदि सभी जीवों में रहनेवाली अविद्या एक ही होती तो एक जीव में विद्या का उदय होने से अविद्या का नाश हो जाने पर सभी जीवों की मुक्ति हो जाती और इस प्रकार समस्त संसार के उच्छेद का प्रसङ्ग हो जाता। किन्तु प्रत्येक जीव में रहने वाली अविद्या के भेद को स्वीकार करने पर उपर्युक्त दोष की प्रसक्ति नहीं होती। इस मत में तो जिस जीव में विद्योदय होता है, उसी की अविद्या का नाश होता है, जीवान्तर की अविद्या का नहीं। इसलिए अधिकरण के भेद से विद्या और अविद्या दोनों की स्थिति सम्भव है। विद्या और अविद्या का विरोध तभी होता है, जबकि ये दोनों एक ही अधिकरण में हों। भिन्न-भिन्न अधिकरण में होने पर इनमें कोई विरोध नहीं होता।[2] इस प्रकार अविद्या के नानात्व पक्ष मे एक जीव में विद्यो-

---

१. यथा हि बिम्बस्य मणिकृपाणादयो गुहाः, एवं ब्रह्मणोऽपि प्रतिजीवं भिन्ना अविद्या गुहा इति। (भामती. पृ० ४२१)

२. भिन्नाधिकरणयोर्विद्याविद्ययोरविरोधात्। (भामती पृ० ३७७)

दय होने से सभी जीवों में अविद्या के नाश एवं समस्त संसार के उच्छेद का प्रसङ्ग नहीं होता। किन्तु अविद्या के एकत्वपक्ष में उपर्युक्त दोष का परिहार सम्भव नहीं है। इस शङ्का के समाधान में कि यदि प्रत्येक जीव में रहनेवाली अविद्या भिन्न-भिन्न है, तो श्रुतियों में अविद्या के लिए "अव्यक्तम्", "अव्याकृतम्" इत्यादि एकवचनान्त पदों का प्रयोग क्यों किया गया है, भामतीकार कहते हैं कि यद्यपि प्रतिजीव में रहनेवाली अविद्या के भिन्न-भिन्न होने से वह अनेक है, तथापि अविद्यात्वसामान्य के हेतु से वहाँ एकवचन का प्रयोग हुआ है और यह प्रयोग औपचारिक है।[1]

किन्तु विवरणकार प्रकाशात्मयति ने मूलाविद्या के नानात्व को स्वीकार नहीं किया और इसे एक ही माना है।[2] मूलाविद्या को एक मानते हुए भी उन्होंने अवस्थाभेद से इसकी अनेकता को स्वीकार किया है और इस प्रकार जीवों के बन्धमोक्ष की व्यवस्था का उपादान किया है। यद्यपि मूलाविद्या एक ही है, तथापि इसकी अवस्थाएँ अनेक हैं। जिस जीव में विद्योदय होने से अविद्या का नाश हो जाता है वह मुक्त हो जाता है, किन्तु जिसमें ऐसा नहीं होता वह बद्ध रहता है। इस तरह मूलाविद्या के एकत्वपक्ष में भी इसके अवस्थाभेद के अधार पर जीवों के बन्ध और मोक्ष की व्यस्था उपपन्न है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि मूलाविद्या को एक माना जाय तो शुक्तिकाज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से आत्मा में अज्ञान की स्थिति कैसे मानी जा सकती है और ऐसी स्थिति में शुक्तिका के ज्ञान से ही मोक्ष का प्रसङ्ग होगा। अतः प्रत्येक विषय में रहने वाले अज्ञान का भेद मानना आवश्यक है। यदि विषय के भेद से अज्ञान का भेद न माना जाय तो या तो अज्ञान को अध्यास का उपादान नहीं मानना होगा और या फिर उपादान की निवृत्ति के बिना ही अध्यास की निवृत्ति माननी पड़ेगी।

उपर्युक्त शङ्का के समाधान में विवरणकार का कथन है कि शुक्ति-

---

१. अविद्यात्वमात्रेण च एकत्वोपचारः
"अव्यक्तमिति च अव्याकृतमिति च" (वही, पृ० ३७८)

२. तस्मात् ब्रह्मैव स्वमायया अविद्यया विवर्तते।
(पं० पा० वि०, पृ०६९२)

का के ज्ञान से रजतरूप अध्यास का अपने कारण में प्रविलयमात्र किया जाता है, जैसे मुसलप्रहार से घट का।[1] अतएव शुक्तिका के ज्ञान से मूलाविद्या का आत्यन्तिक समुच्छेद नहीं होता जिससे कि शुक्तिका-ज्ञान से मुक्ति का प्रसङ्ग हो। पूर्वोक्त शंका का समाधान विवरणकार ने मूलाविद्या के अवस्थाभेद के आधार पर भी किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि मूलाविद्या एक ही है, तथापि उसकी अवस्थाएँ अनेक हैं। मूलाविद्या के ये अवस्थाभेद अनिर्वचनीय रजत आदि के उपादान हैं और शुक्तिका आदि के ज्ञान से ये अध्यास के साथ ही निवृत्त हो जाते हैं।[2] तत्त्वदीपनकार ने भी "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादि वाक्य से तथा कल्पनालाघव से मूलाज्ञान के एकत्व को स्वीकार किया है तथा व्यवहारनिर्वाह के लिए मूलाज्ञान की अनन्त अवस्थाएँ मानी हैं।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि मूलाविद्या के अनादित्व एवं भावरूपत्व के सम्बन्ध में दोनों प्रस्थानों में ऐकमत्य है, तथापि इसके एकत्व या नानात्व के प्रश्न पर इनमें मतभेद है। भामतीकार जहाँ जीव के नानात्व के उपपदान के लिए अविद्या के नानात्व को स्वीकार करते हैं, वहाँ विवरणकार तथा उनके अनुयायी मूलाविद्या के एकत्व को स्वीकार करते हुए भी उसके अवस्थाभेद के आधार पर जीव के नानात्व का उपपादन करते हैं।

४. अविद्या का आश्रय ब्रह्म या जीव ?

अविद्या के आश्रय के प्रश्न पर भी भामतीप्रस्थान तथा विवरण-प्रस्थान में पर्याप्त मतभेद है। भामतीकार अविद्या का आश्रय जीव को मानते हैं जबकि विवरणकार के मत में अविद्या का आश्रय ब्रह्म है। अध्यास भाष्य में वाचस्पतिमिश्र ने जीव को कार्य और कारणरूप

---

१. अस्मिन् पक्षे शुक्तिकादिज्ञानेन रजताद्यध्यासानां स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते, मुसलप्रहारेणेव घटस्य।

(पं० पा० वि०, पृ० ९८)

२. अथवा मूलाज्ञानस्यैव अवस्थाभेदाः
रजताद्युपादानानि शुक्तिकादिज्ञानैः
सहाध्यासेन निवर्तन्ते इति कथ्यताम्। (पं० पा० वि०, पृ० ९९)

३. तत्र तत्त्वदीपने—"मायां तु प्रकृति"।

अविद्याद्वय का आधार बताया है।[1] समन्वयाधिकरण में उन्होंने ब्रह्म के अविद्याश्रयत्व पक्ष का खण्डन करते हुए जीव को अविद्या का आश्रय माना है। वे कहते हैं कि ब्रह्म नित्य शुद्ध है अतः वह अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता; अविद्या का आश्रय तो जीव ही हो सकता है।[2] सर्वज्ञ-प्रसिद्धाधिकरण में भी उन्होंने जीव को ही अविद्या का आश्रय माना है तथा निरुपाधिक ब्रह्म के अविद्याश्रयत्व का निषेध किया है।[3] अनुमानाधिकरण'' में वे कहते हैं कि यद्यपि अविद्या का आश्रय जीव है तथापि अविद्या क्योंकि निमित्तरूप से अथवा विषयरूप से ईश्वर का आश्रय लेती है, अतएव वह ईश्वराश्रया कहलाती है; इसलिए नहीं कि ईश्वर अविद्या का आधार है। विद्यास्वभाव ब्रह्म अविद्या का आधार नहीं हो सकता।[4] इसी प्रकार वाक्यान्वयाधिकरण में भामतीकार कहते हैं कि यद्यपि विद्यास्वभाव परमात्मा में अविद्या साक्षात् नहीं रहती तथापि परमात्मा के प्रतिबिम्बकल्प जीव के द्वारा वह परमात्माश्रित कहलाती है।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने अपने ग्रन्थ में आद्योपान्त जीव को ही अविद्या का आश्रय माना है और ब्रह्म को विद्यास्वभाव बतलाकर उसके अविद्याश्रयत्व का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है।

इस प्रसङ्ग में यह उल्लेखनीय है कि वाचस्पतिमिश्र के पूर्व मण्डन-

---

१. कार्यकारणाविद्याद्वयाधारः अहंकारास्पदं संसारी सर्वानर्थसंभारभाजनं जीवात्मा (भामती १।१।१ पृ० ४५)

२. नाविद्या ब्रह्माश्रया. किंतु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तम्। तेन नित्यशुद्धमेव ब्रह्म। (भामती, १।१।४, पृ० १२६)

३. अनाद्यविद्यावच्छेदलब्धजीवभावः पर एवात्मा स्वतो भेदेनावभासते। तादृशानां च जीवानामविद्या, न तु निरुपाधिनो ब्रह्मणः।
(भामती, १।२।६, पृ० २३५)

४. जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्ततया विषयतया वा ईश्वरमाश्रयत इति ईश्वराश्रयेत्युच्यते; न त्वाधारतया। विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेः।
(भामती, १।४।३, पृ० ३७८)

५. अविद्योपादानं च यद्यपि विद्यास्वभावे परमात्मनि न साक्षादस्ति, तथापि तत्प्रतिबिम्बकल्पजीवद्वारेण परस्मिन् उच्यते।
(भामती, १।४।२२, पृ० ४२१)

मिश्र ने भी अविद्या का आश्रय जीव को माना था। वाचस्पतिमिश्र ने उनसे ही इस सिद्धान्त को ग्रहण किया है। ब्रह्मसिद्धि में अविद्याश्रयत्व के प्रश्न पर विचार करते हुए मण्डनमिश्र कहते हैं कि "अविद्या किसकी है, इस प्रश्न उत्तर में हमारा कथन है कि यह जीव की है। यदि शङ्का हो कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्म ही जीवात्मा रूप से शरीर में अनुप्रविष्ट है, तो इसके उत्तर में हमारा कथन है कि पारमार्थिक दृष्टि से यह बात सत्य है, किन्तु कल्पना से जीव ब्रह्म से भिन्न है। इस पर प्रश्न होता है कि किसकी कल्पना से यह भेद है, ब्रह्म की कल्पना से तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म के विद्यात्मक होने के कारण वह कल्पनाशून्य है।"[1] जीवों की कल्पना भी इस भेद का कारण नहीं मानी जा सकती, क्योंकि कल्पना के पूर्व उनका अभाव होने से इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग होता है।[2] जीवविभाग कल्पनाधीन है तथा कल्पना जीवाश्रित है। इस दोष के समाधान में यह कहा जाता है कि जीव तथा अविद्या के बीजांकुर संतानों के समान अनादि होने के कारण इतरेतराश्रयदोष की प्रसक्ति नहीं होती।[3] उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि मण्डनमिश्र ने अविद्या का आश्रय जीव को ही माना है, ब्रह्म को नहीं। उन्होंने ब्रह्म के अज्ञानाश्रयत्व का खण्डन ब्रह्म के विद्यात्मकत्व के आधार पर किया है। जीव को अविद्याश्रय मानने में जिस इतरेतराश्रयदोष की प्रसक्ति होती है, उसका निराकरण बीजांकुर के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। मण्डन पृष्ठसेवी वाचस्पति मिश्र ने भी जीव को ही अविद्या का आश्रय माना है तथा इतरेतराश्रयदोष का निराकरण भी मण्डनमिश्र के समान ही किया है। ब्रह्म के अविद्याश्रयत्व का खण्डन भी मण्डनमिश्र की युक्ति के आधार पर ही किया है।

अभी हम कह चुके हैं कि जीव को अविद्या का आश्रय स्वीकार

---

१. यत्तु कस्याविद्येति जीवानामिति ब्रूमः। ननु न जीवा ब्रह्मणो भिद्यन्ते; एवं ह्याह "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" इति। सत्यं परमार्थतः, कल्पनया तु भिद्यन्ते। कस्य पुनः कल्पना भेदिका? न तावद् ब्रह्मणः, तस्य विद्यात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्। (ब्रह्मसिद्धि, पृ० १०)

२. नापि जीवानाम्, कल्पनया प्राक् तदभावात् इतरेतराश्रयप्रसंगात्। (वही)

३. अनादित्वादुभयोरविद्याजीवयोर्बीजांकुरसंतानयोरिव नेतरेतराश्रयत्वमवक्लृप्तिमावहति। (वही)

करने में एक कठिनाई उपस्थित होती है। अविद्या के होने पर जीवात्म-विभाग होगा और जीवात्म विभाग होने पर ही अविद्या जीवाश्रित हो सकेगी। इस प्रकार जीव को अविद्या का आश्रय मानने पर इतरेतराश्रयदोष की प्रसक्ति होती है। इस दोष का निवारण करते हुए भामतीकार वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि जीव और अविद्या के अनादि होने के कारण बीज और अंकुर के समान इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं।[1] इस पर यह शङ्का होती है कि बीजांकुर के दृष्टान्त में इतरेतराश्रयदोष नहीं है क्योंकि जो बीज जिस अंकुर का कारण है, वही बीज उस अंकुर का कार्य नहीं अपितु एक अंकुरान्तर का कार्य है। इसी तरह जो अंकुर जिस बीज का कारण है, वही अंकुर उस बीज का का कार्य नहीं है। अतएव बीज और अंकुर की उत्पत्ति में इतरेतराश्रयदोष नहीं है। बीज और अंकुर दोनों ही प्रवाहरूप से अनादि हैं। किन्तु यदि प्रकृतस्थल में भी जीव और अविद्या को बीज और अंकुर के समान परस्परोत्पत्तिहेतु माना जाय तो जीव के अनित्यत्व की प्रसक्ति होगी। अतः जीव और अविद्या को बीजांकुर के समान परस्परोत्पत्तिहेतु नहीं माना जा सकता। इस शङ्का के समाधान में कल्पतरुकार अमलानन्द का कथन है कि यहाँ बीजांकुर के दृष्टान्त से उत्तरोत्तर जीवाभिव्यक्तियों का पूर्वपूर्वभ्रमनिमित्तकत्व का प्रतिपादन ही भामतीकार को अभिष्ट है; अतः जीव के अनित्यत्व की शङ्का समीचीन नहीं है।[2]

इतरेतराश्रयदोष के सम्बन्ध में कल्पतरुकार का कथन है कि उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा स्थिति के प्रतिबन्ध के द्वारा ही आत्माश्रय तथा इतरेतराश्रय में दोष होता है, अन्यथा नहीं।[3] उत्पत्ति में आत्माश्रयत्व के प्रतिबन्धक होने से कार्यकारणभाव की ही असिद्धि हो जाती है।

---

१. न च अविद्यायां सत्यां जीवात्मविभागः, सति च जीवात्मविभागे तदाश्रयाविद्येत्यन्योन्याश्रयमिति सांप्रतम्; अनादित्वेन जीवाविद्ययोर्बीजांकुरवत्तत्वकल्पतेरयोगात्। (भामती, १।२।६, पृ० २३५)

तथा—न चैवमन्योन्याश्रयो जीवविभागाश्रयाविद्या अविद्याश्रयश्च जीवविभाग इति; बीजांकुरवदनादित्वात्। (भामती, १।४।२२, पृ० ४२१)

२. जीवाविद्ययोर्बीजांकुरवद्धेतुमत्त्वे जीवानित्यत्वं स्यात्, तस्मादुत्तरोत्तराभिव्यक्तीनां पूर्वपूर्वभ्रमनिमित्तकत्वमत्रोक्तम्। (वे० क०, १।२।६, पृ० २३६)

३. उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धेन ह्यात्माश्रयस्य दोषता। (वे० क०, वही)

कारण का कार्य से पूर्ववृत्तित्व आवश्यक है। किन्तु कोई स्वयं अपना पूर्ववर्त्ती नहीं हो सकता। अतः कोई स्वयं अपना कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार उत्पत्ति में आत्माश्रयत्व से कार्यकारणभाव की सिद्धि सम्भव नहीं। इसी तरह उत्पत्ति में इतरेतराश्रयत्व से भी कार्य-कारणभाव की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि ए को बी का कारण माना जाय और बी को ए का कारण माना जाय तो न तो ए की उत्पत्ति की व्याख्या सम्भव है और न ही बी की। उत्पत्ति के समान ज्ञप्ति में भी इतरेतराश्रयत्व दोष का कारण होता है। यदि घट-ज्ञान को इन्द्रियज्ञानाधीन मानें और इन्द्रियज्ञान को घटज्ञानाधीन मानें तो दोनों ज्ञानों के इतरेतराश्रित होने के कारण न तो घट का ज्ञान सम्भव हो सकेगा और न ही इन्द्रिय का ज्ञान। घट का ज्ञान इन्द्रियाधीन तभी माना जा सकता है जब कि इन्द्रिय का ज्ञान घटज्ञान से निरपेक्ष माना जाय। अतएव उत्पत्ति के समान ज्ञप्ति में भी इतरेतराश्रयत्व दोष का कारण होता है। इसी प्रकार स्थिति में भी इतरेतराश्रयत्व दोष का कारण होता है। यदि कुण्ड और बदर दोनों की स्थिति इतरेतराश्रित हो तो इनमें से किसी की भी स्थिति की व्याख्या सम्भव नहीं है। इस प्रकार हमने देखा कि उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा स्थिति के प्रतिबन्धक रूप में इतरेतराश्रयत्व दोष का कारण होता है।

किन्तु प्रकृतस्थल में जीव और अविद्या में इतरेतराश्रयत्व दोष का कारण नहीं बन सकता। जीव और अविद्या दोनों के अनादि होने के कारण इनकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः उत्पत्तिविषयक इतरेतराश्रयता इन दोनों के बीच नहीं है। ज्ञप्ति के सम्बन्ध में भी इनमें इतरेतराश्रयता नहीं है। क्योंकि जीव की प्रतीति स्वतः होती है, जबकि अविद्या की प्रतीति जीव के बल पर होती है। स्थिति के सम्बन्ध में भी जीव और अविद्या के बीच इतरेतराश्रयता नहीं है; क्योंकि जीव और अविद्या दोनों के अमूर्त होने के कारण इनमें कुण्ड और बदर के समान अधरोत्तरीभाव सम्भव नहीं है। इस तरह जीव और अविद्या के बीच न तो उत्पत्ति में इतरेतराश्रयता है, न ज्ञप्ति में और न ही स्थिति में। उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा स्थिति के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर इतरेतराश्रयता दोष का कारण नहीं होती। अवच्छेद्यऔर अवच्छेदक रूप इतरेतराश्रयता जो जीव और अविद्या के बीच विद्यमान है, दोष का कारण नहीं। इस प्रकार की इतरे-

तराश्रयता तो प्रमाण प्रमेय आदि में भी विद्यमान है।[१] किन्तु वह दोष का कारण नहीं मानी जाती। प्रमेयत्वाकारावगाहि प्रमाण निरूपकप्रमेयावच्छेद है, तथा प्रमेय अपने विशेषणीभूत प्रमाण से अवच्छेद्य है। इस प्रकार प्रमाण और प्रमेय के बीच भी इतरेतराश्रयता है, किन्तु इसे दोष का कारण नहीं माना जाता। अतएव जीव और अविद्या के बीच अवच्छेद्य-अवच्छेदक रूप इतरेतराश्रयता होने पर भी कोई दोष नहीं है।[२]

किन्तु इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने प्रमाण और प्रमेय के बीच इतरेतराश्रयता को प्रदर्शित करते हुए प्रमाण और प्रमेय इन दोनों पदार्थों का खण्डन किया है। इस लिए प्रमाण-प्रमेय के दृष्टान्त के आधार पर भी जीव और अविद्या के इतरेतराश्रयत्वरूप दोष का निवारण सम्भव नहीं है।

वस्तुतस्तु अविद्याश्रयत्व ही जीवत्व है। जहां-जहां जीवत्व है वहां-वहां अविद्याश्रयत्व है और जहां-जहां अविद्याश्रयत्व है, वहां-वहां जीवत्व है। इस प्रकार जीवत्व तथा अविद्याश्रयत्व का विचार समसामयिक है। जैसे त्रिभुज और त्रिकोणावच्छिन्नक्षेत्र का विचार समसामयिक है, इनमें कोई पहले और कोई पीछे नहीं, वैसे ही जीवत्व तथा अविद्याश्रयत्व के विचार के समसामयिक होने से इनमें इतरेतराश्रयत्वरूप दोष की प्रसक्ति नहीं होती। इस प्रकार जीव को अज्ञान का आश्रय मानने पर जिस इतरेतराश्रयत्वरूप दोष की प्रसक्ति होती है, उसके निराकरण का प्रयत्न भामतीप्रस्थान के समर्थक विचारकों की ओर से किया गया है तथा जीव को अज्ञान का आश्रय माना गया है। अनन्तकृष्णशास्त्री इस सम्बन्ध में कहते हैं कि "मैं अज्ञ हूं" इस प्रकार का अनुभव भी जीव के अविद्याश्रयत्वपक्ष का समर्थक है। "ज्ञाज्ञौ" यह भी ज्ञ और अज्ञ शब्द से क्रमशः ईश्वर और जीव का बोध कराती हुई जीव के अविद्याश्रयत्व पक्ष का समर्थन करती है।[३] उनका कथन है कि घटादिप्रत्यक्षज्ञान में अन्तःकरण-

---

१. न चानयोरुत्पत्तिः अनादित्वात्, प्रतीतिस्तु, जीवस्य स्वतस्तद्बलादविद्यायाः। ....अपि च नैव कुण्डबदरवदधरोत्तरीभावः जीवाविद्ययोरमूर्तत्वात्। अवच्छेद्यावच्छेदकं तु तत्रेतरेतरापेक्षं प्रमाणप्रमेयादिषु सुलभोदाहरणम्।
(वे० क०, वही)

२. प्रमेयत्वाकारावगाहि प्रमाणं निरूपकप्रमेयावच्छेद्यं, प्रमेयं च स्वविशेषणीभूत-प्रमाणावच्छेद्यमित्येवमादिष्ववच्छेद्यावच्छेदकत्वस्येतरेतरतन्त्रत्वं दृष्टम्।
(वे० क० प०, वही)

३. ब्र० सू० शां० भा० १।१।१ (अनन्तकृष्णशास्त्री, टिप्पणी, पृ० ४)

वृत्ति के निर्गमन के द्वारा प्रमातृचैतन्य तथा विषयचैतन्य के अभेद के ग्रहण का सिद्धान्त भी इसी पक्ष का समर्थक है।[1] विवरणप्रस्थानानुयायी भी अवस्थाअज्ञान को जीवाश्रित ही मानते हैं। अन्यथा तत्त्वज्ञान से अज्ञानमात्र का विनाश मानने पर मूलाविद्या के विनाश से एक की मुक्ति होने पर सबकी मुक्ति का प्रसंग होगा। इस प्रकार भामतीप्रस्थान में जीव के अविद्याश्रयत्व पक्ष का समर्थन किया गया है।

विवरणप्रस्थान में अविद्या का आश्रय तथा विषय दोनों ही ब्रह्म को माना गया है। तथा अविद्या के आश्रय और विषय के भेद का निराकरण किया गया है। विवरणकार प्रकाशात्मयति (प्रकाशात्मा) कहते हैं कि अविद्या आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा नहीं करती अपितु एक ही वस्तु में आश्रयत्व तथा आवरणत्व रूप दोनों कार्यों को सम्पन्न करती है।[2] जैसे अन्धकार अपने आश्रयभूत प्रदेश का आवरण करता है, वैसे ही अविद्या अपने आश्रय का आवरण करती है; और जैसे अन्धकार अपने आश्रय तथा आवरण के लिए दो वस्तुओं की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही अज्ञान भी आश्रय तथा आवरण के लिए दो वस्तुओं की अपेक्षा नहीं करता।[3]

इस पर यह शंका होती है कि जैसे ज्ञान आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा रखता है वैसे अज्ञान भी आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा रखता है। "मैं इसे जानता हूँ" इस प्रतीति के समान ही "मैं इसे नहीं जानता हूँ", यह प्रतीति भी आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा करती है।

इस शंका का समाधान करते हुए विवरणप्रमेयसंग्रहकार का कथन है कि ज्ञान में ही आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा होती है, अज्ञान में नहीं। अज्ञान ज्ञान का अभावमात्र नहीं, अपितु भावरूप है। भावरूप अज्ञान के लिए माया आदि शब्दों का व्यवहार होता है। यह भावरूप अज्ञान आश्रयविषयभेद-सापेक्ष नहीं है। किन्तु जब अज्ञान शब्द ज्ञान के अभाव के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब यह ज्ञान के समान

१. वही।

२. न तावदज्ञानमाश्रयविषयभेदसापेक्षम्। किन्त्वेकस्मिन्नेव वस्तुन्याश्रयत्वमावरणत्वञ्चेति कृत्यद्वयं संपादयति।

(पं० पा० वि०, पृ० २१०–११)

३. न हि तमो वस्तुद्वयापेक्षमवभासते। (वही)

ही आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा रखता है। जैसे स्थिति के कर्म-निरपेक्ष होने पर भी जब इसे "अगमन" शब्द से कहा जाता है तब यह प्रश्न उठता है कि किसका अगमन और किंविषयक अगमन है, इस प्रकार वह कर्मसापेक्ष-सी प्रतीत होती है[1], वैसे ही माया अज्ञान शब्द से प्रतिपादित होने पर आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा रखती हुई-सी प्रतीत होती है। किन्तु वस्तुतः मायादिपदवाच्य अविद्या या अज्ञान आश्रय तथा विषय के भेद की अपेक्षा नहीं रखती।[2]

अज्ञान के आश्रय तथा विषय के भेद की अपेक्षा न रखने पर भी यह शंका होती है कि स्वयंप्रकाश चैतन्यस्वरूप ब्रह्म अज्ञान का आश्रय कैसे माना जा सकता है, क्योंकि प्रकाश और अप्रकाश में स्वाभाविक विरोध है। सूर्य के उदित होने पर रात्रि का अन्धकार नहीं टिक सकता। यदि कहें कि सूर्य के प्रकाश में भी दिवाभीत को आरोपित अन्धकार का दर्शन होने से प्रकाश और अप्रकाश में विरोध नहीं तो यह ठीक नहीं; क्योंकि सूर्य के प्रकाश के विरोधी उसके समान सत्तावाले अन्धकार की तरह चैतन्य के समान सत्ता वाले अज्ञानान्तर का अभाव होने से आरोपित अज्ञान को ही चैतन्य का विरोधी माना जा सकता है, अन्यथा ज्ञान तथा अज्ञान के विरोध की प्रसिद्धि न हो एवं अज्ञान का अज्ञानत्व ही न रहे। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं है कि वृत्तिज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है, क्योंकि वृत्ति के जड़ होने के कारण वह अप्रकाशस्वरूप अज्ञान का विरोधी नहीं हो सकती। यदि वृत्तिज्ञान को ज्ञानत्वाकार से अज्ञान का विरोधी माना जाय, तो उसी प्रकार चैतन्य को भी अज्ञान का विरोधी क्यों न माना जाय?

इस शंका का समाधान विवरणभावप्रकाशिका में नृसिंहाश्रम ने इस प्रकार किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि अज्ञान चैतन्य का विरोधी अनुभूत होता है, तथापि तत्तदाकाररूप में अपरोक्षवृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य ही चैतन्यरूप से अज्ञान का निवर्तक है, क्योंकि अपरोक्षवृत्ति ही अज्ञान-निवृत्ति के प्रतिबन्धक आवरण का विरोधी है।[3] अपरोक्षवृत्ति के उदित

---

१. यथा स्थितिः कर्मनिरपेक्षाप्यगमनशब्देनाभिधीयमाना कस्य किंविषयकगमनमिति कर्मसापेक्षवद्भाति तद्वत्। (वि० प्र० सं०, पृ० १६५)

२. मायादिशब्दव्यवहारे तदभावात्। (वही)

३. यद्यपि अज्ञानस्य चैतन्यविरोधित्वमनुभूयते, तथापि तत्तदाकारापरोक्षवृत्त्यभिव्यक्तमेव चैतन्यं चैतन्यात्मना अज्ञानस्य निवर्तकम्। अपरोक्षवृत्तेरेव तन्निवृत्तिप्रतिबन्धकावरणविरोधित्वात्। (वि० भा० प्र०, पृ० २११)

न होने पर ही अज्ञान चैतन्य का आवरण करता है।[1] प्रतिबिम्बविभ्र हेतु के रहने पर अज्ञान के होने पर भी आवरण का दर्शन नहीं होता। अतः ज्ञानाभावकालीन आवरण की ज्ञान के द्वारा ही निवृत्ति होने पर अप्रतिबद्ध चैतन्य अज्ञान का निवर्तक होता है। इस प्रकार की कल्पना को प्रमाणशून्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि अविद्यानिवृत्ति में अपरोक्षवृत्ति का अन्वय-व्यतिरेक तथा "मैं नहीं जानता हूँ" इस प्रकार चैतन्य-सामान्य के साथ अज्ञान के अविरोध का अनुभव ही इसमें प्रमाण है। इस कारण स्वप्रकाश चैतन्य अपरोक्षवृत्ति के अभाव में अज्ञान का साधक एवं अविरोधी होने के कारण अज्ञान का आश्रय हो सकता है।[2] सूर्य के दृष्टान्त के द्वारा प्रकाशस्वरूप होने से ही चैतन्य के अज्ञानाश्रयत्व का विरोध नहीं किया जा सकता; क्योंकि भिन्नविषयक ज्ञान तथा अज्ञान का एकाश्रयत्व सम्भव है।[3] इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप चैतन्य तथा अज्ञान के आश्रयाश्रयिभाव में भी कोई विरोध नहीं है।[4]

यहाँ यह शङ्का होती है कि "मैं अज्ञ हूँ" यह अनुभव इस बात में प्रमाण है कि अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य अर्थात् जीव ही अज्ञान का आश्रय है, विशुद्ध चैतन्य नहीं। अतः विशुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय कैसे माना जा सकता है?

इस शङ्का का समाधान विद्यारण्य ने विवरणप्रमेयसंग्रह में इस प्रकार किया है। वे कहते हैं कि जैसे लोहा जलाता है। इस प्रतीति में दाहकर्तृत्व और लोहा इन दोनों का एक अग्नि के साथ सम्बन्ध होने से परस्पर सम्बन्ध का अवभास होता है[5] किन्तु वस्तुतः लोहे में दाहकर्तृत्व नहीं है, वैसे ही अज्ञान और अन्तःकरण का एक आत्मा के साथ

---

१. अज्ञानं हि अपरोक्षवृत्त्यनुदयमेव चैतन्यमावृणोति।

(वि० भा० प्र० पृ० २१२)

२. तस्मात् स्वप्रकाशस्यापि चैतन्यस्यापरोक्षवृत्तिविरहदशायां अज्ञानसाधकत्वात्तदविरुद्धत्वाच्च तदाश्रयत्वमविरुद्धम्। (वही)

३. भिन्नविषयज्ञानाज्ञानयोरेकाश्रयत्वस्य सम्भवात्। (वही)

४. तद्वदाश्रयिभावस्याप्यविरोधात्। (वही)

५. यथा "अयो दहति" इत्यत्र दग्धृत्वायसोरेकाग्निसम्बन्धात् परस्परसम्बन्धावभासः तद्वदज्ञानान्तःकरणयोरेकात्मसम्बन्धादेव सामान्याधिकरण्यावभासो न त्वन्तःकरणस्याज्ञानाश्रयत्वात्।

(वि० प्र० सं०, पृ० १७०)

सम्बन्ध होनेसे उनके सामानाधिकरण्य की प्रतीति होती है, किन्तु वस्तुतः अन्तःकरण अज्ञान का आश्रय नहीं है। यदि अन्तःकरण को अज्ञान का आश्रय माना जाए तो "अविद्या की सिद्धि होने पर अन्तःकरण की सिद्धि तथा अन्तःकरणविशिष्ट में अविद्या-सम्बन्ध" इस प्रकार अन्योन्याश्रयता का प्रसंग होगा।[1] यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं है कि अन्तःकरण के बिना अविद्या का सम्बन्ध दृष्टचर नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में अन्तःकरण के अभाव में भी अविद्या की स्थिति मानी जाती है।[2] उस समय चैतन्य के अतिरिक्त अविद्या का आश्रय कौन हो सकता है? अतएव विशुद्ध चैतन्य को अज्ञान का आश्रय मानना उचित है।

इस पर यह शंका होती है कि यदि अज्ञान का आश्रय अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्यरूप जीव को न मानकर विशुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म को ही माना जाय तो ब्रह्म में ही अज्ञत्वादि धर्मों की प्रसक्ति होगी जीव में नहीं।

इस शङ्का का समाधान करते हुए विवरणकार प्रकाशात्मयति (प्रकाशात्मा) का कथन है कि यद्यपि अविद्या विशुद्ध चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखती हुई जीव और ब्रह्म के विभाग को उत्पन्न करती है तथापि ब्रह्मस्वरूप की उपेक्षा करके जीवभाग में ही पक्षपात रखती हुई संसार को उत्पन्न करती है। जैसे मुख से सम्बन्ध दर्पण बिम्ब और प्रतिबिम्ब का विभाग करके प्रतिबिम्ब भाग में ही अतिशय का आधान करता है, वैसे ही अविद्या भी चिन्मात्र से सम्बन्ध रखती हुई जीव और ब्रह्म का भेद उत्पन्न करके प्रतिबिम्बस्थानीय जीव में ही असर्वज्ञत्व आदि अतिशय का आरोप करती है।[3]

शतभूषणीकार ने ब्रह्म के अज्ञानाश्रयत्व पक्ष के खण्डन के लिए निम्न-

---

१. अन्यथाऽविद्यासम्बन्धे सत्यन्तःकरणसिद्धिरन्तःकरणविशिष्टे चाविद्यासम्बन्ध इति स्यादन्योन्याश्रयता। (वही)

२. न चान्तःकरणमन्तरेणाऽविद्यासम्बन्धो न दृष्टचरः, सुषुप्ते संमतत्वात्। (वही)

तथा—इण्डियन फिलोसोफी—एस० राधाकृष्णन्, भाग० २; पृ० ५७८, फुटनोट।

३. यथा मुखमात्रसंबन्धि दर्पणादिकं बिम्बप्रतिबिम्बौ विभज्य प्रतिबिम्बभाग एवातिशयमादधाति तद्वत्। (वि० प्र० सं०, पृ० १७० तथा २१९)

लिखित अनुमान वाक्यों का प्रयोग किया है :—. विवादाध्यासित अज्ञान का आश्रय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म नहीं हो सकता, अज्ञान होने के कारण शुक्त्यादि के अज्ञान के समान। २—अज्ञान का आश्रय ज्ञाता ही हो सकता है। ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञातृत्वधर्म से रहित है, घटादि के समान।

उपर्युक्त अनुमानवाक्यों के सम्बन्ध में शतभूषणीकार अनन्तकृष्ण शास्त्री कहते हैं कि ये अनुमानवाक्य अपने साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं हैं। प्रथम अनुमानवाक्य शुक्त्यादि के अज्ञान को दृष्टान्तरूप में प्रदर्शित किया गयाहै। किन्तु शुक्त्यादिविषयक अज्ञान पल्लवाज्ञान (तूला ज्ञान) है, मूलाज्ञान नहीं। विवरणप्रस्थान में भी पल्लवाज्ञान को जीवाश्रित ही माना गया है। अतएव पल्लवज्ञान के दृष्टान्त के आधार पर मूलाज्ञान के ब्रह्माश्रितत्व का निषेध युक्त नहीं है। उक्तानुमान में अज्ञानत्वरूपहेतु में पल्लवाज्ञानत्व उपाधि है।[1] अतः हेतु के उपाधियुक्त होने के कारण वह साध्य के साधन में समर्थन नहीं है। इसके विपरीत मूलाज्ञान के ब्रह्माश्रितत्व को निम्नलिखित अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है। विवादाध्यासित अज्ञान ब्रह्माश्रित है; क्योंकि वह पल्लवाज्ञान न होते हुए अज्ञान है।

इसी प्रकार शतदुषणीकार द्वारा प्रयुक्त द्वितीय अनुमान वाक्य के सम्बन्ध में शतभूषणीकार का कथन है कि यह भी अपने साध्य के साधन में सर्वथा असमर्थ है। इस अनुमानवाक्य में प्रदर्शित घटादि के अज्ञान का अनाश्रयत्व इस कारण से नहीं है कि घटादि में ज्ञातृत्व का अभाव है, अपितु इसलिए है कि वह स्वयं अज्ञान का कार्य है।[2] अतः इस अनुमानवाक्य के द्वारा भी ब्रह्म के अज्ञानाश्रयत्व का खण्डन नहीं किया जा सकता। जीव के अनाश्रयत्व पक्ष के खण्डन में अनन्तकृष्णशास्त्री का कहना है कि शुक्तिकाज्ञान की तरह मूलाज्ञानको भी जीवाश्रित मान लिया जाय, तो शुक्तिकाज्ञान के कार्य शुक्ति के समान मूलाज्ञान का कार्य जगत् भी प्रातिभासिक हो जायगा और प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार के बिना व्यवहार दशा में ही उसका बाध मानना होगा। यदि पल्लवाज्ञान की तरह मूलाज्ञान भी जीवाश्रित ही माना जाय तो मूलाज्ञान का आश्रय न

---

१. शतभूषणी, भाग २, पृ० ३८

२. शतभूषणी (वही)

होने से ब्रह्म इस प्रपंच का उपादान कारण नहीं हो सकेगा। किंच प्रपंचरूप से अज्ञान के परिणत होने से पूर्व अज्ञानावच्छिन्न चैतन्यरूप जीव की सिद्धि सम्भव न होने से उसे अज्ञान का आश्रय कैसे माना जा सकेगा? अतएव मूलाज्ञान को पल्लवाज्ञान से भिन्न मानते हुए उसे ब्रह्माश्रित मानना ही सर्वथा युक्तिसंगत है।[१]

ब्रह्म के अज्ञानाश्रयत्व पक्ष के समर्थन में चित्सुखीकार का कथन है कि ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय माने बिना उसके सर्वज्ञत्व की सिद्धि भी सम्भव नहीं है। सर्वज्ञत्व या तो स्वरूपतः होता है, या प्रमाणों के द्वारा होता है। दोनों प्रकार का सर्वज्ञत्व अविद्या के सम्बन्ध के बिना उपपन्न नहीं है।[२] यदि ब्रह्म का सर्वज्ञत्व स्वरूपभूत प्रज्ञा के द्वारा माना जाय तो असंग ब्रह्म का अविद्या के बिना सब अर्थों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः सर्वज्ञत्व की उपपत्ति के लिए ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध मानना ही होगा।[३] प्रमाणों के द्वारा ब्रह्म में सर्वज्ञत्व मानने पर भी अनादि अविद्या के सम्बन्ध के बिना प्रमातृत्व तथा प्रमाणप्रमेय सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः इस पक्ष में भी सर्वज्ञत्व की सिद्धि के लिए ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध स्वीकार करना ही पड़ेगा।[४] शंकराचार्य ने भी मायोपाधिक ब्रह्म (ईश्वर) को ही जगत का कारण तथा सर्वज्ञत्वादिलक्षण से युक्त माना है।[५] मायोपाधि से रहित ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि धर्मों की सङ्गति सम्भव नहीं है, क्योंकि निर्गुण एवं निरुपाधिक ब्रह्म सभी धर्मों से रहित है। इस प्रकार विवरणप्रस्थान में ब्रह्म के अविद्याश्रयत्व पक्ष का समर्थन किया गया है।

आभासवादी सुरेश्वराचार्य ने भी ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय स्वीकार किया है।[६] उनके मत में ब्रह्म और अविद्या में आश्रयाश्रित

---

१. शतभूषणी (वही)
२. स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा भवेत्।
तच्चोभयं विनाऽविद्यासम्बन्धं नोपपद्यते॥ (चित्सुखी, पृ० ५७८)
३. असंगस्य ब्रह्मणो नाविद्यामन्तरेणाशेषार्थसंगतिरिति सर्वज्ञत्वोपपत्त्यर्थमेव साभ्युपगमनीया। (चित्सुखी, पृ० ५७८)
४. प्रमाणतः सर्वज्ञत्वेऽपि प्रमातृत्वस्य प्रमाणप्रमेयसम्बन्धस्य चाविचारितरमणीयानाद्यविद्यासम्बन्धमन्तरेणासिद्धेः। (वही)
५. मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः। (वाक्यवृत्ति)
६. डॉ० वी० पी० उपाध्याय, लाइट्स ऑन वेदान्त, पृ० १०५।

तथा विषयविषयी भाव सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अनादि एवं नैसर्गिक है। अविद्या आत्मा की सर्जनात्मिका शक्ति है, अतः आत्मा अविद्या से सदैव सम्बद्ध रहता है।[1] किन्तु इस नैसर्गिक सम्बन्ध के विपरीत सुरेश्वराचार्य ने अपने आभास प्रस्थान में एक अन्य प्रकार का सम्बन्ध भी माना है, जो अविद्या की आभासरूपता के अधिक अनुकूल है। अविद्या आभास के द्वारा कूटस्थ आत्मा से सम्बद्ध होती है अतएव आत्मा के साथ इसका सम्बन्ध भी आभासात्मक है। इस आभासात्मक सम्बन्ध के द्योतनार्थ उन्होंने आत्मा और आत्मज्ञान का सम्बद्ध आत्मानात्मत्वरूप बतलाया है। यह सम्बन्ध अविद्या तथा आत्मा के आध्यासिक तादात्म्य का द्योतक है। उन्होंने स्पष्टरूप से आत्मा तथा अविद्या के सम्बन्ध को "प्रकल्पित" "अविद्योत्संगसंस्थ" तथा "अविचारितसंसिद्ध" कहा है।[2] प्रत्यगात्मा में अविद्या की स्थिति स्वतः या परतः किसी भी प्रकार उपपन्न नहीं हो सकती।[3] ससंग विकारी एवं अनात्म अविद्या का निःसंग, कूटस्थ तथा पूर्णचित्सत्व से वास्तविक योग सम्भव नहीं है।[4] अतएव जैसे घृतपिण्ड प्रदीप्त अग्नि का आलिंगन निराकृत रूप से करता है वैसे ही अविद्या भी प्रत्यगात्मा का आलिंगन प्रत्याख्यातत्वरूप से ही करती है।[5] इस प्रकार सुरेश्वराचार्य ने प्रत्यगात्मरूप ब्रह्म तथा अविद्या के संबंध को आभासात्मक माना है।

इस प्रकार हमने देखा कि अविद्या के आश्रय के सम्बन्ध में दोनों प्रस्थानों में पर्याप्त मतभेद है। भामतीप्रस्थान में अविद्या का आश्रय जीवको माना गया है। जबकि विवरणप्रस्थान में ब्रह्म को। सुरेश्वराचार्य ने भी ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय माना है। तथापि उनके मत में जीव तथा अविद्या दोनों ही आभासरूप हैं। अतएव उन्होंने प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म तथा अविद्या के सम्बन्ध को भी आभासात्मक ही स्वीकार किया है।

●

---

१. बृ० उ० भा० वा०, ४।३।१७८४–८५

२. योऽविद्यादिसम्बन्धः सोऽविद्याप्रकल्पितः (बृ० उ० भा० वा०, ४।३।९५)
अन्वयः संगतिः सेयमविचारितसिद्धिका।
अविज्ञातचिदुत्संगसंस्थैवेयं न वस्तुनि ॥ (वही, १।४।१३२३)

३. न स्वतः परतो वाऽतो वस्तुतः प्रत्यगात्मनि। (वही, ४।३।११०९)

४. वही, १।२।३०५

५. प्रत्याख्यातात्मनैवेयं प्रत्यगात्मानमेकलम् ॥
अविद्यालिङ्गते वह्निं घृतपिण्डमिवोल्वणम् ॥ (वही, ४।३।११८०)

चतुर्थ अध्याय

जीव

शंकराचार्यसम्मत जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के अभेद को स्वीकार किया है। उनके मत में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, वह परमार्थतः ब्रह्मरूप ही है। श्रुतियों में जीव को अज, नित्य और अविकारी कहा गया है[1] तथा अविकृत ब्रह्म को ही शरीर में जीवरूप से अवस्थित माना गया है।[2] यह आत्मा ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, तुम वही (ब्रह्म) हो इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्टरूप से जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन कर रही हैं।[3]

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि शंकराचार्य जीव और ब्रह्म के औपाधिकभेद को भी नहीं मानते। इनके औपाधिक भेदका प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं कि जैसे उपाधिपरिच्छिन्न घटाकाश से अनुपाधिक अपरिच्छिन्न आकाश भिन्न है, वैसे ही अविद्याकल्पित कर्त्ता भोक्ता विज्ञानाख्य जीव से परमेश्वर भिन्न है।[4] अन्तराधिकरण के 'अनवस्थितेतरसंभवाच्च नेतरः" इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य का कथन है कि यद्यपि विज्ञानात्मा जीव परमात्मा से अनन्य ही है तथापि अविद्याकृत मर्त्यत्व तथा भय के अध्यारोप के कारण उसमें अमृतत्व तथा अभयत्व की उपपत्ति नहीं होती।[5] इसी प्रकार सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरण भाष्य में वे

---

१. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः (कठ० उ० २।१०)

२. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। (तै० उ० २।६।१); अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। (छा० उ० ६।३।२)

३. अयमात्मा ब्रह्म। (बृ० उ० २।५।१९); तत्त्वमसि (छा० उ० ६।८।७); अहं ब्रह्मास्मि (बृ० उ० १।४।१०)

४. परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात् कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः।...... यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः।
(ब्र० सू० शां० भा० १।१।१७)

५. यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन् मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्यते।
—ब्र० सू० शां० भा० १।२।१७

कहते हैं कि जीव कर्त्ता, भोक्ता, धर्माधर्म का साधन तथा सुखदुःख युक्त है; इसके विपरीत परमेश्वर अपहृतपाप्मत्वादिगुण वाला है।[1] इसीतरह दहराधिकरण भाष्य में शंकराचार्य का कथन है कि अविद्याप्रयुक्तस्वरूपाज्ञान के कारण जीव नानाविध क्लेशपाशों से बद्ध होकर त्रिविध तापों का भाजन-सा बना रहता है। स्थाणु में पुरुष वुद्धि के समान द्वैतलक्षणा अविद्या के कारण जब तक जीव को अपने कूटस्थ नित्य तथा दृक्स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक जीव का जीवत्व है। जब जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और जब वह यह जान लेता है कि वह देहेन्द्रियमनोवुद्धि का संघात नहीं है किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा है, तब वह कूटस्थ नित्य, दृक्स्वरूप आत्मा हो जाता है।[2] किन्तु जीव के स्वमहिमप्रतिष्ठत होने के पूर्व तक कर्मकर्तृत्वादिरूप समस्त भेदव्यवहार बने रहते हैं।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद को मानते हुए भी इनके औपाधिक भेद को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

यहाँ यह शंका होती है कि जब परमार्थिक दृष्टि से निर्गुण, निर्विशेष निरुपाधिक ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, तब कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखित्व दुःखित्वादि धर्मविशिष्ट जीव की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है? मनुष्य अपने आपको कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी इत्यादि रूपों में अनुभव करता है। इस अनुभूति को सर्वथा असत् कैसे माना जा सकता है? अतः इन धर्मों से विशिष्ट जीव की सत्ता को स्वीकार करना ही होगा। किन्तु प्रश्न है कि निर्गुण एवं निर्विशेष ब्रह्म से सगुण एवं सविशेष जीव के प्रकट होने की समुचित व्याख्या कैसे की जा सकती है?

यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसने न केवल भारतीय विचारकों को ही अपितु पाश्चात्य दार्शनिकों को भी परेशान कर रखा है। प्रसिद्ध पाश्चात्य

---

१. एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहृतपाप्मत्त्वादिगुणः। (ब्र० सू० शां० भा० १।२।८)

२. यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन् कूटस्थ, नित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहंब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्त्वम्। यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघाताद् व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते''''तदा''''स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति। (ब्र० सू० शां० भा० १।३।१९)

३. तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुध्यते।

(ब्र० सू० शां० भा० १।२।६)

विचारक "ब्रेडले" कहते हैं कि हम यह नहीं जानते कि "ऐब्सोल्यूट" (Absolute) अपने आपको क्यों और किस प्रकार अनेक केन्द्रों में विभक्त कर लेता है और विभक्त हो जाने पर भी वह कैसे एक बना रहता है।[1] इसी प्रकार प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रीन (Green) भी यह स्वीकार करते हैं कि अनन्त चेतना अपने आपको सान्त जीवों के माध्यम से उत्पन्न तथा अभिव्यक्त करने का प्रयास क्यों करती है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता।[2]

प्रसिद्ध दार्शनिक बोसांके (Bosanquct) के सामने भी यह प्रश्न है कि इस सान्त जगत् का अस्तित्व क्यों है। वे भी यह स्वीकार करते हैं कि अनन्त से सान्त जगत् की रचना का कारण नहीं बताया जा सकता। विलियम जेम्स (William James) के सामने भी यह समस्या उपस्थित है। (Absolute) अपने अखण्ड अनुभव की परिपूर्णता से भ्रष्ट क्यों हुआ और उसने अपने आपको हमारे अनन्त अनुभवों प्रतिबिम्बत क्यों किया ?[3] इसी तरह सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन् के सानने भी यह प्रश्न है कि अपरिवर्तनशील आत्मा किस प्रकार सान्त प्रतीत होता है, एवं चैतन्य का शाश्वत प्रकाश कैसे आच्छादित हो सकता है, जब कि वह सभी सम्बन्धों से रहित है।[4]

---

1. "We do not know why or how the Absolute divides itself into centres, or the way in which so divided, it still remains one."

   (Appearence and Reality, pp. 226-27)

2. But why the Absolute mind should reproduce itself through finite organisms, why it should try to realise itself through them, are questions which Green admits cannot be answered. (D. M, Datta; Chief Currents cf Contemporary Philosophy, P. 16)

3. Why should the Absolute ever have lapsed from the perfection of its own integral experience and refrected itself into all over finite experiences ?

   (A Pluralistic Universe p. 120)

4. How does the unchanging *Atman* appears as limited, how can the eternal light of intelligence be darkened by

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, विषय इत्यादि उपाधियों के सम्बन्ध से ही अपने व्यावहारिक रूप (जीवत्व) को प्राप्त होता है। किन्तु आत्मा और जीव का यह सम्बन्ध अनिर्वचनीय, माया एवं रहस्यात्मक है।[1]

शंकराचार्य ने भी जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को मायिक स्वीकार किया है तथा अनिर्वचनीय स्वभाव वाली माया के द्वारा इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। यदि परब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं तो फिर यह उच्चावच प्रपंच कैसे प्रतिभासित होता है। इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के आधार पर एक ऐसी बीजभूत परमात्मशक्ति का सद्भाव माना है जिसके व्यपाश्रय से अद्वितीय ब्रह्म इस नामरूपात्मक प्रपंच की कारणता का निर्वहण करता है। इसी परमेश्वराश्रया मायामयी, अविद्यात्मिका बीजशक्ति के निमित्त ही जीव अपने आपको ब्रह्म से भिन्न समझता है और उसके सभी व्यवहारों की सिद्धि होती है। इसी मायामयी महासुप्ति में संसारी जीव शयन करते हैं और अपने स्वरूप की अज्ञानता के कारण लौकिक व्यवहारों में प्रवृत्त होते हैं।[2] यह माया या अविद्या न तो सत् है और न ही असत्। यदि यह सत् होती तो सर्वदा प्रतीत होती यह और कभी इसका बाध नहीं होता। यदि यह सर्वथा असत् होती तो यह नामरूपात्मक प्रपंच की अवभासिका नहीं होती। सत् और असत् के परस्पर विरोधा होने के कारण माया को सदसत् भी नहीं कहा जा सकता है। अतः सत्, असत् तथा सदसत् से विलक्षण होने के कारण यह अनिर्वच-

---

any agency whatever, since it is free from all relations.
(Indian Philosophy Vol. II, P. 604)

1. It is the relation of *Atman* to the *Upadhis* of body, senses, mind and sense-objects that accounts for its phenomenal character, but this relation between the *Atman* and the psychological self is inexplicable, *maya* or mysterious. (Indian Philosophy Vol. II, P. 604)

२. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।....अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वः संव्यवहारः संततो वर्तते।
(ब्र० सू० शां० भा०, १।४।३)

नीय है। इसे भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाभिन्न भी नहीं माना जा सकता और न ही इसे सांग,अनंग तथा सांगानंग भी कहा जा सकता है।[१] इसी अनिर्वचनीय माया के द्वारा ही शंकराचार्य ने एक अद्वितीय चिन्मात्र ब्रह्म तत्त्व से नानाविध जीव और जगत् का अवभास माना है। इस प्रकार उन्होंने अस्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सांत जीव अनन्त ब्रह्म के स्वरूप का अवगाहन करने में सर्वथा असमर्थ है। ज्ञान के सीमित साधनों के द्वारा असीम चिदात्मतत्त्व के रहस्य का उद्घाटन सम्भव नहीं है। अनन्त की महिमा को अनन्त ही समझ सकता है। अतः अनन्त की महिमा को समझने के लिए मनुष्य को स्वयं अनन्त-रूप बन जाना होगा।[२]

जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर शंकर-पूर्व वेदान्त में भी विचार किया गया है। शंकराचार्य ने अपने शारीरीक भाष्य में आश्मरथ्य, औडुलोमि तथा काशकृत्स्न के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए जीव और ब्रह्म में अभेद को स्वीकार करने वाले काशकृत्स्न के सिद्धान्त का समर्थन किया है। आश्मरथ्य के मत में जीव और ब्रह्म में कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद। वे कहते हैं कि जैसे वह्नि से निकलते हुए वह्नि के विकाररूप विस्फुलिंग न तो वह्नि से सर्वथा भिन्न है और न ही सर्वथा अभिन्न वैसे ही ब्रह्मविकार जीव भी न तो ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है और न ही सर्वथा अभिन्न। वह्निविकार विस्फुलिंग को वह्नि से भिन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि यह वह्निरूप है। किन्तु इसे वह्नि से सर्वथा अभिन्न भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वह्नि के समान विस्फुलिंगों की परस्पर व्यावृत्ति के अभाव की प्रसक्ति होगी। इसी प्रकार ब्रह्मविकार जीव को ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर जीव के चिद्रूपत्वाभाव की प्रसक्ति होगी। तथापि इसे ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्न भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर परस्पर व्यावृत्ति सम्भव नहीं होगी तथा सर्वज्ञ के प्रति दिया गया उपदेश व्यर्थ होगा।[३]

---

१. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा॥

(विवेकचूडामणि, श्लोक १११)

२. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

३. यथा हि वह्नेर्विकारा व्युच्चरन्तो विस्फुलिंगा न वह्नेरत्यन्तं भिद्यन्ते, तद्रूप-

किन्तु औडुलोमि के मत में जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है। ब्रह्मज्ञान के उपरान्त देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहंकाररूप उपाधि के सम्पर्क से रहित हो जाने एवं मुक्त हो जाने पर वह ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है। भविष्य-कालिक अभेद के आधार पर भेदकाल में भी अभेद का व्यवहार होता है। जबतक मुक्ति नहीं हो जाती तभी तक जीव और ब्रह्म का भेद है। मुक्तावस्था में भेदहेतु के अभाव से भेद नहीं रह जाता। इस प्रकार औडुलोमि के मत में बद्ध जीव ब्रह्म से भिन्न है, किन्तु मुक्त जीव ब्रह्म से अभिन्न है।[1]

काशकृत्स्न आचार्य के मत में जीव और ब्रह्म में वास्तविक अभेद है। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं और न ही ब्रह्म का विकार है। किन्तु अविद्योपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्म ही जीव रूप से कल्पित है। जैसे घटम-णिकादिरूप उपाधियों से अवछिन्न आकाश घटाकाश तथा मणिकाकाश परमकाश से न तो भिन्न है और न ही उसका विकार है, वैसे ही जीव भी ब्रह्म से न तो भिन्न है और न ही उसका विकार है, अपितु वह ब्रह्म-रूप ही है।[2]

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न पर काशकृत्स्न के मत का ही समर्थन किया है। वे कहते हैं कि विज्ञानात्मा और परमात्मा का अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमि-त्तकभेद पारमार्थिक नहीं है। काशकृत्स्न का यह सिद्धान्त ही सभी वेदा

निरूपणत्वात्, नापि ततोऽत्यन्तमभिन्नाः, वह्नेरिव परस्परव्यावृत्त्यभाव-प्रसंगात्, तथा जीवात्मनोऽपि ब्रह्मविकारा न ब्रह्मणोऽत्यन्तं भिद्यन्ते, चिद्रूप-त्वाभावप्रसंगात् सर्वज्ञं प्रत्युपदेशवैयर्थ्याच्च। तस्मात्कथंचिद्भेदो जीवात्म-नावभेदश्च। (भामती—१।४।२० प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगमाश्मरथ्यः)।

१. उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः, ब्र० सू० १।४।२१—भामतीः—भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽप्यभेद उक्तः। यथाहुः पांचरात्रिकाः—
"आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च।
मुक्तस्य न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः॥"

२. अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः। ब्र० सू० १।४।२२—भामती—न जीव आत्मनोऽन्यः, नापि तद्विकारः, किन्त्वात्मैवाविद्योपाधानकल्पितावच्छेदः। आकाश इव घटमणिकादिकल्पितावच्छेदो घटाकाशो मणिकाकाशो न तु परमा-काशादन्यस्तद्विकारो वा।

न्तियों द्वारा स्वीकार करने योग्य है।[1] आश्मरथ्य का वह सिद्धान्त जिसके अनुसार जीव और ब्रह्म में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है एवं जीव ब्रह्म का विकार होने से ब्रह्म के आधीन है, शंकराचार्य को मान्य नहीं। वे औडुलोमि के उस सिद्धान्त भी का समर्थन नहीं करते जिसके अनुसार जीव और ब्रह्म में बद्धावस्था में भेद और मुक्तावस्था में अभेद माना गया है। वे तो काशकृत्स्न द्वारा प्रतिपादित उस सिद्धान्त के ही समर्थक हैं जिसके अनुसार जीव और ब्रह्म में पारमार्थिक अभेद है। भेदप्रतीति का कारण अविद्या है। विद्योदय के होते ही भेदप्रतीति का बाध हो जाता है तथा जीव अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद को प्रदर्शित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में "अवच्छेद", "प्रतिबिम्ब" तथा "आभास" इन तीन पदों का यथावसर प्रयोग किया है। कहीं उन्होंने जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध को घटाकाश और मठाकाश के दृष्टान्त से कहीं बिम्ब और प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से और कहीं रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से समझाया है। सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरण भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि परमात्मा ही देहेन्द्रियमनोबुद्धिरूप उपाधियों से परिच्छिद्यमान होता हुआ अज्ञानियों के द्वारा जीव रूप में उपचरित होता है। जैसे घटकरकादि उपाधियों के कारण अपरिच्छिन्न आकाश परिच्छिन्न की तरह अवभासित होता है, वैसे ही अपरिच्छिन्न परमात्मा भी जीवरूप में अवभासित होता है।[2]

अंशाधिकरण के "आभास एव च" इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने जीव को परमात्मा का आभास बतलाया है। वे कहते हैं कि जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास ही समझा जाना चाहिये। न तो जीव साक्षात् परमात्मारूप है और न ही वस्त्वन्तर।[3] यहाँ यह

---

१. अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्ववेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः। (ब्र० सू० शां० भा० १।४।२२)

२. पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते। यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदाभासते, तद्वत्। (ब्र० सू० शां० भा० १।२।६)

३. आभास एव चैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात् नापि वस्त्वन्तरम्। (ब्र० सू० शां० भा० २।३।५०)

उल्लेखनीय है कि सूत्र और भाष्य में प्रयुक्त "आभास" पद के अर्थ के सम्बन्ध में विवरणप्रस्थान तथा आभासप्रस्थान में पर्याप्त मतभेद है। विवरणप्रस्थान में "आभास" पद को प्रतिबिम्ब के अर्थ में माना गया है। किन्तु आभासप्रस्थान में इसे प्रतीति (Appearance) के अर्थ में माना जाता है। प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अभिन्न एवं बिम्बात्मना सत्य माना जाता है, जब कि आभासवाद में आभास को सर्वथा मिथ्या माना जाता है। शंकराचार्य ने अनेक स्थलों पर आभास के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। उन्होंने बुद्धिस्थ चैतन्य के आभास को मुकुरस्थ मुख के समान मृषात्मक बतलाया है।[1] आभास को मिथ्या मानने के कारण उन्होंने इसे कहीं अवस्तु, कहीं अनात्मा और कहीं दृक् की छाया कहा है।[2]

किन्तु उभयलिंगाधिकरण के "अतएव चोपमासूर्यकादिवत्" इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने जीव और परमात्मा के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद का प्रतिपादन जलचन्द्रादि प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त के आधार पर किया है। वे कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलों में अनुगत होकर अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है, वैसे ही यह आत्मज्योति अनेक उपाधियों में भिन्न-भिन्न रूप में दीख पड़ती है। जैसे एक ही चन्द्र अनेक जलों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रकार से दीख पड़ता है, वैसे ही एक ही भूतात्मा भिन्न-भिन्न भूतों में व्यवस्थित उपलब्ध होता है।[3]

---

१. मुकुरस्थं मुखं यद्वन्मुखवत्प्रथते मृषा।
बुद्धिस्थाभासकस्तद्वदात्मवत् प्रथते मृषा॥
(अद्वैतानुभूतिः, श्लोक ६३) मुखाभासो यथादर्शे आभासश्चोदिता मृषा। (उप० सा० पद्यखण्ड, १८।८८)। आभासे परिणामश्चेन्न रज्ज्वादिनिमित्तवत्। सर्पादिश्च तथाबोधमादर्शे च मुखादिवत्॥

(वही १८।११४)

२. अवस्तुत्वाच्चिदाभासो.........(स्वात्मप्रकाशिका, श्लोक ३७) तथा
आभासस्याप्यवस्तुतः। (उप० सा० श्लोक ४४)
दृशेश्छाया उपारूढा मुखच्छायेव दर्शने।
पर्यस्तं प्रत्ययं योगी दृष्ट आत्मेति मन्यते।

(उप० सा० १२।६)

३. यथाह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते

जैसे एक ही सूर्य अनेक शरावों के जलों में प्रतिफलित होता है, वैसे एक ही परमात्मा अनेक देहों में प्रतिफलित होता है।[1] एक ही ज्ञान नामादिरूपादि अनेक उपाधियों के भेद से सूर्यादि के प्रतिबिम्ब के समान अनेक प्रकार से अवभासित होता है।[2] जैसे स्वच्छ पदार्थों में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही आत्मा के सर्वगत होने पर भी उसका अवभास बुद्धि में ही होता है। बुद्धि में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद का प्रतिपादन करने के लिए अवच्छेदपरक, आभासपरक तथा प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का प्रयोग अपने भाष्यग्रन्थों में किया है। इन दृष्टान्तों के आधार पर ही शंकरोत्तर वेदान्त में अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद तथा आभासवाद इन तीन वादों का जन्म हुआ, जिन्हें क्रमशः वाचस्पतिमिश्र, प्रकाशात्मयति तथा सुरेश्वराचार्य ने प्रवर्तित एवं प्रतिष्ठित किया। अब हम आगे इन वादों के सम्बन्ध में विस्तृत विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. अवच्छेदवाद

ऊपर यह कहा जा चुका है कि शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के औपाधिक भेद के प्रदर्शन के लिए घटाकाश आदि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। उन्होंने देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यवच्छिन्न आत्मा को जीव कहा है। उनका कथन है कि जैसे अपरिच्छिन्न आकाश घटकरकादिरूप उपाधियों के कारण परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है, वैसे ही अपरिच्छिन्न

भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा। एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

(ब्र० बि० १२) ब्र० सू० शां० भा० ३।२।१८

१. प्रतिफलति भानुरेकोऽनेकशरावोदकेषु यथा।
तद्वदसौ परमात्मा ह्येकोऽनेकेषु देहेषु॥

(प्रबोध सुधाकर : अद्वैतप्रकरणम् श्लोक १२४)

२. एकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात्सवित्रादि जलादि प्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासते। (क० उ० शां० भा० ६।२)

३. सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्॥ (आत्मबोध : श्लोक १७)

४. चित्प्रतिबिम्बस्तद्वद् बुद्धिषु यो जीवतां प्राप्तः।

(प्रबोधसुधाकर, श्लोक ११८)

आत्मा देहादिरूप उपाधियों के कारण परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र के "ईक्षत्यधिकरण" में वे कहते हैं कि संसारी जीव ईश्वर से अन्य नहीं। जैसे घटकरकगिरिगुहादि उपाधियों के संसर्ग से तदवच्छिन्न व्योम भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही देहादिसंघातरूप उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा में भेद की प्रतीति होती है। देहादिसंघातरूप उपाधि-सम्बन्ध के अविवेक के कारण ईश्वर तथा संसारी जीव के भेद की मिथ्या बुद्धि होती है।[1] अन्तर्याम्यधिकरणभाष्य में वे कहते हैं कि शारीर (जीव) और अन्तर्यामी के भेद का व्यपदेश अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकारणोपाधि के कारण है, पारमार्थिक नहीं। एक ही प्रत्यगात्मा का उपाधिकृतभेद से घटाकाश और महाकाश के समान भेदव्यवहार होता है।[2] इसी प्रकार आत्माधिकरण भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा के विभाग का प्रतिभान बुद्ध्यादि उपाधियों के निमित्त है जैसे अकाश का भेदप्रतिभान घटादिसम्बन्ध के कारण होता है।[3] इसी तरह आरम्भणाधिकरणभाष्य में शंकराचार्य ने ईश्वर के ईश्वरत्व को भी अविद्याकृतनामरूपोपाधिनिमित्त ही माना है। वे कहते हैं कि ईश्वर का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्त्व अविद्यात्मक उपाधिपरिच्छेद की अपेक्षा से ही है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि विद्या के द्वारा सभी उपाधियों के विनष्ट हो जाने पर आत्मा में ईशितृ, ईशितव्य, सर्वज्ञत्व आदि का व्यवहार उपपन्न नहीं होता।[4] इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि आनन्दरूप आत्मा ही अविद्या से परिच्छिन्न होकर

---

१. सत्यं, नेश्वरादन्यः संसारी। तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसंबन्ध इव व्योम्नः।'''देहादिसंघातोपाधिसंबन्धाविवेक कृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः। (ब्र० सू० शां० भा० १।१।५)

२. अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकारणोपाधिनिमित्तोऽयं शरीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः।''''एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतो यथा घटाकाश महाकाश इति। (वही, १।२।२०)

३. बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंबन्धनिमित्तम्। (ब्र० सू० शां० भा० २।३।१७)

४. एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति व्योमेव घटकराद्युपाध्यनुरोधि। '''तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छिन्नापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते। (वही, २।१।१४)

जीव रूप में भासित होता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य ने जीव और ईश्वर के स्वरूप के प्रतिपादन के लिए अपने भाष्यग्रन्थों में अनेकस्थलों पर घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने भाष्यकार की इस प्रकार की पंक्तियों के आधार पर अवच्छेदवाद का प्रतिपादन किया है। उन्होंने नीरूप चिदात्मा के प्रतिबिम्बित होने की असंभावना को प्रदर्शित कर प्रतिबिम्बवाद के अनौचित्य को भी प्रदर्शित किया है। अध्यासभाष्य में वे कहते हैं कि रूपवान् द्रव्य अत्यधिक स्वच्छ होने के कारण पृथकरूप से गृह्यमाण रूपवान् द्रव्यान्तर की छाया को ग्रहण करने में समर्थ होता है। किन्तु चिदात्मा तो रूपरहित विषयी है, अतः वह विषय की छाया को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। कहा भी गया है कि शब्द, गन्ध; रस आदि का प्रतिबिम्ब नहीं होता।[2]

इस तरह भामतीकार ने नीरूप चिदात्मा के प्रतिबिम्बित होने की असंभावना को प्रदर्शित करते हुए प्रतिबिम्बवाद के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है। साथ ही उन्होंने भामती में अनेक स्थलों पर अवच्छेदवाद का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है। ब्रह्मसूत्र के इतरव्यपदेशाधिकरण में वे कहते हैं कि जैसे घटकरकादि उपाधियों से आकाश भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा अविद्योपाधिभेद से भिन्न प्रतीत होता है।[3] इसी तरह आत्माधिकरण में भामतीकार कहते हैं कि जीव और ब्रह्म के भेद के औपाधिक होने के कारण घटकरकाद्युपहित आकाश के समान इनके विरुद्धधर्मसंसर्ग की उपपत्ति होती है।[4] कर्मानुस्मृतिशब्दविध्य

---

१. स एवात्मा आनन्दरूपोऽविद्यापरिच्छिन्न विभाव्यते प्राणिभिः।
(तै० उ० शां० भा० २।७)

२. रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि छायांगृह्णीयात्। चिदात्मा त्वरूपो विषयी न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति। यथाऽऽहुः-"शब्दगन्धरसादीनां कीदृशी प्रतिबिम्बता" इति।
(भामती, पृ० ७-८)

३. स एव तु अविद्योपाधानभेदात् घटकरकाद्याकाशवद् भेदेन प्रथते।
(ब्र० सू० २।१।२१, भामती, पृ० ४७२)

४. औपाधिकत्वाच्च भेदस्य घटकरकाद्याकाशवद् विरुद्धधर्मसंसर्गस्योपपत्तेः।
(ब्र० सू० २।३।१७, भामती, पृ० ६०२)

धिकरण में वे कहते हैं कि जैसे घटाकाश परमाकाश से अन्य नहीं तथापि घट की सत्ता तक वह अन्य-सा प्रतीत होता है, वैसे ही अनादि अनिवर्चनीय उपाधि से कल्पित जीव वस्तुतः परमात्मा से भिन्न नहीं है। उपाधि के उद्भव और अभिभव से वह उद्भूत-सा एवं अभिभूत-सा प्रतीत होता है।[1] भामतीकार की उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि उनके मत में उपाध्यवच्छिन्न चैतन्य ही जीव है और वे अवच्छेदवाद के समर्थक हैं। भाष्यकार शंकराचार्य द्वारा प्रदर्शित घटाकाश आदि दृष्टान्तों की संगति भी अवच्छेदवाद में ही लग पाती है। इससे सूचित होता है कि वे भी अवच्छेदवाद के ही समर्थक हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि जैसे भाष्यकार ने अवच्छेदपरक घटाकाश आदि दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, वैसे ही उन्होंने प्रतिबिम्बपरक जलसूर्यक आदि दृष्टान्तों का भी तो प्रयोग किया है। अतः घटाकाश आदि दृष्टान्तों के आधार पर यह कैसे माना जा सकता है कि भाष्यकार की अवच्छेदवाद में ही अभिरुचि है; प्रतिबिम्बवाद में नहीं।

उपर्युक्त शङ्का के सम्बन्ध में परिमलकार अप्पयदीक्षित का यह कथन है कि यद्यपि भाष्यकार ने अपने ग्रन्थों में प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है, तथापि उनका यह प्रयोग "वृद्धिह्रासभाक्त्व" इस सूत्र में वर्णित वृद्धिह्रासादिसादृश्यमूलक होने के कारण गौण है।[2] स्वयं शंकराचार्य ने "अम्बुवदग्रह्णात्तु न तथात्वम्" इस सूत्र के भाष्य में अमूर्त आत्मा के प्रतिबिम्बित होने की असम्भावना को स्वीकार किया है तथा अगले सूत्र में यह बताया है कि यद्यपि जलसूर्यकादि के समान अमूर्त आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता तथापि जलसूर्यकादि दृष्टान्तों का प्रयोग वृद्धिह्रासादिसादृश्य के प्रतिपादन के निमित्त ही किया गया है।[3] जिस प्रकार सूर्यादिप्रतिबिम्ब

---

१. यथा घटाकाशो नाम न परमाकाशादन्यः अथ चान्य इव यावद्घटमनुवर्तते। ""एवमनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपधानभेदोपाधिकल्पितो जीवो न वस्तुतः परमात्मनो भिद्यते तदुपाध्युद्भवाभिभवाभ्यां चोद्भूत इवाभिभूत इव प्रतीयते।
(ब्र० सू० ३।२।९, भामती, पृ० ७०५)

२. तत्र-तत्र प्रतिबिम्बव्यवहारस्तु वृद्धिह्रासभाक्त्वसूत्रकण्ठसादृश्यमूलो गौणः।
(ब्र० सू०, वे० क० परिमल, पृ० १५९)

३. सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः, नत्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चो-

जलाद्युपाधिगतवृद्धिह्रासादि के कारण वृद्धिह्रासादि को प्राप्त करता है, वैसे ही आत्मा भी अन्तःकरणादिगत वृद्धिह्रासादि के निमित्त वृद्धिह्रासादि को प्राप्त होता है, इतना ही जलसूर्यादि दृष्टान्त के द्वारा विवक्षित है, आत्मा का प्रतिबिम्बित होना नहीं क्योंकि दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में सर्वथा साम्य अपेक्षित नहीं होता।[1] इसी प्रकार बृहदारण्यकभाष्य में भी "स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः" इस वाक्य के व्याख्यान के अवसर पर सर्वगत आत्मा का देहादि में प्रवेश कैसे हो सकता है, यह शङ्का उठाई गई है। पहले इस शङ्का का समाधान देहादि में आत्मा के प्रतिबिम्ब के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु पीछे यह कह कर कि विप्रकृष्टदेशस्थ उपाधि के अभाव के कारण यह सम्भव नहीं—दूसरा समाधान दिया गया है और कहा गया है कि देहादि में आत्मा का उपलभ्यमानत्व ही प्रवेशपद से विवक्षित है। पाषाणादि के समान देहादि में आत्मा की अनुपलब्धि नहीं होती, यही आत्मा के देहादि में प्रवेश का तात्पर्य है।[2] इस तरह बृहदारण्यक भाष्य में भी शंकराचार्य ने प्रतिबिम्बपक्ष में दोष प्रदर्शित किया है। अतः प्रतिबिम्बवाद शंकराचार्य द्वारा अभिमत नहीं है।

इस प्रकार भामतीप्रस्थान में प्रतिबिम्बवाद में दोष दिखला कर अवच्छेदवाद का समर्थन किया गया है तथा जीव को अन्तः करणोपा-

---

पाधयः, सर्वगतत्वात्सर्वानन्यत्वाच्च। तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति। अत्र प्रतिविधीयते युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसंभवात्। किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति? तदुच्यते—वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति।

१. यथा सूर्यादि प्रतिबिम्बस्य जलाद्युपाधिगतवृद्धिह्रासाद्यधीन वृद्धिह्रासादिभाक्त्वमेवमात्मनोऽप्यन्तःकरणादिगतवृद्धिह्रासाद्यधीनवृद्धिह्रासादिभाक्त्वमित्येतावता जलसूर्यादिदृष्टान्तीकरणं, न तु प्रतिबिम्बनेन, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वथा साम्यस्यानपेक्षितत्वादिति।

(वे० क० परिमल १।१।४, पृ० १५८)

२. बृहदारण्यकभाष्येऽपि...."स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्य" इति वाक्यव्याख्यानावसरे सर्वगतस्यात्मनः कः प्रवेशो नामेति विमृश्य प्रतिबिम्बः प्रवेश इति पक्षं....दूषयित्वा देहादावात्मन उपलभ्यमानत्वं प्रवेशः....

(वे० क० परिमल १।१।४, पृ० १५८)

ध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में माना गया है। इसके विपरीत विवरण-प्रस्थान में प्रतिबिम्बवाद का समर्थन किया गया है तथा जीव को अन्तः-करणप्रतिबिम्बित चैतन्य के रूप में स्वीकार किया गया है। विवरणकार प्रकाशात्मयति ने अवच्छेदवाद में दोष दिखलाकर इसके निराकरण का प्रयत्न किया है। विवरणप्रस्थानानुयायी अन्य विचारकों ने भी अवच्छे-दवाद में अनेक दोष प्रदर्शित किये हैं। अब हम आगे अवच्छेदवाद में प्रदर्शित दोषों के संबन्ध में समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

अवच्छेदवाद में प्रदर्शित दोषों पर समीक्षात्मक विचार

अवच्छेदवाद के संबन्ध में विवरणकार का यह आक्षेप है कि इसके अनुसार अन्तर्यामिब्राह्मण की संगति नहीं लगती। बृहदारण्यक उपनि-षद् की "य आत्मानमन्तरीयमयति" (बृ० ३।७।२२) इत्यादि श्रुति में यह कहा गया है कि ब्रह्म जीवात्मा में अन्तर्यामीरूप से अवस्थित है; यह बात जीव को अन्तःकरणोपाध्यवच्छिन्न चैतन्य के रूप में मानने पर संभव नहीं है। क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप जीव में अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म अवस्थित नहीं हो सकता। जैसे घट में घटा वच्छिन्न आकाश अर्थात् घटाकाश की ही वृत्ति होती है, अनवच्छिन्न आकाश की नहीं, वैसे ही अवच्छिन्न जीव में अनवच्छिन्न चैतन्य की वृत्ति संभव नहीं है। अतः अवच्छेदवाद में द्विगुणित चैतन्य की वृत्ति संभव न होने से अन्तर्यामिब्राह्मण की संगति नहीं होती। इसके परि-णामस्वरूप ब्रह्म के सर्वगतत्व, सर्वनियन्तृत्व आदि की हानि होती है।[1] प्रतिबिम्बपक्ष में तो चैतन्य की द्विगुणितवृत्तिता में कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि जैसे जल में स्वभावतः रहने वाले आकाश तथा जल में प्रतिबिम्बित आकाश दोनों की एकत्र ही वृत्ति संभव है वैसे ही जीवाव-च्छेदों के भीतर ब्रह्म का नियन्तृत्वरूप से अवस्थान उपपन्न है।[2] इस प्रकार विवरणकार ने अवच्छेदवाद में अन्तर्यामिब्राह्मण की असंगति तथा प्रतिबिम्बवाद में इसकी संगति दिखाते हुए प्रतिबिम्बवाद को श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहा है। विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्यमुनि ने भी अव-

---

१. अनवच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽण्डाद्बहिरेव सद्भावप्रसंगात् तत्र सर्वगतत्वसर्व-नियन्तृत्वादि ब्रह्मणो न स्यात् अवच्छिन्नप्रदेशेऽप्यनवच्छिन्नस्य द्विगुणीकृत्य वृत्त्ययोगात्। (पं० पा० वि० पृ० २८९-९०)

२. प्रतिबिम्बपक्षे तु जलगतस्वाभाविकाकाशे सत्येव प्रतिबिम्बाकाशदर्शनादेक-त्रैव द्विगुणीकृत्य वृत्त्युपपत्तेः जीवावच्छेदेषु ब्रह्मणोऽपि नियन्तृत्वादिरूपेणा-वस्थानमुपपद्यते। (पं० पा० वि० पृ० २८९-९०)

च्छेदवाद में उपर्युक्त दोष को प्रदर्शित करते हुए प्रतिबिम्ब के साधुत्व को सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1]

किन्तु यदि हम अवच्छेदवाद के विरुद्ध प्रदर्शित दोष पर विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि उपर्युक्त दोष प्रतिबिम्बवाद में भी समान रूप से प्रसक्त होता है। अवच्छेदवाद के समान प्रतिबिम्बवाद में भी पूर्वोक्त अन्तर्यामिब्राह्मण की संगति नहीं होती क्योंकि इसमें भी चैतन्य की द्विगुणितवृत्तिता संभव नहीं है। प्रतिबिम्बपक्ष में भी उसी चैतन्य का उपाधि में प्रतिबिम्ब मानना होगा, जिसका उपाधि में अवस्थान नहीं है। जलचन्द्र के दृष्टान्त से संपूर्ण चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकेगा। उपाधि के अन्तर्गत चैतन्य का उपाधि में प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता।[2] मेघावच्छिन्न आकाश आदि का जैसे जल में प्रतिबिम्ब होता है वैसे जलान्तर्गत आकाश आदि का जल में प्रतिबिम्ब नहीं होता। इसी प्रकार जैसे बहिःस्थित मुख का जल में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, वैसे जल में विद्यमान मुख का नहीं। इससे सिद्ध होता है कि उपाधिकुक्षि में अप्रविष्ट का ही प्रतिबिम्ब होता है, उपाधिकुक्षि में प्रविष्ट का नहीं। और क्योंकि अन्तःकरणादि उपाधि के प्रतिबिम्ब के प्रति उपाधि में अप्रविष्ट ही बिम्ब बन सकता है, इस कारण बिम्बभूत चैतन्य के विकार के अन्दर अवस्थान का अयोग होने से प्रतिबिम्बपक्ष में भी अन्तर्यामिब्राह्मण की असमंजसता तुल्य ही है।[3]

अवच्छेदवाद में एक दूसरे दोष की भी आशंका की गई है। यदि जीव को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो उसके कर्म करने तथा कर्मफल को भोगने के समय में पृथ्वी तथा स्वर्ग आदि में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रदेशों के भिन्न-भिन्न होने के कारण कृतहान तथा अकृताभ्यागम रूप दोष की प्रसक्ति होगी।[4]

(पृ० २३२)

१. विवरणप्रमेयसंग्रह।

२. यतः प्रतिबिम्बपक्षेऽप्युपाधावनन्तर्गतस्यैव चैतन्यस्य तत्र प्रतिबिम्बो वाच्यः, न तु जलचन्द्रन्यायेन कृत्स्नप्रतिबिम्बः। तदन्तर्गतभागस्य तत्र प्रतिबिम्बासंभवात्। (सि० ले० सं० पृ० ११२)

३. अतो जलप्रतिबिम्बं प्रति मेघाकाशादेरिव अन्तःकरणाद्युपाधिप्रतिबिम्बं प्रति तदन्तर्गतस्यैव बिम्बत्वं स्यादिति बिम्बभूतस्य विकारान्तरवस्थानायोगात् ईश्वरे अन्तर्यामिब्राह्मणासमञ्जस्यताभावस्तुल्यः। (सि० ले० सं० पृ० ११३)

४. सि० ले० सं०, पृ० ११३ तथा सि०, बि० प्र० सं०।

इस शङ्का के समाधान में सिद्धान्तलेशसंग्रहकार अप्पयदीक्षित कहते हैं कि उपर्युक्त दोष प्रतिबिम्बवाद में भी समानरूप से ही प्रसक्त होता है। प्रतिबिम्बपक्ष में भी उपाधि में अनन्तर्गत एवं उपाधि के सन्निहित चैतन्य प्रदेश का ही अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब संभव है। अतएव उस-उस स्थल अन्तःकरण के गमन से बिम्ब का भेद होने के कारण प्रतिबिम्ब का भेद भी अवश्यंभावी है। यदि पूर्वोक्त दोष के निवारण के लिये जीव को अन्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्य के रूप में न मानकर अविद्याप्रतिबिम्बतचैतन्य के रूप में माना जाय तो अवच्छेदवाद में भी जीव को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य मानने के स्थान पर अविद्यावच्छिन्न चैतन्य मानकर पूर्वोक्त दोष का निराकरण किया जा सकता है। जैसे प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्बभेदरूप दोष का निराकरण यह कहकर किया जाता है कि अन्तःकरण के समान अविद्या में गति न होने से प्रतिबिम्बभेद की प्रसक्ति नहीं होती वैसे ही अवच्छेदवाद में भी अन्तःकरण के स्थान पर अविद्या को मानकर पूर्वोक्त दोष का निराकरण संभव है।[1]

किन्तु अवच्छेदवाद में प्रदर्शित पूर्वोक्त दोष का निराकरण अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। अवच्छेदवाद के अनुसार एक अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य एक जीव है और अन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य अन्य जीव है। इसलिए अन्तःकरणों के भिन्न-भिन्न होने के कारण जीवान्तरकृत कर्मों के जीवान्तरों से भोग की प्रसक्ति नहीं होती।[2]

अवच्छेदवाद के सम्बन्ध में विद्यारण्यस्वामी ने एक अन्य दोष भी प्रदर्शित किया है। उनका कथन है कि यदि आभासशून्य अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को प्रमाता माना जाय तो घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य को भी प्रमाता (जीव) मानना पड़ेगा।[3] क्योंकि घटादि के समान अन्तःकरण भी भूतवर्गों का कार्य होने से भौतिक है। किन्तु प्रतिबिम्बवाद में इस

---

१. अन्तः करणवदविद्याया गत्यभावेन प्रतिबिम्बभेदानापत्तेरिति वाच्यम्, तथैवावच्छेदवादेऽपि "अविद्यावच्छिन्नो जीवः" इत्यभ्युपगमसंभवात्।
(सि० सं० पृ० ११४-१५)

२. सि० ले० सं० पृ० ११५ (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी), टिप्पणी

३. शृण्वसंगः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्न हि।
अन्यथा घटकुड्यादेरवच्छिन्नस्य जीवता॥
(पंचदशी, कूटस्थदीप, २७)

दोष की प्रसक्ति नहीं होती क्योंकि इसमें व्यापक चैतन्य तथा आभास चैतन्यरूप द्विविध प्रकाश से युक्त अन्तःकरण को ही प्रमाता माना जाता है, केवल व्यापक चैतन्य से युक घटादि को नहीं। अन्तःकरण भूतवर्ग के सत्त्वगुण का कार्य होने से स्वच्छ है और स्वच्छ पदार्थ ही प्रतिबिम्ब-ग्रहण में समर्थ है, मलिन पदार्थ नहीं। अतः स्वच्छ अन्तःकरण ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ है, मलिन घटादि नहीं। अतः प्रतिबिम्बवाद के अनुसार भटादि पदार्थ आभास चैतन्य से रहित होने के कारण प्रमाता नहीं है। किन्तु अवच्छेदवाद में तो अन्तःकरण भी घटादि के समान आभासचैतन्य से रहित है। अतः यदि केवल व्यापक चैतन्य के आधार पर अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य को प्रमाता माना जाय तो व्यापकचैतन्य के आधार पर ही घटविशिष्टचैतन्य को प्रमाता क्यों न माना जाय। इस प्रकार अवच्छेदवाद में घटादिविशिष्ट चैतन्य में प्रमातृत्व की प्रसक्ति अपरिहार्य है।

पूर्वोक्त शंका के समाधान में अवच्छेदवाद के समर्थकों का यह कथन है कि जैसे प्रतिबिम्ववाद में अन्तःकरण के स्वच्छ होने के कारण अन्तः-करण में ही प्रतिबिम्वग्राहिता मानी जाती है, घटादि में नहीं। वैसे ही अवच्छेदवाद में भी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में ही प्रमातृत्व माना जाता है, घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य में नहीं। चैतन्य के व्यापक होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति (प्रकाश) अन्कःकरण में ही होती है, घटादि मलिन पदार्थों में नहीं। अतः अवच्छेदवाद में भी घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य में प्रमातृत्व की प्रसक्ति नहीं होती।

२. प्रतिबिम्ववाद :

शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म के अभेद के प्रतिपादन के लिए अपने भाष्यग्रन्थों में अनेक स्थलों पर जलप्रतिबिम्ब आदि का भी दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। ब्रह्मसूत्र के अंशाधिकरण में उन्होंने जीव को परमात्मा का आभास कहा है। वे कहते हैं कि जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास (प्रतिबिम्ब) ही समझना चाहिए।[१] इसी तरह उभयलिंगाधिकरण के "अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्" इस सूत्र के भाष्य में वे कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलों में प्रतिबिम्बित

---

१. आभास एव चैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः।
(ब्र० सू० शां० भा० २।३।५०, पृ० ३०२)

होकर अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है; वैसे ही यह आत्मा उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होता है। एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत में व्यवस्थित है वह एक होते हुए भी जलचन्द्र की तरह अनेक रूपों में दिखलाई पड़ता है।[१] इसी प्रकार कठोपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य घट शराव आदि के जल में प्रतिबिम्बित होकर अनेक-सा अवभासित होता है, वैसे ही सर्वदेशकालपुरुषादि में अवस्थित एक ही ज्ञान (ब्रह्म) नामरूपादि अनेक उपाधियों के कारण अनेक-सा अवभासित प्रोता है।[२] इसी तरह ऐतरेय उपनिषद् के भाष्य में वे कहते हैं कि जैसे एक ही सूर्य जलभेद से विभिन्न रूपों में अवभासित होता है, वैसे एक ही आत्मा विविध उपाधियों में प्रतिबिम्बित होकर हिरण्यगर्भ, प्राण, प्रज्ञात्मा आदि रूपों में अवभासित होता है।[३] इस प्रकार शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर जीव और परमात्मा के पारमार्थिक अभेद एवं औपाधिक भेद के प्रतिपादन के लिए जलसूर्यकादि दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की व्याख्या "पंचपादिका" में पद्मपादाचार्य ने भी ब्रह्म को बिम्बस्थानीय तथा जीव को प्रतिबिम्बस्थानीय माना हैं। वे कहते हैं कि "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के द्वारा प्रतिबिम्बस्थानीय जीव की बिम्बस्थानीय ब्रह्मस्वरूपता का उपदेश दिया गया है।[४]

पंचपादिका की व्याख्या पंचपादिकाविवरण में प्रकाशात्मयति ने जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है। उन्होंने श्रुति, स्मृति तथा सूत्र के आधार पर प्रतिबिम्बवाद का समर्थन तथा युक्ति एवं तर्क के आधार पर प्रतिबिम्बवाद में प्रदर्शित दोषों का निराकरण किया है। अतएव प्रतिबिम्बवाद के प्रतिष्ठापक के रूप में विवरणकार ही माने जाते हैं।

---

१. एक एव हि भूतात्मा भूतेभूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

—(वही, पृ० ३५८)

२. सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेवज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात् सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासते। (क० उ० शां० भा० ६।२)

३. ऐ० उ० शां० भा० ३।१।

४. तत्त्वमिति बिम्बस्थानीय ब्रह्मस्वरूपता प्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्योपदिश्यते।
(पंचपादिका, प्रथमवर्णक, पृ० १०८)।

विवरणकार का यह कथन है कि प्रतिबिम्बवाद श्रुति, स्मृति तथा सूत्र से समर्थित होने के कारण उपादेय है। वे कहते हैं कि "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" यह श्रुति "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" यह स्मृति तथा "अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्" यह ब्रह्मसूत्र स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बवाद के समर्थक हैं।[1]

विवरणकार प्रकाशात्मयति ने न केवल शब्दप्रमाण के आधार पर प्रतिबिम्बवाद का समर्थन ही किया है, अपितु युक्ति के आधार पर अवच्छेदवाद की असाधुता का प्रतिपादन करते हुए प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रदर्शित दोषों का निराकरण भी किया है। प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रदर्शित इस दोष का कि चैतन्य के अमूर्त एवं नीरूप होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं, निराकरण करते हुए विवरणकार कहते हैं कि जैसे अमूर्त आकाश का जल में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, वैसे ही अमूर्त ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है।[2] प्रतिबिम्बपात के लिए बिम्ब का मूर्तत्व या रूपवत्त्व आवश्यक नहीं है। अमूर्त एवं नीरूप वस्तु का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है। यहाँ यह शंका होती है कि जल में अमूर्त आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, अपितु जलान्तर्गत आकाश ही अभ्रादि के प्रतिबिम्ब से युक्त दीख पड़ता है। इस शंका के निवारण में विवरणकार का यह कथन है कि जल में आकाश का प्रतिबिम्ब मानना ही होगा, अन्यथा जानुमात्रप्रमाणजल में दूर विशाल आकाश के दर्शन की समुचित व्याख्या सम्भव नहीं है।[3] इस प्रकार विवरणकार ने प्रतिबिम्बवाद को श्रुति, स्मृति और सूत्र रूप शब्द प्रमाण से समर्थित तथा युक्ति एवं तर्क से अनुमोदित सिद्ध करने का प्रयास किया है। इन्होंने ही सर्वप्रथम प्रति-

---

१. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्, अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् इति च श्रुतिस्मृतिसूत्रे जीवस्य प्रतिबिम्बभावस्य दर्शितत्वात्। (पं० पा० वि०, पृ० २८९)।

२. अमूर्तस्य चाकाशस्य साभ्रनक्षत्रस्य जले प्रतिबिम्बवत् अमूर्तस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बसंभवात्।

(वही, पृ० २८९)।

३. जानुमात्रप्रमाणेऽपि जले दूरविशालाकाशदर्शनात् जलान्तराकाश एवाभ्रादिप्रतिबिम्बयुक्तो दृश्यत इति वक्तुमशक्यत्वात् तत्प्रतिबिम्बत्वं चिद्रूपत्वं च शास्त्रप्रतिपन्नं प्रत्यक्षप्रतिपन्नं च न निराकर्तुं शक्यत इति भावः। (वही)

बिम्बवाद को एक वाद का रूप प्रदान किया तथा अवच्छेदवाद की तुलना में इसके औचित्य का प्रतिपादन किया। अतएव प्रतिबिम्बवाद के प्रवर्तक के रूप में विवरणकार ही माने जाते हैं। इन्हीं के नाम पर अद्वैत वेदान्त में एक नये प्रस्थान का प्रवर्तन हुआ जो "विवरणप्रस्थान" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध उत्थापित शंकाओं की समीक्षा

जीव को चैतन्य का प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि लोक में रूपवान् वस्तु का ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, नीरूप वस्तु का नहीं। रूपवान् मुख का दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है। सूर्य, चन्द्र, तारे, सितारे इन सभी रूपवान् पदार्थों का ही जलादि में प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है, रूपविहीन वायुप्रभृति पदार्थों का नहीं। अतएव चैतन्य के निर्विशेष, निरवयव, नीरूप एवं अतीन्द्रिय होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं। इस सम्बन्ध में भामतीकार वाचस्पतिमिश्र का कथन है कि रूपवान् द्रव्य अतिस्वच्छ होने के कारण रूपवान् द्रव्यान्तर की छाया को ग्रहण कर सकता है; किन्तु चिदात्मा तो अरूप एवं विषयी है, अतः वह विषय की छाया को ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि कहा भी गया है कि शब्द, गन्ध तथा रस की प्रतिबिम्बता कैसे हो सकती है ?[1]

इस शंका के समाधान में विवरणकार प्रकाशात्मयति का यह कथन है कि मूर्त पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब हो यह नियम ठीक नहीं। अमूर्त आकाश का भी जल में प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है इसी तरह अमूर्त ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है।[2]

इस पर यह कहा जा सकता है कि अमूर्त एवं नीरूप आकाश का

---

१. रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि छायां गृह्णीयात्; चिदात्मा त्वरूपो विषयी न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति, यथाहुः "शब्दगन्धरसानां च कीदृशी प्रतिबिम्बता" इति। (भामती १।१।१, पृ० ८)।

२. अमूर्तस्य चाकाशस्य साभ्रनक्षत्रस्य जले प्रतिबिम्बवदमूर्तस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बसंभवात् (पं० पा० वि० पृ० २८९) तथा—न चामूर्तस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बासंभवः। अमूर्तस्याप्याकाशस्य स्वाश्रिताभ्रनक्षत्रादिविशिष्टस्य जले प्रतिबिम्बभावदर्शनात्। (वि० प्र० सं०, पृ० ३३१)।

प्रतिबिम्ब नहीं होता, अपितु जलान्तवर्ती आकाश ही अभ्रादिप्रतिबिम्ब से युक्त दीख पड़ता है। इस शंका के समाधान में विवरणकार कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं कि अमूर्त आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं होता अपितु जलान्तर्वर्ती आकाश ही अभ्रादिप्रतिबिम्ब से युक्त दीख पड़ता है; क्योंकि आकाश का प्रतिबिम्ब माने बिना जानुमात्रप्रमाण जल में दूरविशालाकाशदर्शन की व्याख्या सम्भव नहीं है।[1]

यहाँ यह शंका होती है कि नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब मानने के स्थान पर आलोक के प्रतिबिम्ब से ही निर्वाह हो सकता है। फिर आकाश के प्रतिबिम्ब को मानने की क्या आवश्यकता है। अतः आकाश का प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में गौरव है। इस शंका के समाधान में विवरणप्रस्थान के अनुयायियों का यह कथन है कि पूर्वोक्त पक्ष में गगनप्रतिबिम्ब को भ्रमरूप मानना होगा। और इस भ्रम की सिद्धि के लिये अनिर्वचनीय शुक्तिरजत सदृश अनिर्वचनीय गगन की उत्पत्ति माननी होगी। अतः इस पक्ष में भी गौरव-दोष समानरूप से ही प्रसक्त होता है। किन्त अनुभवानुसारी गौरव दोषावह नहीं होता इसलिये रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है, इस नियम का गगन में व्यभिचार मानना ही होगा। अतएव अमूर्त एवं नीरूप वस्तु का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है।

नीरूप वस्तु के प्रतिबिम्बत्व के सम्बन्ध में दिये गये आकाश के दृष्टांत के बारे में यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः नीरूप आकाश का जलादि में प्रतिबिम्ब पड़ ही नहीं सकता जलादि में तो उसी आकाश का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है जो कि हमें जल के बाहर ऊपर आसमान में दिखलाई पड़ता है। यद्यपि आकाश सर्वथा नीरूप है तथापि वह आलोकादि के सम्बन्ध से नीला प्रतीत होता है। उसी नीलरूप से प्रतिभासमान आकाश का ही जलादि में प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है, नीरूप आकाश का नहीं; क्योंकि रूपहीन वस्तु का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। इस पर यह कहा जाता है कि जैसे जवाकुसुम का रूप नीरूप एवं निरवयव होते हुए भी सन्निहित शुभ्रस्फटिक में प्रतिबिम्बित होता है तथा शुभ्रस्फटिक जवाकुसुम के आरुण्य के कारण अरुण प्रतीत होता है, वैसे ही नीरूप एवं

---

१. जानुमात्रप्रमाणेऽपि जले दूरविशालाकाशदर्शनात्, जलान्तराकाश एवाभ्रादिप्रतिबिम्बयुक्तो दृश्यत इति वक्तुमशक्यत्वात्।

(पं० पा० वि०, पृ० २८९ तथा वि० प्र० सं० पृ० २३१)

निरवयव चैतन्य का भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब पड़ सकता है।[1] रूप के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, चलन, सुखत्व इत्यादि नीरूप वस्तुओं का भी प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है।[2] इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि रूप, संख्या, परिमाण इत्यादि सभी गुण हैं अतएव ये रूपरूपी गुणान्तर का आश्रय नहीं बन सकते, क्योंकि गुण में गुण नहीं रह सकता। अतएव ये सभी रूपहीन हैं। किन्तु रूपहीन होते हुए भी इनका प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है। अतः यह शंका ठीक नहीं कि नीरूप का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है।

इस पर यह शंका हो सकती है कि नीरूप रूप आदि गुणों का प्रतिबिम्ब सम्भव होने पर भी नीरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। किन्तु विचार करने पर यह शंका भी उचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि वेदान्त मत में द्रव्य और गुण की कोई परिभाषा नहीं है। पृथिव्यादि में अनुगत किसी द्रव्यत्वरूपी धर्म की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि उन-उन पदार्थों में यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, इस प्रकार के किसी अनुगत प्रत्यय का अभाव है।[3] अतएव वेदान्त में गुण के अतिरिक्त गुणाश्रयरूप द्रव्य की सत्ता नहीं मानी जाती। यदि गुण के अतिरिक्त गुणाश्रयरूप द्रव्य (गुणी), की सत्ता मानी जाय तो इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। गुण और गुणी में संयोग सम्बन्ध को तो माना नहीं जा सकता क्योंकि ये एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते। इन दोनों के बीच नैय्यायिक सम्मत समवाय सम्बन्ध को भी नहीं माना जा सकता क्योंकि समवाय की कल्पना करने पर अनवस्था दोष की प्रसक्ति होती है। अतएव वेदान्त में गुण के अतिरिक्त गुणाश्रय रूप द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडले

---

१. जपाकुसुमस्य नीरूपस्य निरवयवस्यापि स्फटिकादौ प्रतिबिम्बदर्शनात्।

(सि० बि० पृ० १४)

२. रूपवत एव प्रतिबिम्ब इति नास्ति नियमः, रूपसंख्यापरिणामसंयोगविभाग-परत्वापरत्वचलनसुखत्वादिजातीनां प्रतिबिम्बदर्शनात्'।

(वे० क० प० पृ० १५६)

३. पृथिव्यादिनवकानुगतस्य द्रव्यत्वासिद्धेः, द्रव्यं द्रव्यमिति तत्र तत्र लौकिकानाम-नुगतप्रत्ययाभावात्।

(वे० क० प० १।१।४, पृ० १५१)

(Bradley) ने भी गुणाधिष्ठानरूप द्रव्य (Substance) को प्रातिभासिक (Appearance) ही माना है, वास्तविक (Real) नहीं।[१] अतएव गुण के अतिरिक्त गुणाश्रयरूप द्रव्य की सत्ता सिद्ध न होने से यह शंका उचित नहीं कि नीरूप रूपादि के प्रतिबिम्बित होने पर भी नीरूप चैतन्य का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं।

इस पर यदि कहें कि नीरूप गुणादि का प्रतिबिम्ब सम्भव होने पर भी नीरूप गुणाश्रय का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि नीरूप संख्या के संख्यारूपगुणाश्रय होने पर भी उसका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि संख्या में संख्या नहीं रहती क्योंकि "संख्याया अवयवे तयप्" यह पाणिनि का सूत्र ही इस बात में प्रमाण है कि संख्या में भी संख्या विद्यमान रहती है। यदि कहें कि संख्या का संख्याश्रयत्व गौण हैं मुख्य नहीं, तो यही बात आत्मा के संबन्ध में भी कही सकती है। आनन्द इत्यादि धर्म आत्मा से अभिन्न है, अतः आत्मा को भी मुख्यरूप से गुणाश्रय नहीं माना जा सकता।[२] अतः गुणाश्रय होने से नीरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता यह तर्क भी संगत नहीं है।

प्रतिबिम्बवाद के विरोध में एक दूसरा दोष यह दिखाया जाता है कि अतःकरण रूप उपाधि के नीरूप होने के कारण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। प्रतिबिम्बपात के लिये जहाँ बिम्ब का रूपवान् होना आवश्यक है, वहाँ प्रतिबिम्बोपाधि का रूपवान् होना भी आवश्यक है। रूपवान् उपाधि में ही प्रतिबिम्ब संभव है, रूपहीन उपाधि में नहीं। रूपवान् दर्पण में ही मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, रूपहीन वायु में नहीं। अतः अन्तः करण रूप उपाधि के रूपहीन होने के कारण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता।

इस दोष के निवारणार्थ प्रतिबिम्बवाद की ओर से यह कहा जाता है कि प्रतिबिम्बग्रहण के निमित प्रतिबिम्बोपाधि के रूपवत्त्व की कोई आवश्य-

---

१. Appearance and Reality.

तथा चित्सुखी—"द्रव्यत्वखण्डन प्रकरण"

२. न संख्याया मुख्यं गुणाश्रयत्वमिति चेत् उच्यते—तुल्यमेतदात्मनोऽपि। आनन्दादिधर्मास्तदभिन्ना इति तस्यापि हि न मुख्यं गुणाश्रयत्वम्।

(वे० क० प० १।१।४ पृ० १५६)

कता नहीं है। नीरूप उपाधि में भी प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। उदाहरण के रूप में हम नीरूपध्वनि में पड़नेवाले नीरूप वर्ण के प्रतिबिम्ब को ले सकते हैं। नीरूपध्वनि में वर्णप्रतिबिम्ब को मानना आवश्यक है; क्योंकि ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि ध्वनि के धर्मों का आरोप "अकार" आदि वर्णों में किया जाता है। यह आरोप तभी सम्भव है जबकि ध्वनि में वर्णों का प्रतिबिम्ब माना जाय। वर्णप्रतिबिम्ब को स्वीकार कर लेने पर जैसे दर्पण में रहने वाला मालिन्य प्रतिबिम्ब द्वारा मुख में आरोपित होता है, वैसे ही ध्वनि में रहने वाले ह्रस्वत्व आदि धर्मों का आरोप प्रतिबिम्ब द्वारा वर्णों में मानना सम्भव हो सकेगा। अतएव नीरूप ध्वनि में नीरूप वर्णों के प्रतिबिम्ब को मानना आवश्यक है। इस प्रणाली से नीरूप अन्तःकरण में नीरूप चैतन्य का प्रतिम्ब भी माना जा सकता है।

इस पर यह शंका होती है कि ध्वनित धर्मों का वर्णों में आरोप ध्वनि के सान्निध्यमात्र से ही सम्भव है, अतः इसके लिए ध्वनि में वर्णप्रतिबिम्ब को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? जैसे जपाकुसुम के आरुण्य का आरोप समीप्यमात्र से स्फटिक में हो जाता है, वैसे ही सामीप्यमात्र से वर्णों में ध्वनिगत धर्मों का आरोप सम्भव है, अतः ध्वनि के वर्णप्रतिबिम्बग्राहित्व की कल्पना उचित नहीं है।[1]

इस शंका के समाधान में प्रतिबिम्बवाद की ओर से यह कहा जा सकता है कि नीरूप ध्वनि में नीरूप वर्णों के प्रतिबिम्बत्व को भले ही न माना जाय, किन्तु प्रतिध्वनि को तो पूर्व ध्वनि का प्रतिबिम्ब मानना ही होगा। प्रतिध्वनि ध्वनि का प्रतिबिम्बमात्र है, मुख्य ध्वनि नहीं, क्योंकि उसका कोई उत्पादक नहीं है। अतएव जैसे नीरूप ध्वनि नीरूप आकाश में प्रतिध्वनि के रूप में प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही नीरूप चैतन्य भी नीरूप अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित क्यों नहीं हो सकता?

किन्तु यहाँ एक दूसरी शङ्का उत्पन्न होती है। प्रतिध्वनि को नीरूप ध्वनि का नीरूप आकाश में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वह आकाशगुणवाली नहीं मानी जा सकती। यदि प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब माना जाय तो या तो इसे बिम्ब से भिन्न मानना होगा या अभिन्न। यदि इसे बिम्ब से भिन्न माना जाय

---

१. ध्वनौ वर्णप्रतिबिम्बवादोऽप्ययुक्तः व्यंजकतया सन्निधानमात्रेण ध्वनिधर्माणमुदात्तादिस्वराणां वर्णेष्वरोपोपपत्तेः ध्वनेर्वर्णप्रतिबिम्बग्राहित्वकल्पनाया-निष्प्रमाणकत्वात्। (सि० ले० सं० पृ० ११०)

तो प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब के प्रतिभासिक होने से उसमें व्यावहारिकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। और यदि इस दोष से बचने के लिए बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेदपक्ष को स्वीकार किया जाय तो प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब के बिम्बभूत पृथ्वी आदि से उत्पन्न शब्द की अपेक्षा भिन्न न होने से इसमें आकाशगुणत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब मानने पर दोनों पक्षों (भेद तथा अभेद) में दोष प्रसक्त होता है। अतएव प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता। प्रतिध्वनि वस्तुतः ध्वन्यन्तर ही है। इसका उत्पादक आकाश है तथा निमित्तकारण है पूर्वध्वनि। यह पूर्वध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं, अपितु पूर्वध्वनि से उत्पन्न होने वाला ध्वन्यन्तर ही है।[1] वर्णरूप प्रतिशब्द भी पूर्णवर्ण का प्रतिबिम्ब नहीं है, अपितु शब्दान्तर है[2], क्योंकि वर्ण की अभिव्यंजक ध्वनि से उत्पन्न होने वाली प्रतिध्वनि भी मूलध्वनि के समान वर्ण की अभिव्यंजिका है, ऐसा मान लेने से ही उपपत्ति सम्भव है। अतएव प्रतिध्वनि के दृष्टान्त के आधार पर नीरूप उपाधि में प्रतिबिम्बपात की संभावना समीचीन नहीं है।

उपर्युक्त शङ्का के समाधान में प्रतिबिम्बवाद की ओर से यह कहा जाता है कि प्रतिबिम्बोपाधि के रूपवत्त्व के आधार पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब का निराकरण नही किया जा सकता। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि प्रतिबिम्बग्रहण के लिये अपेक्षित उपाधि के रूपवत्त्व का क्या अभिप्राय है। प्रतिबिम्बग्रहण के लिए क्या उपाधि का रूपवत्त्व ही प्रयोजक है अथवा उपाधि के रूपवत्त्व का ग्रहण भी अपेक्षित है। इनमें से प्रथम पक्ष में आत्मा के अन्तःकरणोपाधि में प्रतिबिम्बित होने में कोई अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि त्रिवृत्करण अथवा पंचीकरणप्रक्रिया के अनुसार अन्तःकरण रूपवान् है। द्वितीयपक्ष में भी कोई अनुपपत्ति नहीं; क्योंकि जैसे स्फटिक के निजरूपवत्त्वेन गृहीत न होने पर भी सन्निहित जपाकुसुम के प्रतिबिम्बन से स्फटिक अरुण दृष्टिगत होता है, वैसे ही प्रकृति में भी अन्तःकरण के रूपवत्त्वेन गृहीत न होने पर भी उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब सम्भव है।[3]

---

१. प्रतिध्वनिरपि न पूर्वशब्दप्रतिबिम्बः। (सि० ले० सं० पृ० ११०-११)

२. वर्णरूपप्रतिशब्दोऽपि न पूर्ववर्णप्रतिबिम्बः। वर्णाभिव्यंजकध्वनिनिमित्तकप्रतिध्वनेर्मूलध्वनिवदेव वर्णाभिव्यंजकत्वोपपत्तेः। (सि० ले० सं० पृ० ११०-११)

३. किं प्रतिबिम्बोपाधेर्वस्तुतो रूपवत्त्वं प्रतिबिम्बने प्रयोजकमिष्यते, उत रूपवत्त्वेन ग्रहणम्। आद्ये नात्मनोऽन्तःकरणप्रतिबिम्बनानुपपत्तिः, अन्तःकरणस्य-

तो प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब के प्रतिभासिक होने से उसमें व्यावहारिकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। और यदि इस दोष से बचने के लिए बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेदपक्ष को स्वीकार किया जाय तो प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब के बिम्बभूत पृथ्वी आदि से उत्पन्न शब्द की अपेक्षा भिन्न न होने से इसमें आकाशगुणत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब मानने पर दोनों पक्षों (भेद तथा अभेद) में दोष प्रसक्त होता है। अतएव प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता। प्रतिध्वनि वस्तुतः ध्वन्यन्तर ही है। इसका उत्पादक आकाश है तथा निमित्तकारण है पूर्वध्वनि। यह पूर्वध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं, अपितु पूर्वध्वनि से उत्पन्न होने वाला ध्वन्यन्तर ही है।[1] वर्णरूप प्रतिशब्द भी पूर्णवर्ण का प्रतिबिम्ब नहीं है, अपितु शब्दान्तर है[2], क्योंकि वर्ण की अभिव्यंजक ध्वनि से उत्पन्न होने वाली प्रतिध्वनि भी मूलध्वनि के समान वर्ण की अभिव्यंजिका है, ऐसा मान लेने से ही उपपत्ति सम्भव है। अतएव प्रतिध्वनि के दृष्टान्त के आधार पर नीरूप उपाधि में प्रतिबिम्बपात की संभावना समीचीन नहीं है।

उपर्युक्त शङ्का के समाधान में प्रतिबिम्बवाद की ओर से यह कहा जाता है कि प्रतिबिम्बोपाधि के रूपवत्त्व के आधार पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब का निराकरण नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि प्रतिबिम्बग्रहण के लिये अपेक्षित उपाधि के रूपवत्त्व का क्या अभिप्राय है। प्रतिबिम्बग्रहण के लिए क्या उपाधि का रूपवत्त्व ही प्रयोजक है अथवा उपाधि के रूपवत्त्व का ग्रहण भी अपेक्षित है। इनमें से प्रथम पक्ष में आत्मा के अन्तःकरणोपाधि में प्रतिबिम्बित होने में कोई अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि त्रिवृत्करण अथवा पंचीकरणप्रक्रिया के अनुसार अन्तःकरण रूपवान् है। द्वितीयपक्ष में भी कोई अनुपपत्ति नहीं; क्योंकि जैसे स्फटिक के निजरूपवत्त्वेन गृहीत न होने पर भी सन्निहित जपाकुसुम के प्रतिबिम्बन से स्फटिक अरुण दृष्टिगत होता है, वैसे ही प्रकृति में भी अन्तःकरण के रूपवत्त्वेन गृहीत न होने पर भी उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब सम्भव है।[3]

---

१. प्रतिध्वनिरपि न पूर्वशब्दप्रतिबिम्बः। (सि० ले० सं० पृ० ११०-११)

२. वर्णरूपप्रतिशब्दोऽपि न पूर्ववर्णप्रतिबिम्बः। वर्णाभिव्यंजकध्वनिनिमित्तकप्रतिध्वनेर्मूलध्वनिवदेव वर्णाभिव्यंजकत्वोपपत्तेः। (सि० ले० सं० पृ० ११०-११)

३. किं प्रतिबिम्बोपाधेर्वस्तुतो रूपवत्त्वं प्रतिबिम्बने प्रयोजकमिष्यते, उत रूपवत्त्वेन ग्रहणम्। आद्ये नात्मनोऽन्तःकरणप्रतिबिम्बनानुपपत्तिः, अन्तःकरणस्य-

नीरूप चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने के सम्बन्ध में एक अन्य शंका यह होती है कि प्रतिबिम्बपात के लिए यह आवश्यक है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बोपाधि एक दूसरे से पृथक् एवं विप्रकृष्टदेशस्थ हो। सूर्यादि मूर्त पदार्थों से पृथक एवं विप्रकृष्टदेशस्थ मूर्त जल में ही सूर्यादि का प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है किन्तु चैतन्य तो न मूर्त है और न ही अन्तःकरणोपाधि इससे पृथक् तथा विप्रकृष्टदेशस्थ है; क्योंकि चैतन्य सर्वगत एवं सर्वानन्य है। अतः सूर्यादि के समान चैतन्य का प्रतिबिम्ब संभव नहीं है।[1]

प्रतिबिम्बवाद के सम्बन्ध में उद्भावित इस शंका का समाधान भाष्यकार शंकराचार्य ने इस प्रकार किया है। वे कहते हैं कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विक्षितांश को छोड़कर पूर्णसारूप्य को दिखा सकना सम्भव नहीं है। क्योंकि यदि दोनों में पूर्णसारूप्य हो जाय तो इनके दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव का ही उच्छेद हो जाय। प्रतिबिम्बपरक जल सूर्यादि दृष्टान्तों का एक विशेष प्रयोजन है और वह यह दिखाना है कि जैसे जल में विद्यमान सूर्यप्रतिबिम्ब जलवृद्धि से बढ़ता, है जलह्रास से घट जाता है, जल के चलने से चलता और जलभेद से भिन्न होता है, तथापि परमार्थतः सूर्य वैसा हो नहीं जाता; वैसे ही ब्रह्म परमार्थतः अविकृत रहते हुए भी देहादि उपाधियों के कारण वृद्धिह्रासादिक उपाधि धर्म को प्राप्त-सा होता है किन्तु परमार्थतः वैसा हो नहीं जाता।[2] शंकराचार्य के इस

त्रिवृत्करणेन पंचीकरणेन वा रूपवत्त्वात्। न द्वितीयः निजरूपवत्त्वेनाऽगृह्यमाणोऽपि स्फटिके सन्निहितजपाकुसुमप्रतिबिम्बनेन अरुणः स्फटिक इति व्यवहारदर्शनात्। (वे० क० प० १।१।४, पृ० १५६)

१. सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च। (ब्र० सू० शां० भा० ३।२।१९, पृ० ३५९)

२. युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसंभवात्। न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित् कंचिद् विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात्।''''जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यते इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति। एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत इवोपाधिमान् वृद्धिह्रासादीन्। (ब्र० सू० शां० भा० ३।२।२०, पृ० ३५९)

समाधान से यह स्पष्ट है कि उन्हें चैतन्य के प्रतिबिम्बन में कोई विशेष आग्रह नहीं है चैतन्य के प्रतिबिम्बित हो सकने के सम्बन्ध में जो पूर्वपक्ष का आक्षेप है, उसके विरुद्ध उनका केवल यही कहना है कि प्रतिबिम्बपरक जलसूर्यादि दृष्टान्तों के प्रयोग का एक विशेष प्रयोजन है और उसी प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए इन दृष्टान्तों की संगति लगानी चाहिए। प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का प्रयोग अमूर्त चैतन्य के प्रतिबिम्बनक्षमत्व को प्रदर्शित करने के प्रयोजन से नहीं हुआ है। इसी प्रकार अवच्छेदपरक घटाकाश आदि दृष्टान्तों का प्रयोग भी भाष्यकार ने प्रयोजनविशेष से ही किया है। इन दृष्टान्तों के द्वारा शंकराचार्य ने आत्मा की असंगता का प्रतिपादन किया है। यही घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों के प्रयोग का प्रयोजन है। वस्तुतस्तु जिस प्रकार आत्मा के अमूर्त होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है उसी प्रकार आत्मा का अवच्छेद भी संभव नहीं है; क्योंकि प्रतिबिम्ब के समान अवच्छेद भी मूर्त पदार्थ का ही सम्भव है, अमूर्त का नहीं।

अभीतक हमने प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रदर्शित उन दोषों पर ही विचार किया है जिनका सम्बन्ध चैतन्य तथा उपाधि के अमूर्तत्व एवं नीरूपत्व के साथ है। किन्तु प्रतिबिम्बवाद के ऊपर कुछ दूसरे प्रकार के दोष भी दिखाये जाते हैं। इन दोषों पर हम आगे विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

जीव को प्रतिबिम्बरूप मानने में यह शंका होती है कि चूंकि प्रतिबिम्ब सदा अचेतन ही होता है, अतः जीव को भी अचेतन ही मानना होगा।

इस शंका के समाधान में विवरणकार का कथन है कि चैतन्य का प्रतिबिम्ब होने के कारण जीव को अचेतन नहीं माना जा सकता। मुख प्रतिबिम्ब के अचेतन होने का कारण यह नहीं है कि वह प्रतिबिम्ब है, अपितु यह कि उसका बिम्बभूत मुख भी अचेतन है। बिम्बभूत मुख के अचेतन होने के कारण ही उसका प्रतिबिम्बभूत मुख भी अचेतन है एवं अपने बिम्बैकरूपत्व को जानने में असमर्थ है।[१] यदि लोकायत मतानुसार मुख को चेतन मान लिया जाय तो भी उसके चैतन्य के प्रतिबिम्बहेतुदर्पणादि के जाड्य से आस्कन्दित होने के कारण मुखप्रतिबिम्ब अपने बिम्बैकरूपत्व को जानने में असमर्थ रहता है। यहाँ बिम्बैकरूपत्व के अनव-

१. अचेतनत्वप्रयुक्ता तत्रानवगतिः, न प्रतिबिम्बत्वप्रयुक्ता।
(पं० पा० वि० पृ० २८८)

बोध का कारण अचेतनत्व है, प्रतिबिम्बत्व नहीं।[1] अतएव चैतन्य के प्रतिबिम्बरूप जीव को अचेतन नहीं माना जा सकता।

यहां एक दूसरी शंका यह उठती है कि लोक में बिम्ब ही भ्रमनिवर्तक तत्त्वज्ञान का आश्रय देखा जाता है, प्रतिबिम्ब नहीं। अतएव बिम्ब होने के कारण ब्रह्म को ही भ्रमनिवर्तक तत्त्वज्ञान का आश्रय होना चाहिये, प्रतिबिम्बरूप जीवको नहीं।

इस शंका के समाधान में विवरणकार का कथन है कि तत्त्वज्ञानाश्रयत्व बिम्बत्वकृत नहीं होता अपितु भ्रान्तत्वकृत होता है। जिसे भ्रान्ति होती है, वही तत्त्वज्ञान का आश्रय होता है। तथा भ्रान्ति उसी को हो सकती जो अज्ञ हो और अज्ञता का कारण जीवत्व ही है। अतः अज्ञ जीव ही भ्रमनिवर्तक तत्त्वज्ञान का आश्रय बन सकता है, ब्रह्म नहीं; क्योंकि ब्रह्म में भ्रान्ति की सम्भावना ही नहीं है।[2] जिसमें भ्रान्ति उत्पन्न होती है उसी में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति से भ्रान्ति की निवृत्ति होती है।[3]

प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यदि जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माना जाय तो जीव और ब्रह्म में भेद मानना आवश्यक होगा, क्योंकि लोकमें बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद स्पष्टरूप से अनुभूत होता है। ग्रीवास्थ मुख तथा दर्पणस्थ प्रतिबिम्बमुख का भेद प्रत्यङ्मुखत्वादिरूप से स्पष्ट है। यदि मुख और मुखप्रतिबिम्ब के समान ही जीव और ब्रह्म के भेद को मान लिया जाय तो जीव की ब्रह्मरूपता के सिद्धान्त की हानि होती है। अतः जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानना उचित नहीं।

इस आक्षेप के सम्बन्ध में पंचपादिकाकार का कथन है कि प्रतिबिम्ब बिम्बसे भिन्न नहीं अपितु बिम्बरूप है। अहंकर्ता का अनिदमंश जीव चैतन्य

---

१. देवदत्तस्याचेतनांशस्यैव प्रतिबिम्बत्वात् सचेतनांशस्यैव च प्रतिबिम्बत्वे प्रतिबिम्बहेतोः श्यामादिधर्मेणेव जाड्येनाप्यास्कन्दितत्वात् न तत् प्रतिबिम्बं बिम्बैकरूपतामात्मनो जानाति अचेतनत्वात्। (पंचपादिका, पृ० ११०)

२. न बिम्बत्वकृतं तत्त्वज्ञानाश्रयत्वं, किन्तु भ्रान्तत्वकृतम्; तदप्यज्ञत्वकृतम्, तदपि जीवत्वनिमित्तमितिभावः।

(पं० पा० वि० पृ० २८८)

३. यस्य हि भ्रान्तिरात्मनि परत्र वा समुत्पन्ना तद्गतेनैव सम्यग्ज्ञानेन सा निवर्तते।

(पं० पा० पृ० ११०)

ब्रह्म से वस्त्वन्तर नहीं अपितु ब्रह्मरूप है। पृथगवभास तथा विपर्ययरूपता मात्र मिथ्या है, क्योंकि जीव और ब्रह्म में एकस्वलक्षणता का बोध होता है।[1] पंचपादिकाकार कहते हैं कि जैसे बहिःस्थित देवदत्त वेश्मान्तः प्रविष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं, वैसे ही वह दर्पणतलस्थित देवदत्त से भी भिन्न नहीं। इन सभी अवस्थाओं में वह स्वलक्षण ही प्रतीत होता है। यह बात तभी सम्भव है जब कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब को वस्त्वन्तर नहीं माना जाय।[2] इस प्रकार पंचपादिकाकार ने बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद का प्रतिपादन करते हुए जीव की ब्रह्मस्वरूपता को प्रदर्शित किया है। विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य ने भी प्रबल युक्तियों के आधार पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद पक्ष का खण्डन करते हुए इनके अभेदपक्ष का समर्थन किया है।[3] इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद में बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद के आधार पर जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया गया है।

३. आभासवाद :

अब हम जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य द्वारा प्रवर्तित "आभासवाद" पर विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। शंकराचार्य ने अपने भाष्य-ग्रन्थों में जहाँ जीव को परमात्मा का प्रतिबिम्ब कहा है, वहाँ इसे परमात्मा का आभास भी बताया है। शारीरकभाष्य में जीव के स्वरूप के विवेचन के प्रसंग में वे कहते हैं कि जीव को जलसूर्यकादि के समान परमात्मा का आभास समझना चाहिए।[4] छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में भी

---

१. अहङ्कर्तुरनिदमंशो बिम्बादिव प्रतिबिम्बं न ब्रह्मणो वस्त्वन्तरम्, किन्तु तदेव तत्, पृथगवभासविपर्ययस्वरूपतामात्रं मिथ्या इति दर्शयितुम् कथं पुनस्तदेव तत् ? एकस्वलक्षणतावगमात्।

(पं० पा० पृ० १०४)

२. यथा बहिःस्थितो देवदत्तो यत्स्वलक्षणः प्रतिपन्नः तत्स्वलक्षण एव वेश्मान्तः प्रविष्टोऽपि प्रतीयते, तथा दर्पणतलस्थितोऽपि। न तत् वस्त्वन्तरत्वे युज्यते।

(पं० पा० पृ० १०४-५)

३. विवरण प्रमेय संग्रह (अच्युत ग्रन्थमाला, काशी)

—पृ० २२०-२७

४. आभास एव चैव जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः।

(ब्र० सू० शां० भा० २।३।५०)

उन्होंने जीव को आभासमात्र बतलाया है।[1] इसी तरह लघुवाक्यवृत्ति में भी उन्होंने जीव को बोधाभास कहा है।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि शंकराचार्य जीव को चैतन्य का आभास मानते हैं। उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने इस प्रकार की पंक्तियों के आधार पर जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में "आभासवाद" का प्रवर्तन किया है।[3] वे कहते हैं कि चिदाभास जब तत्तत् नानाविध मन बुद्धि आदि उपाधियों में आश्रित होता है तब भेदभावापन्न हो नानाजीवरूपता को प्राप्त होता है।[4] चिदाभास की अविवेक-भ्रान्ति के कारण कार्यकारण-रहित चैतन्य को भी संसारी समझ लिया जाता है। किन्तु सांसारित्व उसमें वैसे ही कल्पित है जैसे नभस्तल में नीलिमा।[5]

इस प्रकार आभासवाद के प्रवर्तक सुरेश्वराचार्य के मत में जीव चैतन्य का आभासरूप होने के कारण मिथ्या है। उनके मत में ईश्वर भी जीव के समान आभासरूप होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। सुरेश्वराचार्य ने अविद्या में चैतन्य के आभास को ईश्वर तथा बुद्धि में चैतन्य के अभास को जीव माना है। इस प्रकार ईश्वर और जीव दोनों ही आभासरूप होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या हैं।

इसके विपरीत प्रतिविम्बवाद में प्रतिबिम्ब के बिम्ब से अभिन्न एवं सत्य होने के कारण प्रतिबिम्बस्थानीय जीव तथा ईश्वर दोनों को ही सत्य माना जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रतिबिम्बवाद के दो प्रमुख भेद हैं। एक के प्रवर्तक संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि हैं। इनके मतमें जीव तथा ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्बरूप हैं। इन्होंने अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ईश्वर तथा अन्तःकरण में चैतन्य के प्रतिबिम्ब

---

१. जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम्। (छा० उ० शं० भा० ६।३।२)

२. बोधाभासो बुद्धिगतः कर्ता स्यात् पुण्यपापयोः। (लघुवाक्यवृत्ति, वृत्ति २)

३. अविद्याकार्यं बुद्धिस्थ प्रत्यगाभासरूपवत्।
बोद्धेत्यादि समुत्थानं भण्यते परमात्मनः। (बृ० उ० भा० वा०, अ० २, ब्रा० ४, वा० ४२७)

४. स्वाभासैर्बहुतामेति मनोबुद्ध्याद्युपाधिभिः।
(वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० ४२५)

५. आत्मा संसारितां यातो यथा कार्ष्ण्यं वियत्तथा। (वही, अ० २, ब्रा० ४, वा० ४३६)

को जीव माना है।[1] दूसरे मत के प्रवर्तक विवरणकार हैं। इनके अनुसार अविद्या (अन्तःकरण) में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है तथा बिम्बस्थानापन्न चैतन्य ईश्वर है।[2] इन्होंने ईश्वर को प्रतिबिम्बरूप न मानकर बिम्बरूप माना है। इस मतमें ईश्वर परमार्थतः ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य है। प्रतिबिम्बेशवादी संक्षेपशारीरक के मत में भी जीव तथा ईश्वर दोनों ही बिम्बाभिन्न होने के कारण सत्य हैं। इस प्रकार प्रतिबिम्बवाद के दोनों भेदों में जीव तथा ईश्वर को ब्रह्माभिन्न तथा सत्य माना गया है।

आभासवाद तथा प्रतिबिम्बवाद

आभास तथा प्रतिबिम्ब के भेद को निम्नप्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :—

१. प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्बरूप ही है, वस्त्वन्तर नहीं; जबकि आभास बिम्ब से भिन्न एवं मिथ्या है। प्रतिबिम्ब बिम्बरूप होने के कारण सत्य है, जबकि आभास बिम्ब से भिन्न होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या हैं।[3]

२. पारमार्थिक बिम्बैकरूप प्रतिबिम्ब सर्वथा सत्य है जबकि आभास स्वरूपतः मिथ्या किन्तु लक्ष्यत्वेन सत्य है।[4]

३. प्रतिबिम्ब के सत्य होने से प्रतिबिम्बवाद में उपाधि का 'बाध' में सामानाधिकरण्य होता है तथा प्रतिबिम्ब का 'अभेद' में सामानाधिकरण्य

---

१. कार्योपाधिर्भवेज्जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
प्रतिबिम्बोऽत्र संक्षेपशारीरककृता नये ॥
(सि० ले० सं० पृ० ८५)

२. अविद्यां चिदाभासो जीवो बिम्बचिदीश्वरः। (सि० ले० सं० पृ० १०२)

३. बिम्बादिव प्रतिबिम्बं न ब्रह्मणोवस्त्वन्तरम्, किन्तु तदेव तत्।
(पं० पा० प्रथमवर्णक, पृ० १०४)

आभासमिथ्यात्व :—माण्डूक्य गौडपादीय व्याख्या।
(४।५२, पृ० १९२)

४. किं च शास्त्रीयोऽपि व्यवहारः प्रतिबिम्बस्य पारमार्थिकमेव बिम्बैकरूपत्वं दर्शयति, "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन। नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्ये नभसो गतम् ॥ (पं० पा० प्रथमवर्णक, पृ० १०८)
आभास :—छान्दोग्य भाष्यव्याख्या (६।४।३, पृ० २९८) तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धि (चतुर्थमुद्गरप्रहार, पृ० २०२-३)

होता है। इसके विपरीत आभासवाद में आभास के मिथ्या होने के कारण आभास तथा उपाधि दोनों का 'बाध' में सामानाधिकरण्य होता है।[1]

४. "तत्त्वमसि" इस महावाक्य से अखण्डार्थबोध के लिए प्रतिबिम्बवाद में "तत् और त्वम्" पदों में अभेद सामानाधिकरण्य के लिये "जहद-जहल्लक्षणा" का आश्रय लिया जाता है; जबकि आभासवाद में बाधसामानाधिकरण्य के लिए "जहल्लक्षणा" स्वीकार की जाती है।

५. चिल्लक्षणविरहित होने के कारण आभास किंचिन्मात्र भी वस्तुसंस्पर्शी नहीं जबकि प्रतिबिम्ब बिम्बैकरूप होने के कारण बिम्बसंस्पर्शी है, यद्यपि वास्तविक रूप के गृहीत न होने से उसे बिम्ब से भिन्न समझा जाता है।

६. चैतन्यभिन्न आभास अज्ञानादि उपाधियों के भेद से कारणाभास तथा कार्याभास इन दो रूपों में प्रतीत होता है तथा आभासक चैतन्य अपने इन दोनों रूपों का अतिक्रमण करता है।[2] परन्तु बिम्ब अपने स्वरूपभूत प्रतिबिम्ब का अतिक्रामक नहीं होता।

७. आभास के लिए गुण या प्रकार की अपेक्षा होती है, जबकि प्रतिबिम्ब के लिये द्रव्य की अपेक्षा होती है।[3]

समीक्षा

शंकराचार्य ने अशेषविशेषप्रत्यनीक चिन्मात्र अद्वितीय ब्रह्म को ही परमार्थतः सत्य स्वीकार किया है। उनके मत में नामरूपात्मक प्रपंच के समान ही जीव का जीवत्व भी अविद्या का परिणाम है। यह आत्मा पर

---

१. न च सोऽयं स्थाणुः पुमानेष इतिवत् बाधायां सामानाधिकरण्यम्, फलिनोऽसत्त्वेनानिर्मोक्षपातादित्यर्थः।

[प्रबोधपरिशोधिनी (पंचपादिकाव्याख्या), पृ० १०८]

आभासवादः—आनन्दगिरिन्यायनिर्णय, (अ० १, पा० १, सू० ४, पृ०८५)

तथा मुण्डकोपनिषद्भाष्यव्याख्यानम्। (३।१।११, पृ० ३४)

२. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३, वा० ४१५ तथा नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० २, सम्बन्धोक्ति, पृ० ६७

३. आभासाय गुणस्य प्रकारस्य वापेक्षा प्रतिबिम्बनाय द्रव्यस्य।

सिद्धान्तबिन्दु, उपोद्घात (अभ्यंकर) पृ० १८

अनात्मा के आरोप के कारण प्रकट होता है। "अनिदम्" रूप आत्मा पर "इदम्" रूप बुद्धयादि का आरोप ही इसका कारण है। इस प्रकार जीव "इदमनिदमात्मक" है। इसमें "इदम्" अंश अनिर्वचनीय बुद्धयादि का तथा "अनिदम्" अंश आत्मा का है। इदमंश के अनिर्वचनीय एवं मिथ्या होने के कारण तन्निमित्तक जीव भी अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। तथापि "अनिदम्" अंश के सत्य होने से यह सत्य भी है। अन्य समस्त अध्यस्त पदार्थों के समान ही जीव भी सत्यानृत के मिथुनीकरण का परिणाम है। इसके अनृतत्व को प्रदर्शित करने के लिए शंकराचार्य ने स्फटिक लौहित्य आदि आभासपरक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। जैसे स्फटिक में प्रतिभासमान लौहित्य अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है वैसे ही जीव भी आभासरूप होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है। इस प्रकार आभाससूचक दृष्टान्तों के द्वारा जीव के इदमंशप्रयुक्त मिथ्यात्व का प्रदर्शन किया गया है।

किन्तु जीव का अनिदमंश परमार्थतः प्रत्यागात्मस्वरूप है, अतः इसके सत्यत्व का अपलाप भी नहीं किया जा सकता। अतएव शंकराचार्य ने जीव के अनिदमंश के सत्यत्व का प्रतिपादन करने के लिये मुखचन्द्रादिप्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का भी अपने भाष्यग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है। जैसे प्रतिबिम्ब बिम्बाभिन्न होने के कारण सत्य है वैसे ही प्रतिबिम्बरूप जीव भी बिम्बरूपब्रह्म से अभिन्न होने के कारण सत्य है। प्रतिबिम्ब बिम्बात्मना सत्य है, केवल उसका पृथगवभास तथा विपर्ययस्वरूपता ही मिथ्या है।[1] उसी प्रकार प्रतिबिम्बरूप जीव भी बिम्बात्मना (ब्रह्मात्मना) सत्य है, केवल उसका ब्रह्म से पृथगवभास तथा विपर्ययस्वरूपता ही मिथ्या है। इस प्रकार शंकराचार्य ने प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों के द्वारा जीव के ब्रह्माभिन्नत्व एवं सत्यत्व का प्रतिपादन किया है।

इसीप्रकार आत्मा की असंगता का प्रतिपादन करने के लिये शंकराचार्य ने घटाकाश आदि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

---

१. बिम्बादिव प्रतिबिम्बं न ब्रह्मणो वस्त्वन्तरम्, किंतु तदेव तन्, पृथगवभासविपर्ययस्वरूपतामात्रं मिथ्या इति दर्शयितुम्।

(पं० पा०, पृ० १०४)

श्रुतियों में स्पष्टरूप से आत्मा की असंगता का प्रतिपादन किया गया है। श्रुतिप्रतिपादित आत्मा की असंगता को प्रदर्शित करने के लिए ही घटाकाशादि दृष्टान्तों का भाष्यकार ने स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है।[१] प्रतिबिम्ब के उपाधिगत दोषों से दूषित हो जाने के कारण प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों के द्वारा आत्मा की असंगता का प्रदर्शन संभव नहीं। स्फटिक-लौहित्य आदि आभासपरक दृष्टान्तों से भी आत्मा की असंगता का सम्यक् प्रतिपादन नहीं हो सकता क्योंकि स्फटिक में लौहित्य का आसंग-सा अवभासित होता है।[२] रज्जुसर्प इत्यादि दृष्टान्तों से भी आत्मा की असंगता का पूर्णरूप से प्रतिपादन नहीं होने पाता।[३] घटाकाशादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों से ही आत्माकी असंगता का पूर्णतया प्रतिपादन हो जाता है। अतएव शंकराचार्य ने आत्मा की असंगता के प्रदर्शन के लिए घटाकाशादि दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

इस सम्बन्ध में विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य का कथन है कि स्फटिक गत लौहित्य के दृष्टान्त से आत्मा में कर्तृत्व आदि आरोपित प्रतीत होते हैं, प्रतिबिम्ब दृष्टान्त से जीव और ब्रह्म की एकता दिखलाई जाती है, रज्जु और सर्प के दृष्टान्त से अधिष्ठानभूत ब्रह्म से अतिरिक्त प्रपंच की स्वतन्त्रता का निराकरण किया जाता है तथा घटाकाश के दृष्टान्त से संगराहित्य दिखलाकर विशुद्ध और अद्वितीय प्रत्यगात्मा का प्रतिपादन किया जाता है।[४]

पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य ने जीवविषयक इन सभी दृष्टान्तों की उपयोगिता को स्वीकार किया है। उनके मत में अवच्छेदपरक, प्रति-बिम्बपरक तथा आभासपरक दृष्टान्तों की अपनी-अपनी विशेषता है। वस्तुतः इन सभी दृष्टान्तों का प्रयोजन आत्मा के सम्बन्ध में असंभावना

---

१. तेन असंगो न हि सज्जते, असंगो ह्ययं पुरुषः इत्यादि श्रुतिसमर्थितासंगता आत्मनो न स्पष्टं दर्शितेति तदर्थं घटाकाशोदाहरणम्।
(पं० पा०, पृ० ११३)

२. तथापि तदासंगीव स्फटिकप्रतिबिम्बमुत्प्रेक्षते। (वही, पृ० ११२)

३. रज्ज्वां पुनः सर्वबुद्धिरेव न तत्संभिन्नत्वमसंभिन्नत्वं वा। (वही, पृ० ११३)

४. स्फटिकलौहित्यदृष्टान्तेनात्मनि कर्तृत्वादेरारोपितत्वम्, प्रतिबिम्बदृष्टान्तेन जीवब्रह्मैक्यम्, रज्जुसर्पदृष्टान्तेन ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपंचस्य स्वातन्त्र्याभावः, घटाकाशदृष्टान्तेन असंगताद्वारेण विशुद्धाद्वितीयप्रत्यगात्मता।
(वि० प्र० सं०, पृ० ७०५-६)

का परिहार तथा संभावना का प्रदर्शनमात्र है, वस्तु की साक्षात् सिद्धि नहीं। आत्मा की सिद्धि तो श्रुति, श्रुतिमूलकन्याय तथा अनुभव से ही सम्भव है।[1]

---

१. एतच्च सर्वमुदाहरणजातं श्रुतितन्न्यायानुभवसिद्धस्य असंभावनापरिहाराय बुद्धिसाम्यार्थं च न वस्तुन एव साक्षात् सिद्धये।

(पं० पा०, पृ० ११३)

पञ्चम अध्याय

ईश्वर

१. शंकराचार्यसम्मत ईश्वर का स्वरूप

निर्गुण, निरुपाधिक, निर्विशेष ब्रह्म माया के अवच्छिन्न होने पर सगुण, सोपाधिक एवं सविशेष बनकर ईश्वर कहलाता है। यह ईश्वर ही जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण है। निर्गुण एवं निरुपाधिक ब्रह्म में ईश्वरत्व सर्वज्ञत्व तथा जगत्कारणत्व आदि व्यवहारों की उपपत्ति न हो सकने के कारण मायावच्छिन्न ब्रह्म में ही ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा जगत्कारणत्व आदि की उपपत्ति होती है।[1] माया ईश्वर के अधीन है, अतः वह उसके स्वभाव का आवरण करने में असमर्थ है। जैसे विशुद्ध दर्पण पदार्थों के गुणों का आवरण नहीं करता, वैसे ही शुद्ध सत्त्वमयी माया ईश्वर के गुणों का आवरण नहीं करती और यह उसमें अविद्या तथा अन्तःकरण आदि की सृष्टि नहीं करती। माया की सहायता से ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है। जगत् की सृष्टि में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है। श्रुति ईश्वर को आप्तकाम तथा निःस्पृह कहकर पुकारती है। यदि सृष्टि व्यापार से ईश्वर का कोई प्रयोजन सिद्ध होता हो तो उसे आप्तकाम कैसे माना जा सकता है? अतः ईश्वर का यह जगत्व्यापार लीला मात्र है, किसी प्रयोजन या कामना की पूर्ति के लिये नहीं।[2] जैसे लोक में सकलमनोरथसिद्ध पुरुष के समस्त व्यापार लीला के लिये ही होते हैं, उसी प्रकार आप्तकाम ईश्वर का यह सृष्टिव्यापार लीलारूप ही है। ईश्वर जगत् का स्वामी है। वह जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है। ईश्वर सदैव ब्रह्म के साथ

---

१. तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छिन्नापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते। (ब्र० सू० शां० भा० २।१।१४, पृ० १८२)
तथा—चैतन्यं तदवच्छिन्नं सत्यज्ञानादिलक्षणम्। सर्वज्ञेश्वरत्वान्तर्यामित्वादिगुणैर्युतम्॥ (सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, पृ० १९१)

२. एवमीश्वरस्यानपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। (ब्र० सू० शा० भा० २।१।३३, पृ० २१७)

अपने अभेद को समझता हुआ शाश्वत आनन्द में मग्न है। किन्तु जीव अपने वास्तविक रूप को न समझ सकने के कारण अनवरत आवागमन के चक्र में घूम रहा है। ईश्वर और जीव में कहीं स्वामी और भृत्य का सा सम्बन्ध बतलाया गया है, तो कहीं अग्नि और स्फुलिंग के समान उनमें अंशांशिभाव माना गया है। किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि जीव और ईश्वर का यह अंशांशिभाव तथा सेव्यसेवकरूप सम्बन्ध औपाधिक है, पारमार्थिक नहीं। परमार्थतः निरवयव ब्रह्म का अंश सम्भव नहीं है।[1] यदि उसका अंश माना जाय तो वह निरवयव नहीं माना जा सकता। अतएव एक अद्वितीय निर्विशेष निरुपाधिक ब्रह्म ही उपाधिभेद से ईश्वर तथा जीव के रूप में अवभासित होता है।

२. प्रतिबिम्बवाद

ईश्वर तथा जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में विविध मत उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रकटार्थविवरणकार का यह मत है कि अनादि, अनिर्वचनीय, सब भूतों की प्रकृति और चिन्मात्र में रहनेवाली माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है तथा उसी माया के अविद्यानामक आवरण और विक्षेपवाले परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशों में चैतन्य का प्रतिबिम्बि जीव है।[2] तत्त्वविवेक में माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव माना गया है। माया में विशुद्धसत्त्व की प्रधानता है, जबकि अविद्या में सत्त्व-गुण रज और तमसे अभिभूत होता है।[3] कहीं-कहीं माया तथा अविद्या का भेद आवरण तथा विक्षेप शक्तियों के भेद के आधार पर भी माना गया है। माया में विक्षेपशक्ति की प्रधानता मानी गई है, जबकि अविद्या में आव-रण शक्ति की। एक ही मूलप्रकृति विक्षेपशक्ति की प्रधानता से मायाशब्द-वाच्य होकर ईश्वर की उपाधि होती है तथा आवरणशक्ति की प्रधानता

---

१. नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति। (वही, २।३।४३, पृ० २९७)

२. अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसंबन्धिनी माया। तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः, तस्या एव परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेषु आवरणविक्षेपशक्तिमत्सु अविद्याभिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीवः। (सि० ले० सं०, पृ० ८१-८२)

३. सत्त्वशुद्धिविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। (पंचदशी तत्त्वविवेक, पृ० १२)
रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, तदभिभूतमलिनसत्त्वा अविद्येति मायाविद्याभेदं परिकल्प्य मायाप्रतिबिम्ब ईश्वरः, अविद्याप्रतिबिम्बो जीव इत्युक्तम्। (सि० ले० सं०, पृ० ८३)

अपने अभेद को समझता हुआ शाश्वत आनन्द में मग्न है। किन्तु जीव अपने वास्तविक रूप को न समझ सकने के कारण अनवरत आवागमन के चक्र में घूम रहा है। ईश्वर और जीव में कहीं स्वामी और भृत्य का सा सम्बन्ध बतलाया गया है, तो कहीं अग्नि और स्फुलिंग के समान उनमें अंशांशिभाव माना गया है। किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि जीव और ईश्वर का यह अंशांशिभाव तथा सेव्यसेवकरूप सम्बन्ध औपाधिक है, पारमार्थिक नहीं। परमार्थतः निरवयव ब्रह्म का अंश सम्भव नहीं है।[1] यदि उसका अंश माना जाय तो वह निरवयव नहीं माना जा सकता। अतएव एक अद्वितीय निर्विशेष निरुपाधिक ब्रह्म ही उपाधिभेद से ईश्वर तथा जीव के रूप में अवभासित होता है।

२. प्रतिबिम्बवाद

ईश्वर तथा जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में विविध मत उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रकटार्थविवरणकार का यह मत है कि अनादि, अनिर्वचनीय, सब भूतों की प्रकृति और चिन्मात्र में रहनेवाली माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है तथा उसी माया के अविद्यानामक आवरण और विक्षेपवाले परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशों में चैतन्य का प्रतिबिम्बि जीव है।[2] तत्त्वविवेक में माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव माना गया है। माया में विशुद्धसत्त्व की प्रधानता है, जबकि अविद्या में सत्त्वगुण रज और तमसे अभिभूत होता है।[3] कहीं-कहीं माया तथा अविद्या का भेद आवरण तथा विक्षेप शक्तियों के भेद के आधार पर भी माना गया है। माया में विक्षेपशक्ति की प्रधानता मानी गई है, जबकि अविद्या में आवरण शक्ति की। एक ही मूलप्रकृति विक्षेपशक्ति की प्रधानता से मायाशब्दवाच्य होकर ईश्वर की उपाधि होती है तथा आवरणशक्ति की प्रधानता

---

१. नहि निरवयवस्य मुख्योऽशः संभवति। (वही, २।३।४३, पृ० २९७)

२. अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसंबन्धिनी माया। तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः, तस्या एव परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेषु आवरणविक्षेपशक्तिमत्सु अविद्याभिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीवः। (सि० ले० सं०, पृ० ८१-८२)

३. सत्त्वशुद्धिविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। (पंचदशी तत्त्वविवेक, पृ० १२)
रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, तदभिभूतमलिनसत्त्वा अविद्येति मायाविद्याभेदं परिकल्प्य मायाप्रतिबिम्ब ईश्वरः, अविद्याप्रतिबिम्बो जीव इत्युक्तम्। (सि० ले० सं०, पृ० ८३)

से अविद्याशब्दवाच्य होकर जीव की उपाधि बनती है।[1] आवरणशक्ति के सम्बन्ध से जीव को "मैं अज्ञ हूँ" इस प्रकार अपनी अज्ञता का भान होता है जबकि ईश्वर का आवरणशक्तिप्रधान अविद्या से सम्बन्ध न होने के कारण इसे ऐसा भान नहीं होता।[2]

किन्तु इसके विपरीत संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि ने माया तथा अविद्या में कोई भेद नहीं माना है। उन्होंने अविद्या तथा उसके कार्य अन्तःकरण में भेद मानकर अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहा है।[3]

पूर्वोक्त सभी मतों में जीव तथा ईश्वर दोनों को विशुद्ध चेतन्यरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माना गया है। किन्तु विवरणानुयायी विचारकों के मत में ईश्वर को प्रतिबिम्ब नहीं माना जाता। ईश्वर को उनके मत में प्रतिबिम्बरूप जीव का बिम्बस्थानीय माना गया है। ईश्वर बिम्बस्थानीय होने से स्वतन्त्र है जबकि जीव प्रतिबिम्बस्थानीय होने से परतन्त्र है। ईश्वर की यह स्वतंत्रता तभी मानी जा सकती है जबकि उसे बिम्बरूप माना जाय। यदि उसे भी जीव की तरह प्रतिबिम्बरूप माना जायगा तो वह भी जीव के समान ही परतन्त्र हो जायगा। अतः ईश्वर के स्वातन्त्र्य के उपपादन के लिये इसे बिम्बरूप मानना ही उचित है।[4] इसके अतिरिक्त ईश्वर को प्रतिबिम्ब मानने में एक और भी कठिनाई है। प्रतिबिम्ब के भेद के लिये प्रतिबिम्ब की उपाधि का भेद आवश्यक है। उपाधि के भेद के विना एक ही बिम्ब के दो विभिन्न प्रतिबिम्ब नहीं हो सकते। ईश्वर और जीव एक दूसरे से विभिन्न स्वभाववाले हैं। यदि इन दोनों को एक ही विशुद्ध चैतन्य का प्रतिबिम्ब माना जाय तो इसके लिये प्रतिबिम्बोपाधि में भेद आवश्यक है। उपाधि के भेद के विना ईश्वर और जीवरूप प्रतिबिम्बों की कल्पना नहीं की जा सकती।[5] इसी लिये प्रतिबिम्बेशपक्ष में माया तथा अविद्या अथवा अविद्या और

---

१. एकैव मूलप्रकृतिर्विक्षेपप्राधान्येन मायाशब्दितेश्वरोपाधिः, आवरणप्राधान्येनाविद्याज्ञानशब्दिता जीवोपाधिः। (सि० ले० सं० पृ० ८४)।

२. अतएव....जीवस्यैव "अज्ञोऽस्मि" इत्यज्ञानसंबन्धानुभवः, नेश्वरस्य। (वही)

३. कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
(संक्षेपशारीरक तथा सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ८५)

४. तथा सत्येव लौकिकबिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तेन स्वातन्त्र्यमीश्वरस्य, तत्पारतन्त्र्यं जीवस्य च युज्यते। (सि० ले० सं०, पृ० १०३-४)

५. उपाधिद्वयमन्तरेणोभयोः प्रतिबिम्बत्वायोगात्। (सि० ले० सं० पृ० १०३-४)

उसके कार्य अन्तःकरण में भेद माना गया है और इस भेद के आधार पर ही ईश्वर और जीवरूप दो विभिन्न प्रतिबिम्बों की कल्पना की गई है। किन्तु विवरणानुयायी विचारक इस मत से सहमत नहीं हैं। वे माया को प्रतिबिम्बोपाधि के रूप में नहीं मानते तथा ईश्वर को प्रति-बिम्बरूप न मानकर बिम्बरूप ही मानते हैं। जीव को उन्होंने अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य रूप माना है।[1] जैसे सर्वत्र व्याप्त सूर्य की किरणों का अभि-व्यक्तिस्थान दर्पण है, वैसे ही अविद्या में प्रतिबिम्बित जीव का विशेष अभिव्यक्तिस्थान अविद्या का परिणामरूप अन्तःकरण है।[2] अन्तःकरण के कारण ही जीव के प्रमातृत्व, कर्तृत्व आदि धर्मों की अभिव्यक्ति होती है। कर्तृत्व आदि धर्मों के केवल अविद्यापरिणामित्व न होने से उसकी उपाधितामात्र से जीव में कर्तृत्व आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु कर्तृत्व आदि धर्मवाले अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास से ही जीव में कर्तृत्व आदि की उपपत्ति हो सकती है। इसीलिए जीव के अविद्योपा-धिक होने पर भी उसे अन्तःकरणोपाधिक माना गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इससे जीव की अविद्योपाधिकता का निराकरण किया गया है। क्योंकि यदि जीव को अन्तःकरणोपाधिक ही माना जाय अविद्योपाधिक नहीं; तो ऐसी दशा में योगियों में एककालीन अनेक शरीरों के नियन्तृत्व की उपपत्ति नहीं हो सकेगी।[3] अतएव विवरणा-नुयायियों के मत में अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव माना गया है। इस तरह प्रतिबिम्बद्वय के लिये अपेक्षित उपाधियों के अभाव से वे जीव और ईश्वर दोनों को प्रतिबिम्बरूप न मानकर जीव को प्रतिबिम्ब रूप तथा ईश्वर को इसका बिम्बरूप स्वीकार करते हैं।[4]

---

१. बिम्बप्रतिबिम्बभावेन जीवेश्वरयोर्विभागः, नोभयोरपि प्रतिबिम्बभावेन।.... तत्रापि प्रतिबिम्बो जीवः, बिम्बस्थानीय ईश्वरः। (वही)

२. अज्ञानप्रतिबिम्बितस्य जीवस्यान्तःकरणरूपोऽज्ञानपरिणामभेदो विशेषाभि-व्यक्तिस्थानं सर्वतः प्रसृतस्य सवितृप्रकाशस्य दर्पण इव। (सि० ले० सं०, पृ० १०५)

३. नैतावता ज्ञानोपाधिपरित्यागः, अन्तःकरणोपाधिपरिच्छिन्नस्यैव चैतन्यस्य जीवत्वे योगिनः कामव्यूहाधिष्ठानत्वानुपपत्तेः। (वही)

४. सि० ले० सं०, पृ० १०४।

३. आभासवाद:

आभासवादी सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक में चिद्व्यतिरिक्त ईशादिविषयान्त जगत् की आभासरूपता का प्रतिपादन किया है तथा चेतन एवं अचेतन के रूप में अध्यास के द्वैविध्य को स्वीकार किया है। उन्होंने चेतनाभास (कारणाभास) तथा अचेतनाभास (कार्याभास) में ही ईश्वर से लेकर सम्पूर्ण चराचर जगत् का अन्तर्भाव माना है। अविद्यागत चिदाभास को सुरेश्वराचार्य ने ईश्वर कहा है। आभासवाद में आभास को बिम्ब से भिन्न एवं मिथ्या स्वीकार किया जाने के कारण चिदाभासरूप ईश्वर को ब्रह्म से भिन्न एवं मिथ्या माना जाता है।[1] इसके विपरीत प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब के ब्रिम्ब से अभिन्न एवं सत्य होने के कारण प्रतिबिम्बरूप ईश्वर को बिम्बरूप ब्रह्म से अभिन्न एवं सत्य माना जाता है। प्रतिबिम्बवाद के उस पक्ष में तो जहाँ ईश्वर को प्रतिबिम्बरूप न मान कर बिम्बरूप माना गया है, ईश्वर की सत्यता स्पष्ट ही है।

४. अवच्छेदवाद :

किन्तु अवच्छेदवादी वाचस्पतिमिश्र के मत में ईश्वर को न तो चित् का प्रतिबिम्ब माना जा सकता है और न ही चित् का आभास; क्योंकि प्रतिबिम्ब या आभास के लिए बिम्ब का रूपवत्त्व आवश्यक है। नीरूप वस्तु का न तो प्रतिबिम्ब ही सम्भव है और न ही आभास। चैतन्य नीरूप है, अतएव न तो उसका प्रतिबिम्ब ही पड़ सकता है और न ही आभास सम्भव है। माया अथवा अविद्या के रूपहीन होने के कारण उन्हें प्रतिबिम्ब की उपाधि भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि प्रतिबिम्बोपाधि का भी रूपवत्त्व आवश्यक है। अतएव ईश्वर को चैतन्य का प्रतिबिम्ब या आभास नहीं माना जा सकता। इसलिए वाचस्पतिमिश्र ने अविद्या के आश्रय तथा विषय में भेद मानकर अविद्या का आश्रय जीव को तथा अविद्या का विषय ईश्वर को स्वीकार किया है और इस प्रकार अविद्या के आश्रय तथा विषय के भेद के आधार पर जीव तथा ईश्वर के स्वरूप का उपपादन किया है। भामतीकार ने अविद्यावच्छिन्न चैतन्य को जीव तथा अविद्याविषयीभूत चैतन्य को ईश्वर माना है। वे कहते हैं यद्यपि अविद्या

---

१. ईशादिविषयान्तं यत्तदविद्याविजृम्भितम्। बृ० उ० भा० वा०, १।४।३८२ ब्रह्मानन्दी पृ० [illegible]; संक्षेपशारीरक १।१६९; सिद्धान्तबिन्दु पृ० २७-२८; अद्वैतब्रह्मसिद्धि (सदानन्दयति) पृ० २०३।

का आरोप होता है वैसे ही जीवाज्ञात परमेश्वर पर प्रपंच का आरोप होता है।[1] अतः प्रपंचविभ्रम का अधिष्ठान परमेश्वर है, जीव नहीं। वाचस्पतिमिश्र के मत में अविद्या का अधिष्ठान या विषय ही रजतादि विवर्त का उपादान है, अविद्या नहीं। वे कहते हैं कि अचेतनवस्तु चेतनाधिष्ठित हुए बिना कार्य के लिए समर्थ नहीं होती, अतएव अचेतन अविद्या प्रपंचविभ्रमरूप कार्य के लिए परमेश्वर का निमित्तरूप से अथवा उपादानरूप से आश्रय ग्रहण करती है अतएव जैसे अहिविभ्रम का अधिष्ठान रज्जु है, वैसे ही प्रपंचविभ्रम का अधिष्ठान ईश्वर है और जैसे अहिविभ्रम का उपादान कारण रज्जु है, वैसे ही प्रपंचविभ्रम का उपादान कारण ईश्वर है।[2] इस प्रकार भामतीकार वाचस्पतिमिश्रने स्पष्ट शब्दों में प्रपंचविभ्रम का उपादान कारण ईश्वर को ही माना है। अतएव उनके मत में दृष्टिसृष्टिवाद एवं वैयक्तिक विज्ञानवाद की शंका सर्वथा निर्मूल एवं निराधार है।

---

१. जीवाज्ञाते परमेश्वरे शुक्तिशकले रजतस्येवारोप उपपद्यते।

(वे० क० प०, पृ० ३२४)

२. प्रपंचविभ्रमस्यहीश्वराधिष्ठानत्वमहिविभ्रमस्येव रज्ज्वधिष्ठानत्वम्, तेन यथाऽहिविभ्रमो रज्जूपादानः, एवं प्रपंचविभ्रम ईश्वरोपादानः।

(भामती, पृ० ३७८)

षष्ठ अध्याय

जगत्

१. जगत् की व्यावहारिक सत्ता

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं; शंकराचार्य के मत में एकमात्र निर्गुण निर्विशेष एवं निरुपाधिक ब्रह्म ही पारमार्थिक दृष्टि से सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्मरूप है।[१] किन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि जगत् को मिथ्या कहने का क्या अभिप्राय है ? क्या यह गगनारविन्द या शशशृंग के समान सर्वथा असत् एवं अलीक है ? शंकराचार्य के ग्रन्थों के सम्यगनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने जगत् को सर्वथा असत् नहीं माना है और न ही उन्होंने इसे शुक्तिरजत आदि प्रतिभासिक पदार्थों के समान ही माना है। उन्होंने इसे प्रतिभासिक पदार्थों से उत्कृष्ट कोटि का स्वीकार किया है। प्रतिभासिक रजत आदि पदार्थों की सत्ता तो तभी तक रहती है जब तक कि उनके अधिष्ठानभूत शुक्तिकादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होता उनके ज्ञात हो जाने पर इन प्रतिभासिक वस्तुओं का व्यवहारावस्था में ही बाध हो जाता है। किन्तु इसके विपरीत इस जगत् की सत्ता तबतक बनी रहती है। जबतक कि इससे भी उत्कृष्ट सत्ता "ब्रह्म" के अवरोध से इसका बाध नहीं हो जाता।[२] व्यवहारावस्था में अबाधित रूप से अवस्थित रहने के कारण जगत् को व्यावहारिक माना गया है।

शंकराचार्य ने अपने भाष्यग्रन्थों में व्यावहारिक तथा प्रतिभासिक सत्ता के भेद पर स्पष्टरूपसे प्रकाश डाला है तथा व्यावहारिक सत्ता के स्थायित्वको स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। व्यावहारिक जगत् के स्वप्नजगत् से वैधर्म्य का प्रतिपादन करते हुए वे कहते हैं कि स्वप्न में अनुभूयमान पदार्थों की सत्ता तभी तक रहती है जबतक कि जागरितावस्था की प्राप्ति नहीं होती। जागरितावस्था में स्वप्नानुभूत पदार्थों का बाध हो जाता है। किन्तु व्यावहारिक जगत् के पदार्थों की सत्ता जागरितावस्था

---

१. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरः।

२. तस्मात् प्राग् ब्रह्मात्मताप्रबोधाद् उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः। (ब्र० सू०, शां० भा०, २।१।१४)

में भी अबाधित रहती है।[1] अतः ये स्वप्नकालीन पदार्थों से अधिक स्थायी एवं उत्कृष्ट कोटि के हैं। इसके अतिरिक्त स्वप्नदर्शन स्मृतिरूप होता है जबकि जागरितदर्शन उपलब्धिरूप होता है।[2] अतएव व्यावहारिक जगत् को स्वप्नजगत् के समान प्रातिभासिक नहीं माना जा सकता है।

क. विज्ञानवाद का खण्डन :

योगाचार विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए शंकराचार्य ने पदार्थों की विज्ञानव्यतिरिक्त बाह्य सत्ता को प्रबल युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि पदार्थों की बाह्य सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता क्योंकि विज्ञान से स्वतन्त्र घट, पट इत्यादि पदार्थों की उपलब्धि होती है।[3] भोजन के द्वारा तृप्ति का अनुभव करते हुए यदि कोई यह कहे कि वह भोजन नही कर रहा या भोजन से होनेवाली तृप्ति का वह अनुभव नहीं कर रहा तो जैसे उसकी बात को कोई प्रामाणिक नहीं मानता, वैसे ही इन्द्रियसंनिकर्ष के द्वारा बाह्य पदार्थों को स्वयं उपलब्ध करते हुए यदि कोई कहे कि बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं है, या उनकी उपलब्धि उसे नहीं हो रही है, तो वह भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।[4] इस सम्बन्ध में विज्ञानवाद की यह शंका युक्त नहीं है कि अर्थ उपलब्धिरूप (विज्ञानरूप) ही है, उपलब्धि से पृथक् स्वतन्त्ररूप से उसकी सत्ता नहीं; क्योंकि कोई भी व्यक्ति उपलब्धि को ही स्तम्भ, कुड्य आदि रूप से उपलब्ध नहीं करता। सभी लोग स्तम्भादि को उपलब्धि के विषय के रूप में ही उपलब्ध करते हैं।[5] घट, पट इत्यादि बाह्य

---

१. बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति।...नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते।
(ब्र० सू० शा० भा० वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" २।२।२९)

२. अपि न स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम् उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्।
(ब्र० सू० शां० भा० २।२।२९)

३. उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति।
(ब्र० सू०, शां० भा० "नाभाव उपलब्धेः" २।२।२८)

४. तद्वदिन्द्रियसन्निकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन् कथमुपादेयवचनः स्यात्। (ब्र० सू० शां भा० २।२।२८)

५. न हि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते। उपलब्धिविषयत्वेनैव स्तम्भकुड्यादीन् सर्वे लौकिका उपलभन्ते। (वही)

पदार्थों की सत्ता तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर ही सिद्ध है। अतएव प्रमाणोपलब्ध बाह्य पदार्थों का अभाव कैसे माना जा सकता है?[1] ज्ञान के विषय-सारूप्य के कारण विषय का नाश नहीं माना जा सकता, क्योंकि विषय के अभाव में ज्ञान का विषयसारूप्य कैसे उपपन्न हो सकता है।[2] ज्ञान तथा विषय के सहोपलम्भ के नियम से भी इन दोनों में अभेद की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सहोपलम्भ का कारण इन दोनों में होने वाला उपायोपेयभाव सम्बन्ध हैं, अभेद नहीं।[3] विषय ज्ञान का उपाय है और ज्ञान विषय का उपेय है। इस उपायोपेयभाव सम्बन्ध के कारण ही इनमें सहोपलम्भनियम दृष्टिगत होता है, इसलिये नहीं कि ज्ञान और उसके विषय में अभेद सम्बन्ध है। ज्ञान और ज्ञान के विषय में भेद मानना आवश्यक है। जैसे शुक्ल गौ, कृष्ण गौ इत्यादि में शौक्ल्य और कार्ष्ण्य का ही भेद है गोत्व का नहीं, वैसे ही घटज्ञान, पट ज्ञान इत्यादि में विशेषणरूप घट पट आदि का ही भेद है, विशेष्यरूप ज्ञान का नहीं।[4] तथा जैसे क्षीरगन्ध, क्षीररस इत्यादि में विशेष्यरूप गन्ध और रस आदि का ही भेद है, विशेषणरूप क्षीर का नहीं, वैसे ही घटदर्शन, घटस्मरण इत्यादि में विशेष्यरूप दर्शन स्मरण आदि का ही भेद है, विशेषणरूप घट का नहीं[5] इससे स्पष्ट है कि ज्ञान तथा विषय में अभेद नहीं अपितु भेद है।[6] अतएव ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य विषय की सत्ता को मानना आवश्यक है। शंकराचार्यकृत विज्ञानवाद की उपर्युक्त समीक्षा से यह स्पष्ट है कि वे विज्ञानव्यतिरिक्त बाह्य जगत् की सत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं तथा इसे प्रातिभासिक सत्ता से अधिक स्थायी तथा उत्कृष्ट कोटि का मानते हैं। प्रातिभासिक पदार्थ प्रतिभासकालावस्थायी है, जबकि व्यावहा-

---

१. इह तु यथास्व सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादि-विकल्पैर्न सम्भवतीत्युच्येत उपलब्धेरेव। (वही)

२. न च ज्ञानस्य विषयसारूप्याद्विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः। (वही)

३. अतएव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुक इत्यभ्युपगन्तव्यम्। (वही)

४. अपि च घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य। (वही)

५. तथा घटदर्शनं घटस्मरणमित्यत्रापि प्रतिपत्तव्यम्। अत्रापि हि विशेष्ययोरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य। (वही)

६. तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः। (वही)

रिक जगत् व्यवहारकालावस्थायी है। प्रातिभासिक पदार्थ का व्यवहारावस्था में ही बाध हो जाता है, किन्तु व्यावहारिक जगत् व्यवहारावस्था में अबाधित रहता है अतः व्यावहारिक जगत् प्रातिभासिक जगत् से अधिक स्थायी एवं श्रेष्ठ है।

ख. व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता में भेद :

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य ने समस्त पदार्थों को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया है :—१. सत्, २. असत्, ३. व्यावहारिक, ४. प्रतिभासिक। इनमें सत् वह है जिसका किसी काल में बाध न हो। त्रिकालाबाधित होने के कारण एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थतः सत् है। असत् वह है जो सर्वदा निःस्वरूप हो जैसे शशश्रृंगादि। व्यावहारिक वह है जो व्यवहारकाल तक ही अबाधित रहे। वियदादिप्रपंच के व्यवहारावस्था में अबाधित रहने से इसे व्यावहारिक माना जाता है। प्रातिभासिक वह है जो प्रतिभास (प्रतीत) के समय ही रहे और जिसका व्यवहारकाल में बाध हो जाय। शुकिरजतादि तथा स्वप्नजगत् प्रतीतिकालपर्यन्त ही रहते हैं तथा व्यवहारकाल में बाधित हो जाते हैं अतः इन्हें प्रातिभासिक माना गया है।[1] इस प्रकार शंकराचार्य ने पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक रूप में सत्ता के त्रैविध्य को स्वीकार किया है। इनमें व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता को न सत् माना जा सकता है और न ही अत्यन्त असत्। इन्हें सत् इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि इनका बाध हो जाता है। इन्हें अत्यन्त असत् भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इनकी उपलब्धि होती है। अतः सत् तथा असत् दोनों से विलक्षण होने के कारण इन्हें अनिर्वचनीय एवं मिथ्या माना जाता है। मिथ्यात्व का अर्थ अनिर्वचनीयत्व है; अत्यन्त असत्त्व नहीं। ब्रह्मज्ञानानन्तर जगत् के बाधित हो जाने के कारण इसे अनिर्वचनीय एवं मिथ्या कहा गया है; इसलिए नहीं कि गगनारविन्द या शशश्रृंग के समान इसका सर्वथा अभाव है।

---

१. सत् असत् व्यावहारिकं प्रातिभासिकं इति चतुष्टयी विधा। कालत्रयाबाध्यस्वरूपं सत्, सर्वदा निःस्वरूपं असत्, व्यवहारकालमात्राबाध्यस्वरूपवत् व्यावहारिकं, व्यवहारकाले एव बाध्यप्रातीतिकस्वरूपवत् प्रातिभासिकम्। आद्यं ब्रह्म। द्वितीयं शशशृंगादि।....तृतीयं वियदादिप्रपंचः सृष्टिस्थितिलयादिमान्। चतुर्थं शुक्तिरूप्यादि स्वाप्नप्रपंचश्च। (पंचपादिका तथा पंचपादिकाविवरण, मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज १९५८ भूमिका पृ० ९३)

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यद्यपि व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक दोनों प्रकार की सत्ता सदसद्विलक्षण होने से अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है, तथापि इन दोनों में पर्याप्त अन्तर माना गया है। व्यावहारिक सत्ता प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा अधिक स्थायी एवं उत्कृष्ट मानी गयी है।[1]

ग. नागेश के मत में व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता के भेद का अभाव :

नागेशभट्ट ने लघुमञ्जूषा में व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता के भेद का खण्डन किया है और दोनों को समानरूप से असत् सिद्ध करने का प्रयास किया है।[2] भ्रम में प्रतीयमान रजतादि को उन्होंने शशशृंगादि के समान सर्वथा असत् माना है तथा अनिर्वचनीयोत्पत्तिवाद का खण्डन किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक उभयविध प्रपंच तथा उसके ज्ञान का विषय सर्वथा असत् ही है। असत् होने के कारण उसकी उत्पत्ति, विनाश तथा बहिष्ट्व आदि भी नहीं है।[3] यह सब आरोपितमात्र है। असदर्थ का प्रकाशन ही माया है। परमार्थतः असत् होते हुए भी उसमें सत्त्व आरोपित है, इसलिए उसे सदसदात्मक कहा जाता है। किन्तु परमार्थतः वहाँ सत्त्व का अभाव है, सत्त्व का तो केवल आरोप होता है।[4] यह नामरूपात्मक जगत् केवल भ्रममात्र है। वे कहते हैं कि ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता अन्यथा ब्रह्म भी घटोपादानक मृत्तिका के समान विकारी हो जायगा।[5] किन्तु जगत् को भ्रममात्र मानने पर इस दोष की प्रसक्ति

---

१. प्राक् तु ब्रह्मात्मदर्शनात् वियदादिप्रपंचः व्यवस्थितरूपो भवति, सन्ध्याश्रयस्तु प्रपचः प्रतिदिनं बाध्यते। (ब्र० सू०, शां० भा० ३।२।४)

२. नागेशस्तु शशशृंगादिवदेव प्रातिभासिकव्यावहारिकयोरपि प्रपंचयोः निस्स्वरूपत्वं तत्प्रतीतेरर्थशून्यत्वमाचष्टे। (पंचपादिका, मद्रास, भूमिका ९३)

३. प्रातिभासिकव्यावहारिकोभयविधप्रपंचज्ञानयोरपि विषयः असन्नेव। असत्त्वादेव तस्य उत्पत्तिविनाशबहिष्ट्वादिकमपि नास्ति। (वही)।

४. आरोपितमेव तत्सर्वम्। असदर्थप्रकाशनमेव माया नाम। परमार्थतः असतोऽपि तस्य आरोपितं सत्त्वम्, अतएव सदसदात्मकमिति तस्य व्यपदेशः, वस्तुतोऽसत्त्वात् सत्त्वस्य तत्रारोपाच्च। (वही)

५. अनिर्वचनीयोत्पत्तौ घटादिना मृदादेरिव ब्रह्मणोऽपि विकारित्वापत्तिः। (वही, पृ० ८७)

नहीं होती। भ्रम का विषय होने से ही किसी में विकार नहीं हो जाता। जैसे "सुप्ता किं नु मृता नु किं भवसि मे लीना विलीना नु किम्" इन कान्ताविषयक विकल्पों के कारण कान्ता में कोई विकार नहीं आ जाता।[1] नागेश कहते हैं कि "तदनन्यत्वम्" इस सूत्र में कारण तथा कार्य के अभेद का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार ने भी इस नामरूपात्मक प्रपंच को कारणाभिन्न एवं भ्रममात्र माना है।[2] इस प्रकार नागेशभट्ट ने जगत् की व्यावहारिक सत्ता का खण्डन करने का प्रयास किया है।

घ. नागेश के मत की समीक्षा :

किन्तु यदि हम नागेश की उपर्युक्त युक्तियों पर गम्भीरता से विचार करें तो वे हमें सर्वथा असंगत एवं अयुक्तियुक्त प्रतीत होंगी। उनका यह तर्क कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर ब्रह्म के विकारित्व की प्रसक्ति होती है तर्क नहीं अपितु, तर्काभास है, क्योंकि प्रपंच के अनिर्वचनीय होने से ही ब्रह्म का उसके साथ तात्त्विक सम्बन्ध नहीं हो सकता।[3] जैसा हम पहले देख चुके हैं जगत् ब्रह्म का विकार या परिणाम नहीं अपितु ब्रह्म का विवर्त है। अतः ब्रह्म के विकारित्व की शंका सर्वथा निर्मूल है। नागेश का यह कहना भी कि "तदनन्यत्वम्" इस सूत्र से जगत् का भ्रमरूपत्व सूचित होता है, युक्त नहीं है; क्योंकि इस सूत्र के द्वारा केवल यही कहा गया है कि ब्रह्म से व्यतिरिक्त प्रपंच की वास्तविक सत्ता नहीं क्योंकि कार्य और कारण में अभेद होता है; यह नहीं कहा गया कि प्रपंच की सत्ता ही नहीं है और यह भ्रममात्र है। उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने बार-बार व्यावहारिक जगत् की सत्यता का प्रतिपादन करते हुए उसे स्वप्न जगत् से सर्वथा भिन्न बतलाया है। शंकराचार्य कहते हैं कि व्यवहारिक भोक्तृ-भोग्य लक्षणविभाग को मानकर ही "स्याल्लोकवत्" यह परिहार किया गया है। "जैसे जागने से पूर्व स्वप्न व्यवहार की सत्यता है वैसे ही ब्रह्मात्मविज्ञान के पूर्व सभी व्यवहारों की

---

१. वस्तुतो मृदि घटादिविकारो भ्रम एव, न तु कोऽपि पदार्थः इति तदनन्यत्वमिति सूत्रेणोक्तम्। (वही)

२. भ्रमविषयेण तु न विकारित्वं कामुककृतैः कान्ताविषये""विकल्पैः कान्ताया विकारित्वाभावात्। (वही)

३. अनिर्वचनीयत्वादेव प्रपंचस्य वस्तुतः तत्संबन्धाभावात् ब्रह्मणो विकारित्वानापत्तेः। (वही पृ० १०२)

सत्यता उपपन्न है।[1] इसलिए ब्रह्मात्मकता के प्रतिबोध के पूर्व सभी लौकिक तथा वैदिक व्यवहार उपपन्न हैं।[2] नागेशभट्ट का यह कथन भी युक्त नहीं है कि प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की सत्ताओं के अनिर्वचनीय होने के कारण इनमें कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि दोनों के अनिर्वचनीय होने पर भी दोनों में व्यवहारकालबाध्यत्व तथा व्यवहार-कालाऽबाध्यत्व रूप अन्तर विद्यमान है।

ब्रह्म ही जगत् का आधार है यदि ब्रह्म इस जगत् से सर्वथा भिन्न होता तथा आत्मा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से सर्वथा विलक्षण होता तो उसके स्वरूप की प्रतिपत्ति का द्वार न होने से सत्य की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। ऐसी स्थिति में शास्त्रोपदेश को अनर्थक मानना पड़ता और शून्यवाद की प्रसक्ति होती। तत्त्वज्ञान से संसार का अभाव नहीं हो जाता अपितु वह एक नये रूप में बदल जाता है। जीवन्मुक्ति तथा क्रममुक्ति का विचार, मूल्यों के भेद सत्य-असत्य, पाप-पुण्य आदि का भेद तथा संसार के अनुभवों के द्वारा मोक्षप्राप्तिकी संभावना इत्यादि बातों से यह सूचित होता है कि इन प्रतीतियों में भी कुछ सत्य विद्यमान है यदि यह संसार भ्रममात्र होता और ब्रह्म से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता तो प्रेम, बुद्धिमत्ता, तपस्या आदि हमारे उच्चतर जीवन की प्राप्ति में सहायक न होते यद्यपि यह संसार पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं, तथापि यह सर्वथा असत् भी नहीं है।

शंकराचार्य का मोक्षसम्बन्धी सिद्धान्त भी इस विचार का समर्थक है। इस सम्बन्ध में डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं कि यदि मोक्ष का अभिप्राय नानात्व का विनाशमात्र होता तो मोक्ष को प्राप्त करने का सही उपाय संसार का नाश कर देना ही होता, विद्या से अविद्या का नाश नहीं।[3] शंकराचार्य का जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त भी इसी विचार का समर्थक है। मुक्ति के लिए संसार का नाश आवश्यक नहीं है। शरीर के रहते हुए भी मनुष्य

---

१. सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः।
(ब्र० सू०, शां० भा०, "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"। २।१।१४)

२. वही।

3. If *Moksha* should involve the annihilation of plurality; the right way to go about realising it is not to displace *Avidya* by *Vidya* but to destroy the world-

—Radhakrishnan's. Indian Philosophy Vol-II, P-584

मुक्त हो सकता है। जीवन्मुक्त के लिए संसार के नानात्व का नाश नहीं हो जाता केवल संसार के सम्बन्ध में उसके दृष्टिकोण में अन्तर आ जाता है। जीवन्मुक्त के लिए यह संसार एक नये आलोक से आलोकित हो जाता है। अतएव शंकराचार्य के मत में यह संसार सर्वथा असत्य मिथ्या नहीं है। जगत् का मिथ्यात्व इस बात में है कि यह ब्रह्म से स्वतंत्ररूप में सत्य नहीं है क्योंकि परमार्थतः यह ब्रह्म से अनन्य है। शंकराचार्य के अनुसार कार्य तथा कारण के अनन्यत्व का अभिप्राय है "कार्य का कारण से स्वतन्त्र रूप में न रह सकना। इसका यह अभिप्राय नहीं कि कारण भी कार्य से स्वतन्त्र रूप में रह सके। यद्यपि कारण कार्य से स्वतंत्र रूप में भी रह सकता है, तथापि कार्य कारण से स्वतन्त्र रूप में नहीं रह सकता। यही कार्यकारण के अनन्यत्व का तात्पर्य है। आकाशादिक प्रपञ्च अपने कारणभूत परब्रह्म से पृथक् नहीं रह सकता यद्यपि परब्रह्म आकाशादिक प्रपंच से पृथक् भी रह सकता है। ब्रह्म से व्यतिरिक्तरूप में ही वियदादि प्रपंच को मिथ्या माना गया है। जहाँ कहीं भी शंकराचार्य ने कार्य की वास्तविकता का खण्डन किया है, कारण से भिन्न रूप में ही किया है। कहीं भी उन्होंने व्यावहारिक जगत् को सर्वथा मिथ्या स्वप्नरूप नहीं कहा है।[1]

२. जगत् का उपादान कारण

क. ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण

शंकराचार्य ने ब्रह्म को इस नामरूपात्मक प्रपंच का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण स्वीकार किया है।[2] उनके मत में ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण तथा उपादानकारण दोनों है। किन्तु प्रश्न होता है कि यदि ब्रह्म को निर्गुण, निरुपाधिक तथा निर्विकार माना जाय, जैसा कि शंकराचार्य ने माना है, तो उसे इस विकारशील जगत् का उपादानकारण कैसे माना जा सकता है। जगत् का उपादान होने पर वह विकारी हो जायगा। मृत्तिका घटादि का तथा सुवर्ण कटक कुण्डल आदि का उपादान

---

1. Nowhere does he (*Samkara*) say that our life is literally a dream and our knowledge a phantom
—Indian Philosophy Vol. II, P. 586.

२. प्रकृतिश्चोपादानकारणं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च न केवलं निमित्तकारणम्। (ब्र० सू० शां० भा० १।४।२३)

कारण है। मृत्तिका और सुवर्ण में विकार हुए बिना वे घटादि के रूप में कैसे परिणत हो सकते हैं? घटादि के रूप में परिणत होने के लिए उनके उपादान कारण मृत्तिका आदि में विकार का होना अनिवार्य है। अतएव यदि ब्रह्म को इस जगत् का उपादन कारण माना जाय तो ब्रह्म में भी विकारशीलता की प्रसक्ति होगी। इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य का कहना है कि यह नामरूपात्मक प्रपंच वास्तविक नहीं अपितु मायिक है। माया या अविद्या से ही इस जगत् की सृष्टि हुई है।[1] एक, अद्वितीय, अविकारी ब्रह्म ही माया के कारण नामरूपात्मक प्रपंच के रूप में प्रतिभासित होता है। किन्तु इस मायिक प्रतीति के कारण ब्रह्म के स्वरूप में कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। जैसे अविद्यावश रज्जु में सर्प का भ्रम हो जाने से रज्जु के स्वरूप में कोई विकार या परिवर्तन नही होता, वैसे ही अविद्यावश ब्रह्म के जगत् के रूप में प्रतिभासित होने पर भी ब्रह्म के स्वरूप में किसी प्रकार का विकार या परिरर्तन नहीं होता।

ख. परिणाम तथा विवर्त में भेद :

जगत् ब्रह्म का परिणाम नहीं अपितु विवर्त है। परिणाम में ही उपादान के स्वरूप में परिवर्तन या विकार होता है, विवर्त में नहीं। जहाँ उपादान के समान सत्ता वाले कार्य की प्राप्ति होती है वहाँ परिणाम होता है, किन्तु जहाँ कार्य उपादान से विषमसत्तावाला होता है वहाँ विवर्त होता है जैसे रज्जु सर्प आदि।[2] रज्जु और सर्प समानसत्ता वाले नहीं है। सर्प की सत्ता प्रातिभासिक है जबकि रज्जु की सत्ता वास्तविक (व्यावहारिक) है। अतः सर्प रज्जु का विवर्त है, परिणाम नहीं। किन्तु दधि दूध का परिणाम है, विवर्त नहीं, क्योंकि दूध और दधि दोनों समानसत्तावाले हैं। उपादानकारण का समानधर्मी एवं तात्त्विक अन्यथा-भाव परिणाम तथा उपादान से विलक्षण एवं अतात्त्विक अन्यथाभाव

---

१. ऐ० उ०, शां० भा०, ३।२३

२. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः,
विवर्त्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः। (वे० प०, पृ० १४१)

३. सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥ (वे० सा०, पृ० ८)
तथा—कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्तः।
(सि० ले० सं०, पृ० ५८)

विवर्त होता है।[१] जगत् ब्रह्म का विलक्षण अन्यथाभाव होने के कारण ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं।

ग. ब्रह्म तथा ईश्वर :

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि शंकराचार्य ने मायोपाधिक ब्रह्म या ईश्वर को ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा लय का कारण माना है निर्गुण निर्विशेष एवं निरुपाधिक ब्रह्म को नहीं। अनिर्वचनीय मायारूप उपाधि से युक्त ब्रह्म सगुण ब्रह्म, अपरब्रह्म या ईश्वर कहलाता है। यह ईश्वर ही जगत् का रचयिता है। चैतन्यपक्ष के अवलम्बन से ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है तथा उपाधिपक्ष की दृष्टि से वही जगत् का उपादान-कारण है। माया परमेश्वर की बीजशक्ति है। अग्नि की अपृथग्भूता दाहिका शक्ति के समान माया परमेश्वर की अपृथग्भूता शक्ति है। इसे ही अव्यक्त, प्रकृति आदि शब्दों से कहा गया है।[१] सत् और असत् इन दोनों से विलक्षण होने के कारण इसे अनिर्वचनीय एवं मिथ्या माना गया है। इस अनिर्वचनीय माया से उपहित ब्रह्म या ईश्वर ही जगत् का उपादानकारण तथा निमित्तकारण है।

घ. जगत् के उपादानकारण के सम्बन्ध में शंकरोत्तर वेदान्त में विभिन्न मत :

ब्रह्म की जगदुपादानकारणता के सम्बन्ध में शंकरोत्तर वेदान्त से पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है। कुछ विचारक ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानते हैं तो कुछ माया को। कुछ लोग ब्रह्म और माया इन दोनों को सम्मिलितरूप से जगत् का उपादान कारण स्वीकार करते हैं। संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि ने विशुद्ध ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण तथा माया को द्वारकारण माना है।[२] किन्तु विशुद्ध ब्रह्म तो प्रपंचातीत एवं अविकारी है। वह इस विकारात्मक जगत् का उपादानकारण कैसे हो सकता है ? अतः विवरणकार प्रकाशात्मयति ने मायोपहित ब्रह्म या ईश्वर को जगत् का उपादानकारण माना है।[३] वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में प्रकाशानन्द ने माया को ही जगत् का उपादानकारण स्वीकार

१. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः।

(ब्र० सू०, शां० भा० १।४।३)

२. ब्रह्ममात्रमुपादानं माया तु द्वारकारणम्। (सि० ले० सं०, पृ० ७७)

३. माया तु मुख्योपादानमिति मुक्तावलीकृतः। (वही, पृ० ८०)

किया है।[1] माया को आश्रय होने से ब्रह्म को भी जगत् का उपादान कारण मान लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः जगत् का उपादान कारण माया ही है ब्रह्म नहीं। ब्रह्म निर्गुण एवं निरुपाधिक होने के कारण जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी वेदान्तपरिभाषा में इसी मत को स्वीकार किया है। पदार्थतत्त्वनिर्णयकार ने ब्रह्म और माया दोनों को ही जगत् का उपादान कारण माना है। उन्होने ब्रह्म को जगत् के सत्तांश का तथा माया को इसके जाड्यांश का कारण बतलाया है। ब्रह्म जगत् का उपादान इसलिये है कि वह ब्रह्म का विवर्त है। माया इस लिए कि वह इसका परिणाम है। वाचस्पतिमिश्र ने जीवाश्रित अविद्या के विषयीभूत ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण तथा अविद्या को इसका सहकारी कारण माना है।[2] जीवाश्रित अविद्या के कारण ब्रह्म ही जगत् के रूप में अवभासित होता है। ब्रह्मानन्द सरस्वती तथा मधुसूदन-सरस्वती ने अविद्या के आश्रय जीव को ही जगत् का उपादान कारण स्वीकार किया है तथा अविद्या को जगत् का निमित्तकारण माना है। किन्तु जीव को जगत् का उपादानकारण मानने पर दृष्टिसृष्टिवाद की प्रसक्ति होती है। अतएव विद्यारण्य ने ईश्वर को व्यावहारिक जगत् का तथा जीव को प्रातिभासिक जगत् का उपादान कारण स्वीकार है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकरोत्तर वेदान्त में अद्वितीय निर्गुण निर्विकार, विशुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध मतमतान्तर उपलब्ध होते हैं। ब्रह्म की अद्वितीयता तथा निर्विकारिता रक्षा करते हुए नामरूपात्मक प्रपंच की उत्पत्ति की समुचित व्याख्या कर सकना सचमुच कोई सरल काम नहीं है। वस्तुतः यह एक ऐसा प्रश्न है कि पूर्णतया संतोष जनक उत्तर दे सकना मानव के सीमित मस्तिष्क से परे की बात है। भला असीम के रहस्य को ससीम मानव पूर्णतया कैसे समझ सकता है? यदि मानव उस मायावी की माया के स्वरूप को पूरो-तरह समझ जाय तो फिर माया का मायात्व ही क्या रह जाय। माया की यह दुर्विज्ञेयता एवं अनिर्वचनीयता माया का भूषण ही है, दूषण नहीं।

●

---

१. मायोपहितमीशं तदाहुर्विवरणानुगाः। (वही, पृ० ६३)

२. ब्रह्मैव जीवाश्रितया विद्यया विषयीकृतम्।
वाचस्पतिमते हेतुर्माया तु सहकारिणी॥ (वही, पृ० ७८)

३. ईष्ट ईश उपादानं सर्वस्मिन् व्यावहारिके।
प्रातिभासिककार्ये तु जीव इत्यपरे जगुः॥ (वही, पृ० ७१)

सप्तम अध्याय

प्रातिभासिक सत्ता

१. अनिर्वचनीयोत्पत्तिवाद

अद्वैतवेदान्त में पारमार्थिक तथा व्यावहारिक सत्ता के अतिरिक प्रातिभासिक सत्ता को भी स्वीकार किया जाता है। शुक्तिरजत के भ्रमस्थल में शुक्ति में रजत का प्रतिभास होता है, इस प्रतिभासमान रजत को शशशृंगादि की तरह सर्वथा असत् नहीं माना जा सकता क्योंकि यह प्रतिभासित होता है। किन्तु इसे सत् भी नहीं माना जा सकता क्योंकि शुक्तिरूप अधिष्ठान के ज्ञान के अनन्तर इसका बाध हो जाता है। इसे सदसत् भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि सत् और असत् परस्पर विरोधी धर्म हैं। अतएव इसे सत्, असत् तथा सद्सत् इन सबसे विलक्षण होने से "अनिर्वचनीय" माना जाता है और यह समझा जाता है कि भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति होती है। इसे ही वेदान्त में "अनिर्वचनीयोत्पत्तिवाद" के नाम से पुकारा जाता है।

किन्तु नागेश ने लघुमंजूषा में अद्वैत वेदान्त के अनिर्वचनीयोत्पत्तिवाद का खण्डन किया है।[1] उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि सूत्रकार तथा भाष्यकार शंकराचार्य दोनों ही अनिर्वचनीयोत्पत्तिवाद के समर्थक नहीं हैं। वे कहते हैं कि "मायामात्रं तु कात्स्‍र्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इस सूत्र में "मायामात्रम्" इस पद से स्वप्न में अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति का निराकरण हो जाता है।[2] भाष्यकार ने भी स्वप्नकालीन रथादिसृष्टि के प्रतिपादक श्रुतिवचन को भाक्त माना है।[3] वे कहते हैं कि श्रुति स्पष्ट रूप से स्वप्न में रथादि के अभाव का प्रतिपादन कर रही है। इसलिये

---

१. पंचपादिकाकाराद्यभिमतः भ्रमस्थले अनिर्वचनीयपदार्थोत्पत्तिवादः साग्रहं लघुमंजूषायां निरस्तः। (पंचपादिका तथा पं० पा० विवरण, मद्रास गवर्न्मेंट ओरियन्टल सीरीज़ १९५८; भूमिका, पृ० ८४)

२. तथा हि—व्यासोऽपि "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति सूत्रे मायामात्रमिति अनिर्वचनीयोत्पत्तिवादं निराकरोति। (वही, पृ० ८५)

३. "रथाद्यभाववचनं श्रुत्या रथादिसृष्टिवचनं तु भक्त्या" इति भाष्येणेव समाधानात्। (वही)

स्वप्नदर्शन मायामात्र है।[1] "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्" इस सूत्र के भाष्य में भी शंकराचार्य ने शुक्तिरजत में रजत के अभाव का प्रतिपादन किया है।[2] इसी तरह ",न स्थानतोऽपि" इस सूत्र के भाष्य में वे कहते हैं कि स्वच्छ स्फटिक अलक्तकादि उपाधि के योग से अस्वच्छ नहीं हो जाता, अस्वच्छता का अभिनिवेश तो भ्रममात्र है।[3] इस प्रकार नागेश ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अनिर्वचनीयोत्पत्तिवाद न तो सूत्रकार को अभिमत है और न ही भाष्यकार शंकराचार्य को।

किन्तु यदि हम नागेश की उपर्युक्त युक्तियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो वे हमें सर्वथा अयुक्त प्रतीत होती हैं। सूत्रकार बादरायण ने पूर्वोद्धृत "मायामात्रम्" इस पद से स्वप्नकालीन रथादि के व्यावहारिकत्व का ही निषेध किया है इसी प्रकार "न तत्र रथा:" इत्यादि श्रुतियों में स्वप्नकालीन रथादि के अभाव का वचन व्यावहारिक रथादिपरक ही है; प्रातिभासिकरथादिपरक नहीं। इस तरह भाष्यकार का यह कथन कि स्वप्नकालीन रथादिसृष्टि का प्रतिपादन भाक्त (गौण) है, व्यावहारिक सृष्टि का ही निषेधक है प्रातिभासिक सृष्टि का नहीं। भाष्यकार ने जहाँ कहीं भी स्वप्नकालीन तथा भ्रमकालीन सृष्टि का निषेध किया है, वहाँ उन्हें व्यावहारिक सृष्टि का निषेध ही अभीष्ट है, प्रातिभासिक सृष्टि का नहीं। यह बात इससे स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने माण्डूक्य उपनिषद् के भाष्य में प्रातिभासिक रज्जुसर्पादि की उत्पत्ति का अनेक स्थलों पर प्रतिपादन किया है। माण्डूक्योपनिषद् भाष्य के—"जैसे रज्जु में सर्पोत्पत्ति के पूर्व रज्ज्वात्मना सर्प सत् ही था, वैसे ही सभी भावों का उत्पत्ति के पूर्व प्राणबीजात्मना ही सत्त्व है", "अविद्याकृतमायाबीज से उत्पन्न रज्जुसर्पादि का रज्ज्वादिरूप से सत्त्व दृष्ट है", "जैसे मायामय आम्रादि के बीज से मायामय अंकुर उत्पन्न होता है" इत्यादि वाक्यों से यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य को प्रातिभासिक रज्जुसर्पादि की उत्पत्ति का सिद्धान्त अभीष्ट है। अतएव नागेश का यह कथन कि "अनिर्वचनीयोत्पत्तिवाद" न तो सूत्रकारसम्मत है और न भाष्यकारसम्मत–सर्वथा अयुक्त है।

---

१. तस्मात् मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् (वही)

२. अतएव "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्" इत्यधिकरणे भाष्ये "प्रत्येत्येव हि केवलं रजतं न तु तत्र रजतमस्ति" इत्युक्तम्। (वही)

३. "न स्थानतोऽपि" इति सूत्रभाष्येऽपि न हि स्वच्छः सन् स्फटिकः अलक्तकाद्युपाधियोगात् अस्वच्छो भवति, भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य" इत्युक्तम्। (वही)

(२) अनिर्वचनीयख्यातिवाद

(क) ख्याति के संबन्ध में विभिन्न मत :

ख्याति या भ्रम के सम्बन्ध में भारतीयदर्शन में निम्नलिखित पांच मत उपलब्ध होते हैं—

१. आत्मख्याति,
२. असत्ख्याति,
३. अख्याति,
४. अन्यथा ख्याति, तथा
५. अनिर्वचनीयख्याति ।[1]

इनमें से आत्मख्याति विज्ञानवादी योगाचार बौद्धोंका, असत्ख्याति शून्यवादी माध्यमिक बौद्धोंका, अख्याति प्राभाकर मीमांसकों का, अन्यथाख्याति नैयायिकों तथा भाट्टमीमांसकों का तथा अनिर्वचनीयख्याति अद्वैतवेदान्तियोंका अभिमत सिद्धान्त है। असत्ख्यातिवाद के अनुसार भ्रम में असत् वस्तुकी ही ख्याति होती है। शून्यवादी बौद्ध संसारकी समस्त वस्तुओंको शून्यरूप मानते हैं। भगवान् बुद्धके "सर्वं शून्यं शून्यम्" इस उपदेशको प्राधान्य देते हुए वे शून्य को ही जगत्का मूलतत्त्व स्वीकार करते हैं। इस मतके अनुसार न केवल शुक्तिरजत ही असत् है, अपितु शुक्तिरजत-भ्रम का अधिष्ठान शुक्ति भी असत् है। शून्य या असत्को सत् समझना ही भ्रम है। किन्तु इसके विपरीत आत्मख्याति, अख्याति यथा अन्यथा-ख्यातिवादके अनुसार भ्रममें सत् वस्तुकी ही ख्याति होती है, असत्की नहीं। यदि भ्रममें ख्यात शुक्तिरजत सर्वथा असत् होता तो उसकी ख्याति कैसे हो सकती ? इसलिए इन तीनों वादोंमें भ्रममें ख्यात वस्तुको सत् ही माना गया है। यद्यपि ये तीनों वाद इस विषयमें एकमत हैं कि भ्रममें सत् वस्तुकी ख्याति होती है, तथापि ये तीनों भ्रमोपलब्ध वस्तुकी सत्ताको भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादके अनुसार भ्रम में ख्यात रजत को विज्ञान रूप से सत् माना गया है। इस मत में रजत की सत्ता बुद्धि में है। भ्रम में बुद्धिस्थ रजत की बाह्यरूप में प्रतीति होने लगती है। आन्तरिक रजतका बाह्य रजतके रूपमें प्रतीत होना ही भ्रम है। इस मतके अनुसार आत्मा या विज्ञानकी बाह्यरूपमें ख्याति ही भ्रम है। अतएव भ्रमके इस सिद्धान्तको "आत्मख्याति" यह नाम दिया गया है।

---

१. आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपंचकम् ॥

अख्यातिवाद के अनुसार भी भ्रम में सत् वस्तु की ही ख्याति होती है। अख्यातिवाद के समर्थक प्राभाकर मीमांसक भ्रमात्मक ज्ञान को एक सरल ज्ञान के रूप में न मानकर प्रत्यक्ष तथा स्मृति से बने हुए एक मिश्रित ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार "इदं रजतम्" इस भ्रमात्मक ज्ञान के दो अंश हैं—एक इदमंश तथा दूसरा रजतांश। इनमें से इदमंश शुक्ति प्रत्यक्ष का विषय है तथा रजतांश स्मृति का विषय है। प्रत्यक्ष तथा स्मृति एवं इनके विषयों में विवेकग्रह न होने के कारण शुक्ति में रजत का भ्रम होता है। यह रजत यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तथापि यह स्मृति का विषय है एवं स्मर्यमाण रूप से यह रजत सत् ही है। प्रत्यक्षगोचर शुक्ति से विवेक न हो सकने के कारण स्मर्यमाण रजत की प्रत्यरूप से प्रतीति ही भ्रम है। इस प्रकार अख्यातिवाद के अनुसार भ्रम में सत् वस्तु की ही ख्याति होती है, यद्यपि यह वस्तु स्मर्यमाणरूप से ही सत् है, प्रत्यक्षगोचर इदमाकार रूप से नहीं। इसी प्रकार अन्यथाख्यातिवाद में भी सत् वस्तु की ही ख्याति मानी जाती है। आपणस्थ रजत की इदमाकाररूप से प्रतीति ही भ्रम है। आपणस्थ रजत सत् है, किन्तु भ्रम में वही रजत पुरोवर्ति द्रव्य के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार आत्मख्याति, असत्ख्याति तथा अन्यथाख्याति इन तीनों वादों के अनुसार भ्रम में सत् वस्तु की ही ख्याति होती है, जब कि असत्ख्यातिवाद के अनुसार भ्रम में असत् वस्तु की ही ख्याति होती है। भ्रम के सम्बन्ध में निर्दिष्ट इन चारों वादों को निम्न दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. सत्ख्यातिवाद तथा २. असत्ख्यातिवाद। किन्तु अद्वैतवेदान्त में भ्रम के सम्बन्ध में एक तीसरा ही मत स्वीकार किया गया है जिसे "अनिर्वचनीयख्यातिवाद" के नाम से पुकारा जाता है। इसके अनुसार भ्रम में ख्यात वस्तु को न तो सत् ही माना जा सकता है और न ही असत्। इसे सत् नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञानोत्तरकाल में इसका बाध हो जाता है। किन्तु इसे सर्वथा असत् भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में इसकी ख्याति ही नहीं होती। इसे सदसत् भी नहीं कह सकते क्योंकि सत् तथा असत् ये दोनों विरोधी धर्म हैं। इसलिए भ्रम में ख्यात होनेवाली वस्तु को सत्, असत् तथा सदसत् इन सभी से विलक्षण होने के कारण "अनिर्वचनीय" माना जाता है।[1]

अब हम यहाँ भ्रम के सम्बन्ध में ऊपर निर्दिष्ट वादों के प्रामाण्य के

---

१. भामती, पृ० २३।

सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वप्रथम हम शून्यवादी माध्यमिक बौद्धों के असत्ख्यातिवाद के प्रामाण्य की परीक्षा करते हैं।

१. असत्ख्यातिवाद :

जैसा पहले कहा जा चुका है शून्यवादी बौद्धों के मत में संसार के समस्त पदार्थ शून्यरूप हैं। शून्यता ही जगत् का अन्तिम तथ्य है। असत् पदार्थों को सत् समझ लेना ही भ्रम है। भ्रम में ख्यात शुक्तिरजत की सत्ता नहीं होती। अतएव भ्रम में असत् पदार्थ की ही ख्याति होती है। इस मत के अनुसार न केवल शुक्तिरजत ही असत् है, अपितु शुक्ति भी असत् है; क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ सत् नहीं है। इस पर यह शङ्का होती है कि यदि रजत के समान शुक्ति भी असत् हो तो रजतभ्रम का अधिष्ठान क्या होगा? इस शङ्का के समाधान में शून्यवाद का यह कथन है कि भ्रम के लिए अधिष्ठान की सत्ता आवश्यकता नहीं है। निरधिष्ठान भ्रम भी सम्भव है। जैसे केशोण्ड्रक या गन्धर्वनगर की प्रतीति का कोई आलम्बन या अधिष्ठान नहीं होता, वैसे ही रजतभ्रम को भी निरधिष्ठान माना जा सकता है। इस मत में रजतभ्रम की व्याख्या इस प्रकार की जाती है। शून्य-पहले शुक्ति रूप में प्रतीत होता है और फिर शुक्ति की रजतरूप में प्रतीति होती है। इस प्रकार शुक्ति तथा रजत दोनों ही शून्य के विवर्त होने के कारण असत् हैं। अतः भ्रम में अनुभूत होने वाला रजत सत् नहीं है। यदि यह सत् होता तो इसका बाध नहीं हो सकता। ज्ञानदशा में क्योंकि इसका बाध हो जाता है, इसलिए इसे सत् नहीं माना जा सकता।

शून्यवादी बौद्धों के इस असत्ख्यादिवाद के विरोध में पंचपादिका-कार का कथन है कि निरधिष्ठान भ्रम न तो दृष्टपूर्व है और न ही सम्भव है। केशोण्ड्रक आदि के दृष्टान्त के आधार पर निरधिष्ठानभ्रम की सिद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि उसका भी तेजोऽवयवरूप अधिष्ठान होता है।[1] अंगुली द्वारा अपांग भाग में नेत्र को दबाकर मलने से एकत्र हुई नेत्र की रश्मियाँ ही केशोण्ड्रक का अधिष्ठान हैं। इसी प्रकार गन्धर्वनगर का अधिष्ठान आकाश है। अतएव इन दृष्टान्तों के आधार पर निरधिष्ठान-भ्रम की कल्पना संगत नहीं है। शून्य को भ्रम का अधिष्ठान नहीं माना जा सकता क्योंकि अध्यस्यमान रजतादि में शून्य अनुगम्यमान नहीं है।

---

१. नहि निरधिष्ठानोऽध्यासो दृष्टपूर्वः संभवो वा। ननु केशोण्ड्रकाद्यवभासो निर-धिष्ठानो दृष्टः, न तस्यापि तेजोऽवयवाधिष्ठानत्वात्। (पं० पा०, पृ० ६३)

यदि शून्य को अनुगम्यमान मान लिया जाय तो भ्रम में "शून्य रजत है" इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए; "यह रजत है" ऐसी प्रतीति नहीं। इस पर यदि कहें कि "इदम्" इस प्रतीति का विषय ही शून्य है, तो केवल नाममात्र में ही विवाद रह जाता है।[1] ऐसी स्थिति में शून्य को असत् रूप नहीं माना जा सकेगा क्योंकि असत् को भ्रम का अधिष्ठान एवं अवधि नहीं माना जा सकता। भ्रम का अधिष्ठान वही होता है जिससे अनुविद्ध रूप में आरोप्य का भान होता है। अतएव यदि शून्य को असद्रूप मानें तो वह भ्रम का अधिष्ठान नहीं बन सकता। किंच जैसे भ्रम के लिए अधिष्ठान का होना आवश्यक है वैसे ही भ्रमबाध के लिए अवधि का होना भी आवश्यक है। निरवधिक भ्रमबाध कहीं दृष्टिगत नहीं होता है।[2] जहाँ अनुमान या आप्तवचन से "यह सर्प नहीं है" इस प्रकार सर्प-भ्रम का बाध होता है वहाँ पुरोऽवस्थित रज्जु ही उस भ्रमबाध की अवधि होती है। अतएव भ्रम के लिए अधिष्ठान के आवश्यक होने के कारण तथा निरधिष्ठान एवं निरवधिक भ्रम के संभव न होने से शून्यवादी बौद्धों का असत्ख्यातिवाद संगत नहीं है।

२. आत्मख्यातिवाद :

विज्ञानवादी बौद्ध यद्यपि जगत् के पदार्थों को शून्यरूप नहीं मानते तथापि वे भी इनकी बाह्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इनके मत में संसार के समस्त पदार्थ विज्ञानरूप हैं। क्षणिक विज्ञानसंतति के अतिरिक्त ये किसी पदार्थ को नहीं मानते। इस सन्बन्ध में उनकी यह युक्ति है कि नील तथा नीलज्ञान में सहोपलम्भनियम है अर्थात् नीलज्ञान के बिना नील की उपलब्धि नहीं होती। अतएव नील की नीलज्ञान से स्वतंत्ररूप में सत्ता नहीं मानी जा सकती।[3] इस कारण विज्ञानवाद में विज्ञान से व्यतिरिक्त बाह्यपदार्थों की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता।

---

१. न च शून्यस्याधिष्ठानत्वम्, अध्यस्यमानेष्वनुगत्यभावात्। भावे वा भ्रान्तिकाले शून्यं रजतमिति प्रतीयात्, न त्विदं रजतमिति। इदमिति प्रतीयमानमेव शून्यमिति चेत्, तर्हि नाममात्रे विवादः। (वि० प्र० सं०, पृ० १५१)

२. न क्वचिन्निरवधिको "न" इत्येव बाधावगमो दृष्टः यत्राप्यनुमानादाप्तवचनाद् वा "न सर्पः" इत्येवावगमः तत्रापि "किं पुनरिदं" इत्यपेक्षादर्शनात् पुरोऽवस्थितं वस्तुमात्रमवधिर्विद्यते। (पं० पा०, पृ० ६४-६५)

३. सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥
(ब्र० सू० २।२।२८, भामती, पृ० ५४४)

विज्ञानवाद में भ्रमकालीन रजत को सत् माना जाता है किन्तु इसे बाह्यरूप में सत् न मानकर विज्ञानरूप में ही सत् माना जाता है। अत-एव विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञानाकार (बुद्धिस्थ) रजत को बाह्य मान लेना ही भ्रम है। ज्ञान के द्वारा रजत के बाह्यत्व (बहिर्गतत्व) का ही बाध होता है, रजत का नहीं क्योंकि विज्ञानरूप से रजत सत् ही है असत् नहीं। आन्तरिक रजत की बाह्य रूप में प्रतीति ही भ्रम है। अतएव भ्रम के इस सिद्धान्त को आत्मख्यातिवाद के नाम से पुकारा जाता है।

भ्रम के इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जाता है कि इसके अनुसार भ्रम तथा भ्रमबाध की समुचित व्याख्या संभव नहीं है। इस मत में सत्य-ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान में भेद नहीं किया जा सकता। विज्ञान के अतिरिक्त किसी बाह्य वस्तु की सत्ता न होने से विज्ञान के सत्यत्व एवं मिथ्यात्व रूप भेदों को नहीं माना जा सकता क्योंकि विज्ञान के सत्यत्व एवं मिथ्यात्व का निर्णय बाह्य वस्तु के आधार पर ही किया जाता है। यदि ज्ञान बाह्यवस्तु के अनुरूप हो तो उसे सत्य अन्यथा असत्य एवं मिथ्या माया जाता है। किन्तु विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं है। अतः इस मत में विज्ञान के सत्यत्व और मिथ्यात्व रूप भेद संभव नहीं हैं।

किंच विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान के स्वयंप्रकाश होने के कारण भ्रमात्मक ज्ञान की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि यदि भ्रमात्मक ज्ञान अन्य ज्ञान के समान स्वयंप्रकाश है तो उसे भ्रमात्मक या मिथ्या नहीं माना जा सकता। जो स्वयंप्रकाश है वह मिथ्या कैसे हो सकता है? और यदि भ्रमात्मक ज्ञान को स्वयंप्रकाश न मानकर अन्य-संवेद्य या परतःप्रकाश मानें तो ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व के सिद्धान्त की हानि होगी। स्वयंवेद्यत्व तथा अन्यसंवेद्यत्व के परस्पर विरोधी होने के कारण ज्ञान में इन दोनों धर्मों की कल्पना संगत नहीं है। अतः विज्ञान-वाद में ज्ञान की भ्रमात्मकता को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त विज्ञानवाद का यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं कि आन्तर विज्ञान का बाह्यवस्तु के रूप में प्रतीत होना ही भ्रम है, क्योंकि यदि भ्रम में अबाह्य वस्तु की बाह्यरूप में प्रतीति मानी जा सकती हो तो इसी तरह बाह्य वस्तु की अबाह्यरूप में प्रतीति को ही भ्रम क्यों न माना जाय? ऐसा मानने पर तो विज्ञानवाद का मूल ही विच्छिन्न हो जायगा। "इदं रजतम्" इस ज्ञान में इदंकारास्पदरूप से ही रजत का अनुभव होता है, आन्तर रूप से नहीं। यदि रजत विज्ञानरूप होता तो इदमा-काररूप में अनुभूत न होकर अहमाकाररूप में अनुभूत होता क्योंकि

विज्ञानवाद में ज्ञान तथा ज्ञाता में अभेद माना जाता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि योगाचार विज्ञानवादी बौद्धों का "आत्मख्यातिवाद" भी भ्रम की समुचित व्याख्या करने में समर्थ नहीं है।

अब हम इस सम्बन्ध में अख्यातिवाद की परीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं।

३. अख्यातिवाद :

प्राभाकर मीमांसक भ्रम के सम्बन्ध में अख्यातिवाद को स्वीकार करते हैं। इनके मत में समस्त ज्ञान यथार्थ ही होते हैं। पाश्चात्य वस्तुवादियों (Western Realists) के समान ये भी प्रत्यक्ष ज्ञान में भ्रम की संभावना को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं—एक, प्रमाणज्ञान तथा दूसरा स्मृतिज्ञान। इनके अतिरिक्त ये भ्रमात्मकज्ञानको एक मौलिक ज्ञान के रूप में नहीं मानते। इनके मत में जिसे हम भ्रमात्मक ज्ञान कहते हैं वह एक मौलिक ज्ञान के रूप में न होकर दो ज्ञानों (प्रत्यक्षज्ञान तथा स्मृतिज्ञान) तथा इनके विषयों में विवेकाग्रह के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ शुक्ति में रजत का ज्ञान, जिसे भ्रमात्मक ज्ञान माना जाता है, एक ज्ञान नहीं है अपितु इनमें दो ज्ञान मिले हुए हैं। "इदं रजतम्" इस ज्ञान में इदमंश प्रत्यक्ष का विषय है। चक्षुरिन्द्रिय "इदम्" पदार्थ के अस्तित्व की सूचना देकर विरत हो जाती है किन्तु "रजतम्" यह अंश प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं है क्योंकि यहाँ उसकी सत्ता नहीं है। इदमंश के प्रत्यक्ष से अन्यत्र देखे गये रजत का तत्तद्देशकालरहितत्वरूप में स्मरण हो जाता है। प्राभाकर ने इसे प्रमृष्टसत्ताकस्मरण कहा है। इदम् तथा रजतम् ये दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। इदमंश उपस्थित होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय है जबकि रजतांश यहाँ उपस्थित न होने के कारण स्मृति का विषय है। किन्तु स्मृतिप्रमोष के कारण इन दोनों—प्रत्यक्षगृहीत तथा स्मृतिगृहीत—के पारस्परिक विवेक का ग्रहण नहीं होने पाता और परिणामस्वरूप भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्राभाकार मीमांसकों के मत में प्रत्यक्षज्ञान तथा स्मृतिज्ञान एवं इनके विषयों में विवेकाग्रह न होने के कारण ही "इदं रजतम्" यह भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है।[2] अतएव प्रत्यक्ष तथा स्मृति में विवेक की अख्याति को ही "अख्यातिवाद" में

---

१. नाभाव उपलब्धेः (ब्र० सू० २।२।२८) पर शांकरभाष्य तथा भामती।

१. ज्ञानयोः विषययोश्च विवेकाग्रहात् भ्रमः। (प्रकरणपंचिका, पृ० ४३)

भ्रम का कारण माना गया है।[१]

प्राभाकर मीमांसकों का भ्रमविषयक यह सिद्धान्त भी विचार करने पर युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। "इदं रजतम्" (यह रजत है) इस वाक्य से एकाकार ज्ञान का बोध होता है, दो भिन्न-भिन्न ज्ञानों का नहीं। यह संभव है कि इदमंश के प्रत्यक्ष से पूर्वदृष्ट रजत की स्मृति उद्बुद्ध हो जाती हो, तथापि यदि यह रजतस्मृति प्रत्यक्षोपलब्ध इदमंश के साथ मिलकर एकाकार न हो जाय और प्रत्यक्षज्ञान के साथ यह मन में पृथक्रूप से विद्यमान रहे तो ऐसी दशा में हमारे ज्ञान का रूप "यह रजत है" ऐसा न होकर "मैं इसे देख रहा हूं और रजत को स्मरण कर रहा हूँ" अथवा "यह है और रजत था" ऐसा होता। किन्तु इसके विपरीत हमें "यह रजत" इस रूप में ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि जो प्रत्यक्ष का विषय है उसी में रजतत्व का भान होता है। अतएव यह मानना होगा कि इदमाकार प्रत्यक्षज्ञान तथा स्मृत्युद्बुद्ध रजत ज्ञान में केवल विवेकाग्रह ही नहीं है अपितु इन दोनों में भावात्मक तादात्म्यीकरण भी है। इस प्रकार के भावात्मक तादात्म्यीकरण को माने बिना रज्जु में सर्पभ्रम से होनेवाले भय, पलायन आदि व्यापारों की समुचित व्याख्या संभव नहीं है। अतएव प्रत्यक्षात्मक भ्रम की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुतस्तु "इदं रजतम्" इत्याकारक ज्ञान में रजत पुरोऽवस्थित रूप में प्रतीत होता है न कि स्मर्यमाण रूप में।[२] यह कहना ठीक नहीं कि पुरोऽवस्थितत्व की प्रतीति इदमंशमें है, रजतांशमें नहीं, क्योंकि जैसे व्यावहारिक रजतस्थल में होनेवाले "इदं रजतम्" इस ज्ञान में सामान्य और विशेष ये दोनों अंश एकदूसरे से संसृष्टरूप से उपलब्ध होते हैं वैसे ही भ्रमात्मक रजतज्ञान में भी ये संसृष्ट रूप से ही उपलब्ध होते हैं।[३] यहाँ यह कथन भी ठीक नहीं कि इदम् तथा रजतम् इन दोनों सामान्य-विशेष अंशों के नैरन्तर्य के कारण ही ऐसी प्रतीति होती है, दोनों के संसर्गग्रह के कारण

---

१. भ्रान्तिरूपता चात्र रजतज्ञानस्य स्मरणरूपस्यैव ग्रहणव्यवहारप्रवर्तकतया व्यवहारकाले विसंवादकत्वात्। (प्रकरणपंचिका, पृ० ४३)

२. पुरोऽवस्थितत्वेनावभासमानत्वात्। (वि० प्र० सं०, पृ० ९२)

३. न चेदमंशस्यैव तथावभासो न रजतस्येति मन्तव्यम्, यथा सम्यक्रजतेष्विदं रजतमयं घट इत्यादिष्वितरेतरसंसृष्टो सामान्यविशेषावपरोक्षाववभासेते तथेहापि प्रतिभासनात्। (वि० प्र० सं० पृ० ९२)

नहीं, क्योंकि भ्रमस्थल में परमार्थस्थल से कुछ भी न्यूनता नहीं है। अतएव जैसे परमार्थ रजतस्थल में सामान्य और विशेष अंशों का परस्पर संसर्गग्रह होता है वैसे ही भ्रमात्मक रजतज्ञान में भी संसर्गग्रह को स्वीकार करना उचित है। यहाँ यह शंका भी समीचीन नहीं है कि भ्रमस्थल में पुरोवर्ती रजत का अभाव होने से संसर्गग्रह कैसे संभव है, क्योंकि अद्वैत-वेदान्त में भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति मानी जाती है तथा इस अनिर्वचनीय रजत के साथ ही संसर्गग्रह को स्वीकार किया जाता है।

इस पर मीमांसकों की ओर से यह शंका की जाती है कि भ्रम में रजत के आपरोक्ष्य की अनुपपत्ति के कारण "इदं रजतम्" इस ज्ञान को संसर्गयुक्त मानना पड़ता है, और फिर इस संसृष्टज्ञान की उपपत्ति के लिए अनिर्वचनीय एवं मिथ्या रजत की कल्पना करनी पड़ती है। किन्तु भ्रमावस्था में होनेवाले रजत का आपरोक्ष्य तो संसर्गयुक्त ज्ञान को माने विना भी केवल सामने विद्यमान प्रत्यक्षगृहीत शुक्ति से विवेकाग्रह के आधार पर ही उपपन्न हो सकता है। अतः रजत के आपरोक्ष्य के लिए भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति की कल्पना युक्त नहीं है।

उपर्युक्त शंका के संबन्ध में विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य का कथन है कि यदि शुक्ति से अविवेक के कारण ही रजत का आपरोक्ष्य होता तो विवेकज्ञान के समय "इतने काल तक वह रजत इस शुक्ति से भिन्न नहीं जान पड़ा" इस तरह अविवेक का ही परामर्श होता, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अपितु इसके विपरीत विवेकज्ञान होने पर "इतने काल तक यह रजत है ऐसा भान हुआ" इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होने से संसृष्ट-ज्ञान का ही परामर्श होता है।[1] अतएव संसृष्टज्ञान की उपपत्ति के लिए पुरोवर्ती रजत की सत्ता को अवश्य ही स्वीकार किया जाना चाहिये। यदि पुरोवर्ती रजत की सत्ता को स्वीकार न किया जाय तो रजतार्थी पुरुष की इसमें प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी।[2] पुरुष की जहाँ कहीं भी प्रवृत्ति होती है, वह तद्विषयक ज्ञान के अनन्तर ही होती है। रजत की इच्छा रखने वाले पुरुष की "इदम्" पदार्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है।

१. तथा सति विवेकज्ञानसमयेऽप्येतावन्तं कालं तद्रजतमनेनाविविक्तमित्यविवेक एव परामृश्येत्, किंतु एतावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादिति प्रत्यभिज्ञया संसृष्टावभास एव परामृश्यते। (वि० प्र० सं०, ९७)

२. अतः पुरोवर्तिमिथ्यारजतमंगीकर्तव्यम्, अन्यथा शुक्तिं दृष्ट्वा रजते प्रवर्तत इति किं केन संगच्छेत ? (वि० प्र० सं०, पृ० ९७)

अतः मानना होगा कि यह इसे रजत समझ कर ही इसमें प्रवृत्त हुआ था। अतएव भ्रमज्ञान के विषय इस रजत को स्मर्यमाण एवं स्मृति का विषय नहीं मान सकते किन्तु इसे स्मर्यमाण के सदृश ही मान सकते हैं।[1] किञ्च, अख्यातिवाद के अनुसार "मैं मनुष्य हूँ" इस ज्ञान को भ्रमात्मक ज्ञान नहीं सिद्ध किया जा सकता। क्योंकि इसमें ग्रहण तथा स्मृति रूप दो ज्ञानों में विवेकाग्रह न होकर दो ग्रहणात्मक ज्ञानों में ही विवेकाग्रह उपलब्ध होता है। "अहम्" इससे उपलक्षित आत्मा तथा "मनुष्यः" इससे उपलक्षित देहादि इन दोनों के गृहीत होने के कारण "अहं मनुष्यः" (मैं मनुष्य हूँ) इस ज्ञान से दो ग्रहणात्मक ज्ञानों में ही विवेकाग्रह दृष्ट है, ग्रहण तथा स्मृतिरूप ज्ञानों में नहीं। अतएव अख्यातिवाद के अनुसार "मैं मनुष्य हूँ" इस ज्ञान को भ्रमात्मक ज्ञान नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था में "अहम्" से भिन्न किसी अन्य वस्तु की सत्ता न होने से दो वस्तुओं का विवेकाग्रह वहाँ सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में स्वप्नावस्था को भ्रमरूप कैसे माना जा सकता है? इस प्रकार अख्यातिवाद के अनुसार स्वप्नावस्था एवं वप्नोपलब्ध पदार्थ के भ्रम-रूपत्व की व्याख्या नहीं की जा सकने के कारण इनके भी सत्यत्व की प्रसक्ति होती है। दो स्मृत वस्तुओं के विवेकाग्रह को भी भ्रम नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर भ्रम में सब कुछ परंपरया उपस्थित मानना होगा तथा भ्रम के लिए साक्षात् ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। इस प्रकार विवेकाग्रह न तो गृहीत तथा स्मृत वस्तुओं में संभव है, न गृहीत वस्तुओं में और न ही स्मृत वस्तुओं में। अतः विवेकाग्रह के रूप में भ्रमज्ञान की समुचित व्याख्या संभव नहीं है। इस प्रकार विचार करने पर प्राभाकर मीमांसकों का भ्रम-विषयक अख्याति-वाद भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। अब हम नैयायिकों के अन्यथा-ख्यातिवाद के प्रामाण्य के संबंध में विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

४. अन्यथाख्यातिवाद :

न्यायदर्शन में प्रत्यक्षात्मक भ्रम की व्याख्या अलौकिक प्रत्यक्ष के आधार पर की गयी है। रज्जुसर्पभ्रम में रज्जुदर्शन से पूर्वदृष्ट सर्प की स्मृति इतने तीव्र एवं विशद रूप से उद्बुद्ध हो जाती है कि वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार वह वस्तु जो भूतकालीन थी, भावनोत्कर्ष के द्वारा अभी वर्तमान देशकाल

---

१. तस्मात् न स्मर्यमाणमिदं रजतम्, किन्तु स्मर्यमाणसदृशमेव। (वही)

में अनुभूत (गृहीत) होने लगती है। जो रजत पहले आपण में दिखा गया था, अभी यहाँ शुक्ति में दीख पड़ता है। यह शुक्ति अन्यथा अर्थात् पूर्वदृष्ट रजत के रूप में ख्यात हो रही है। किसी पदार्थ की इस प्रकार की अन्यथा ख्याति को ही न्यायदर्शन में भ्रम मान गया है।

नैयायिकों तथा भाट्टमीमांसकों द्वारा अभिमत अन्यथाख्यातिवाद के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि आपणस्थ रजत अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा यहाँ शुक्ति में किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है? दूसरे देश तथा काल में विद्यमान वस्तु का वर्तमान देश तथा काल में गृहीत होना सम्भव नहीं है। स्मृतिज्ञान चाहे कितना ही तीव्र या विशद क्यों न हो यह उस "तत्" के स्थान में इस "इदम्" का रूप ग्रहण नहीं कर सकता। अतएव प्रातिभासिक वस्तु के वर्तमानत्व तथा एतद्देशीयत्व रूप गुण की व्याख्या अन्यथाख्यातिवाद के आधार पर सम्भव नहीं है। इस प्रकार अन्यथाख्यातिवाद में शुक्तिरजत के अनुभूयमान संसर्ग को न मानना तथा आपणस्थ रजत के पुरोदेश में प्रतिभास की कल्पना करना आदि अनेक कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं। अतएव इसे भी युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।

५. अनिर्वचनीयख्यातिवाद :

अद्वैतवेदान्त में भ्रम की व्याख्या अनिर्वचनीयख्याति के आधार पर की जाती है। इसके अनुसार भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति होती है तथा उसी अनिर्वचनीयवस्तु की ख्याति होती है। इस वस्तु को हम सत् नहीं मान सकते क्योंकि अधिष्ठान ज्ञान से इसका बाध हो जाता है। किन्तु हम इसे अत्यन्त असत् भी नहीं मान सकते क्योंकि ऐसी अवस्था में इसकी ख्याति ही नहीं होती। सत् और असत् के विरोधी होने के कारण इसे सदसत् भी नहीं मान सकते। अतएव इसे सत्, असत् तथा सदसत् इन तीनों से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय माना जाता है। यह भ्रमस्थल में उत्पन्न अनिर्वचनीय वस्तु अज्ञानजन्य अस्थायी सृष्टि है। इस अनिर्वचनीय एवं प्रातिभासिक वस्तु की सृष्टि को माने बिना इसके यहाँ और अभी होने वाले प्रतिभास की व्याख्या सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में भामतीकार वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि भ्रम में प्रतीत होने वाली वस्तु को न सत् माना जा सकता है, न असत् और न ही सदसत् अतः मृगमरीचिका में अनिर्वाच्य जल को ही मानना युक्त

है।[1] इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र ने अनिर्वचनीयख्यातिवाद का स्पष्टरूप में समर्थन किया है। तथापि कुछ विचारकों ने वाचस्पतिमिश्र को अन्यथा-ख्यातिवाद का समर्थक माना है। उनके मत का खण्डन करते हुए वेदान्तकल्पतरुकार अमलानन्द कहते हैं कि वाचस्पति के मत में मरीचियों में प्रतीत होने वाला जल स्वरूप से मृषा एवं अनिर्वचनीय है। अतः उनके सम्बन्ध में यह कहना कि वे अन्यथाख्यातिवाद के समर्थक हैं संगत नहीं है।[2]

विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भी अनिर्वचनीयख्यातिवाद का पूर्णतया समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि शुक्तिरजतभ्रम में प्रतीत होने वाला रजत मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है तथा यह अविद्योपादानक है।[3] भ्रम के दूर हो जाने पर हमें यह ज्ञान हो जाता है कि यह रजत नहीं है, अबतक मिथ्या रजत ही अवभासित हो रहा था। इससे सिद्ध होता है कि इस प्रातिभासिक रजत का उपादानकारण अविद्या है। इसलिए इसे मायामय कहा जाता है। इस प्रकार विवरणकार ने भ्रमस्थल में अनिर्वचनीयवस्तु की उत्पत्ति को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हुए अनिर्वचनीयख्यातिवाद का समर्थन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भ्रम की व्याख्या के सम्बन्ध में भामतीकार तथा विवरणकार दोनों ही एकमत हैं और दोनों ने ही अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का समर्थन किया है।

●

---

१. तस्मान्न सत्, नाप्यसत्, नापि सदसत् परस्परविरोधादित्यनिर्वाच्यमेवारोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयम्। (भामती, पृ०,२३)

२. स्वरूपेण मरीच्यम्भो मृषा वाचस्पतेर्मतम्।
अन्यथाख्यातिरिष्टास्यत्यन्यथाः जगृहुर्जनाः॥
(वे० क०, पृ० २४)

३. सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसंभेदोऽवभासमानः माया मिथ्या अनिवर्चनीयख्यातिः अध्यास एवायं इत्यर्थः। (पं० पा० वि, पृ० १६७-६९)

अष्टम अध्याय

मोक्ष

(क) मोक्ष का स्वरूप :

अद्वैत वेदान्त के अनुसार पारमार्थिक दृष्टिकोण से ब्रह्म तथा जीव में कोई भेद नहीं है। परमार्थतः जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं। जीव और ब्रह्म का भेद देहाद्युपाधिनिमित्तक है, पारमार्थिक नहीं। जब तक स्थाणु में पुरुषबुद्धि के समान द्वैतलक्षणा अविद्या का नाश नहीं होता और जीव अपने कूटस्थ नित्य दृक्स्वरूप को पहचान कर "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अनुभव नहीं करता तभी तक जीव का जीवत्व है।[1] परन्तु जब श्रुति के द्वारा उसे यह बोध हो जाता है कि वह देहेन्द्रियमनोबुद्धि का संघात नहीं अपितु चैतन्यमात्रस्वरूप आत्मा है, तब अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर शरीरादि के अभिमान से ऊपर उठकर कूटस्थ नित्य दृक् स्वरूप आत्मा हो जाता है। श्रुतियों में यह कहा भी गया है कि जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।[2] मिथ्याज्ञान के निवृत्त हो जाने पर चैतन्यस्वरूप आत्मा वैसे ही प्रकाशित होता है जैसे मलिनता के दूर हो जाने पर सुवर्ण अथवा मेघशून्य रात्रि में तारागण चमकते हैं।[3] किन्तु जब तक मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं होती वह शरीरादि उपाधियों से अविविक्त होकर द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता आदि रूप से अवभासित होता है। जैसे स्फटिक के स्वच्छ एवं शुक्ल होने पर भी वह रक्त, नील आदि उपाधियों से उपहित होने के कारण अपने स्वच्छ एवं शुक्ल रूप में उपलब्ध नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी देहे-

---

१. यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन् कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते, तावज्जीवस्य जीवत्वम्।
(ब्र० सू० शां० भा० १।३।१९)

२. यदा तु देहेन्द्रियमनो बुद्धिसंघाताद् व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते, नासित्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः, नासिसंसारी, किं तर्हि तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्त्वमसीति, तदाकूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्यास्माच्छरीराद्यभिमानात् समुत्तिष्ठन् स एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति।
(वही)

३. ब्र० सू० शां भा० १।३।१९

न्द्रियादि उपाधियों से उपहित होने के कारण अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप में उपलब्ध नहीं होता। देहेन्द्रियादि उपाधियों से अविविक्त जीव को ज्योंही विवेकज्ञान हो जाता है, वह अशरीरी एवं मुक्त हो जाता है। जीव का सशरीरत्व (बन्ध) अशरीरत्व (मोक्ष) अविवेक और विवेक का ही परिणाम है।[1] पारमार्थिक दृष्टि से अशरीरी और शरीरी में कोई भेद नहीं। अतएव मोक्ष पारमार्थिक है। वह कूटस्थ, नित्य, व्योमवत् सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त, निरवयव एवं स्वयंज्योतिः स्वभाव है। धर्म, अधर्म, कार्य तथा भूत भविष्य वर्तमानरूप त्रिकाल से इसका कोई संबन्ध नहीं।[2] इसका किसी देशविशेष से भी सम्बन्ध नहीं है। इसी लोक तथा इसी काल में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। आत्मस्वरूप का अवबोध ही मोक्ष है, देवलोकादि उपभोग स्थानों की प्राप्ति नहीं। तत्वज्ञान के उदित होते ही मनुष्य इसी संसार में रहते हुए मुक्त हो जाता है। मोक्ष में कहीं जाना नहीं होता। मुक्त पुरुष की कहीं गति नहीं हो सकती। अप्राप्त स्थान में ही गति सम्भव है। मुक्तपुरुष के सर्वगतब्रह्मस्वरूप होने के कारण उसकी कहीं गति सम्भव नहीं है।[3] यदि जीव को गन्ता और ब्रह्म को गन्तव्य माना जाय तो जीव को ब्रह्म का अवयव, विकार तथवा ब्रह्म से भिन्न मानना होगा; क्योंकि अत्यन्त तादात्म्य में गमन की उपपत्ति नहीं हो सकती।[4] मोक्ष का किसी कालविशेष से भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह नित्य, कूटस्थ एवं पारमार्थिक है। यह साध्य नहीं अपितु सिद्ध है। यदि इसे धर्मादि के समान साध्य माना जाय तो यह अनित्य एवं विकारी हो जायगा। अतः इसे धर्मादि के समान साध्य नहीं माना जा सकता। मोक्ष के नित्य एवं पारमार्थिक होने पर भी यह अनादि अविद्या-वासना के कारण अनाविर्भूत रहता है। विवेकज्ञान से जब जीव के स्वरूप का आविर्भाव हो जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है। मोक्षा अवस्था में किसी धर्मान्तर की प्राप्ति नहीं होती अपितु अपने

१. विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च। (वही)

२. इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं स्वयं ज्योतिःस्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ, सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। (ब्र० सू० शां० भा० १।१।४)

३. नहि गतमेव गम्यते। अन्यो हि अन्यद्गच्छतीति प्रसिद्धं लोके। (ब्र० सू० शां० भा० ४।३।१४)

४. गतिकल्पनायां च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारोवाऽन्यो वा ततः स्यात्। अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः। (वही)

स्वरूप का ही अविर्भाव अथवा ज्ञान होता है।[१] ज्ञान से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती, अपितु सिद्ध वस्तु का प्रकाशनमात्र होता है। अतः मोक्ष सिद्ध है, साध्य नहीं। बन्धन वास्तविक नही अपितु अविद्याकृत है। विद्या से अविद्या के दूर होते ही जीव अपने वास्तविक स्वरूप में विराजमान होता है। जीव की अपने स्वरूप में अभिनिष्पत्ति ही मोक्ष है।

मोक्षावस्था में जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है तथा जीव और ब्रह्म का विभाग नहीं रहता। परन्तु जीव और ब्रह्म के अविभागत्व के सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद दृष्टिगत होता है। इस सम्बन्ध में बादरायण ने जैमिनि तथा औडुलोमि के मत का उल्लेख करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। जैमिनि के मत में मुक्त पुरुष ब्रह्मरूप हो जाता है और ब्रह्म के अपहतपाप्मत्व, सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व आदि गुणों की प्राप्ति उसे हो जाती है।[२] किन्तु औडुलोमि इस मत से सहमत नहीं। उनके मत में सत्यसंकल्पत्वादि गुण औपाधिक हैं, अतः ये आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकते। चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है। अतः मोक्षावस्था में आत्मा के चैतन्यमात्रस्वरूपत्व की अभिनिष्पत्ति के सिद्धान्त को ही वे ठीक मानते है।[३] उनके मत में मुक्तात्मा को ब्रह्म के सत्यसंकल्पत्वादि गुणों की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु बादरायण ने जैमिनि तथा औडुलोमि के मतों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि में इन दोनों मतों में कोई वास्तविक विरोध नहीं है। ये दोनों ही मत दृष्टिकोण के भेद से ठीक हैं। जैमिनि का मत व्यावहारिक दृष्टि से ठीक है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से औडुलोमि का मत मान्य है। यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से मुक्तात्मा चैतन्यमात्रस्वरूप है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से उसके सत्यसंकल्पत्वादि ऐश्वर्यों का उपपादन भी असंगत नहीं है।[४]

---

१. केवलेनैवात्मनाविर्भवति न धर्मान्तरेण। कुतः—स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति स्वशब्दात्। (ब्र० सू० शां० भा० ४।४।१)

२. स्वमस्यरूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं च सर्वेश्वरत्वं च तेनरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। (ब्र० सू० शां० भा० ४।४।५)

३. चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता। (ब्र० सू० शां० भा० ४।४।६)

४. एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते। (ब्र०सू० शां० भा० ४।४।७)

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि बादरायण ने मुक्त पुरुष के सत्यसंकल्पत्वादि ऐश्वर्यों को स्वीकार किया है, तथापि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार में वे उसका कोई हाथ नहीं मानते। उनके मत में जगद्व्यापार का समर्थ्य परमेश्वर में ही है, मुक्तात्मा में नहीं।[१] बादरायण का यह मत माध्वमत में तो ठीक बैठ जाता है जिसके अनुसार जीव और ब्रह्म का भेद वास्तविक है, अविद्याजन्य नहीं। रामानुज के मत में भी जीव और ब्रह्म का भेद वास्तकि है तथा मोक्षावस्था में भी यह भेद बना रहता है। अतः उनके मत में भी बादरायण के पूर्वोक्त मत की संगति लग जाती है। किन्तु शंकराचार्य के मत में जीव और ब्रह्म का भेद पारमार्थिक नहीं, अपितु अविद्याजन्य है। अविद्या के दूर होते ही जीव ब्रह्म हो जाता है। जीव और ब्रह्म के अभेद के पारमार्थिक होने के कारण अविद्यानिवृत्ति के अनन्तर जब जीव ब्रह्मरूप हो जाता है तब मुक्तात्मा और ब्रह्म के पूर्वोक्त भेद का उपपादन कैसे किया जा सकता है? जब मोक्षदशा में जीव ब्रह्मरूप हो गया तब फिर जगद्व्यापार के सम्बन्ध में उसके असामर्थ्य का हेतु क्या रहा? इस शंका का समाधान शंकराचार्य ने इस प्रकार किया है। वे कहते हैं कि जब जीव की अविद्या पूर्णतया नष्ट हो जाती है और वह परममुक्ति की दशा को प्राप्त कर लेता है, तब उस समय जीव, जगत्, ईश्वर, कर्त्ता कर्म इत्यादि का भेद नहीं रह जाता। अतः परममुक्ति की दशा में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति आदि का प्रश्न ही नहीं रहता। किन्तु जबतक जीव को परममुक्ति की प्राप्ति नहीं होती और ईश्वर जगत् आदि की सत्ता बनी रहती है, तभी तक के लिए बादरायण ने यह कहा है कि मुक्तात्मा को जगद् व्यापार के अतिरिक्त अन्य सत्यसंकल्पत्वादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। मुक्तात्मा तथा परमात्मा में भोगमात्र की समानता रहती है।[२] जगत् की उत्पत्ति आदि का सामर्थ्य तो परमात्मा में रहता है मुक्तात्मा में नहीं। परन्तु जब जीव की अविद्या पूर्णरूप से निवृत्त हो जाती है और वह पूर्णतया मुक्त हो जाता है तब उसमें और परमेश्वर में कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि जीव और परमेश्वर का भेद मिथ्याज्ञानकृत है वस्तुकृत नहीं।[३]

---

१. "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च"। (ब्र० सू० ४।४।१७)
२. "भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च"। (ब्र० सू० ४।४।२१)
३. मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः। (ब्र० सू० शां० भा० १।३।२०)

२. मुक्त पुरुष का स्वरूप :

जीव तथा ईश्वर के स्वरूप पर विचार करते हुए हमने देखा था कि इस विषय पर प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद तथा अवच्छेदवाद में पर्याप्त मतभेद है। प्रतिबिम्बवाद के सब अनुयायियों में भी मतैक्य नहीं है। कुछ लोग जीव तथा ईश्वर दोनों को ही प्रतिबिम्बरूप मानते हैं जब कि दूसरे लोग जीव को प्रतिबिम्बरूप तथा ईश्वर को बिम्बरूप स्वीकार करते हैं। संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि के मत में जीव तथा ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्बरूप हैं। उनके मत में अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है तथा अविद्या के कार्य अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है। अविद्या कारण है तथा अन्तःकरण उसका कार्य है। इस प्रकार कार्य और कारण में विभाग करके उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य के स्वरूपों में भेद की व्यवस्था की गई है।[1] उपाधियों में भेद के कारण उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य के स्वरूपों—जीव तथा ईश्वर—में भी भेद हो जाता है। संक्षेपशारीरककार के मत में ईश्वर भी जीव के समान प्रतिबिम्बरूप ही है। अतएव उनके मत में मुक्तपुरुष की मुक्तिदशा में बिम्बभूत शुद्ध चैतन्यरूप से ही अवस्थिति मानी जाती है। क्योंकि अनेक उपाधियों में एक ब्रह्मचैतन्य के प्रतिबिम्बित होने से एक उपाधि के नष्ट हो जाने पर उसके प्रतिबिम्ब का बिम्बभाव से अवस्थान ही संगत है। जैसे एक मुख का यदि अनेक दर्पणों में प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो और उनमें से एक दर्पण को हटा लिया जाय तो उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब बिम्ब-रूप से ही अवस्थित होता है, वैसे ही अनेक उपाधियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य का एक उपाधि के नष्ट हो जाने पर उसके प्रतिबिम्ब का बिम्ब-भूत शुद्ध चैतन्य के रूप में अवस्थान ही उचित है।[2] अतएव सर्वज्ञात्म-मुनि मुक्तिदशा में जीव को विशुद्ध चैतन्य के रूप में ही अवस्थित मानते हैं।

यद्यपि विवरणकार प्रकाशात्मयति भी प्रतिबिम्बवाद के समर्थक हैं, तथापि वे जीव तथा ईश्वर दोनों को प्रतिबिम्बरूप नहीं मानते। प्रति-बिम्ब के भेद के लिए उपाधि में भेद आवश्यक है।[3] बिम्बभूत चैतन्य के

---

१. कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। (सं० शा०)

२. "जीव इवेश्वरोऽपि प्रतिबिम्बविशेषः" इति पक्षे मुक्तस्य बिम्बभूतशुद्धचैतन्य-रूपेणावस्थानम्। (सि० ले० सं०, पृ० ५३४)

३. उपाधिद्वयमन्तरेणोभयोः प्रतिबिम्बत्वायोगात्। (सि० ले, सं०, पृ० १०४)

एक होने के कारण उपाधि के भेद के बिना प्रतिबिम्ब का भेद नहीं माना जा सकता। ये माया तथा अविद्या के भेद को नहीं मानते और न ही ये संक्षेपशारीरक के अनुसार अविद्या के कार्य तथा कारणरूप भेदों को ही स्वीकार करते हैं। अतएव इनके मत में जीव तथा ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्बरूप न होकर जीव प्रतिबिम्बरूप तथा ईश्वर उसका बिम्बरूप है। इन्होंने अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव तथा बिम्बस्थानीय चैतन्य को ईश्वर माना है। अपने मत के समर्थन में उनका यह तर्क है कि ईश्वर को बिम्बरूप स्वीकार करने पर ही लौकिक बिम्ब-प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से ईश्वर में स्वातन्त्र्य तथा जीव में पारतंत्र्य की संगति सम्भव है।[1] विवरणप्रस्थान में ईश्वर को बिम्बस्थानीय माना जाने के कारण मुक्तिदशा में जीव की ईश्वररूपता मानी गई है, शुद्ध ब्रह्मरूपता नहीं। इस मत के अनुसार जब तक सब जीवों की मुक्ति नहीं हो जाती तब तब मुक्त जीव ईश्वररूप ही रहता है, ब्रह्मरूप नहीं होता।[2] जैसे अनेक दर्पणों में यदि एक ही मुख का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो तो उनमें से एक दर्पण के हटा देने पर उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब बिम्बरूप से ही अवस्थित रहता है, मुखरूप से नहीं, क्योंकि एक दर्पण के हट जाने पर भी अन्य दर्पणों के सन्निधान से मुख में बिम्बत्व विद्यमान है; वैसे ही एक ब्रह्मचैतन्य का अनेक उपाधियों में प्रतिबिम्ब पड़ने पर एक प्रतिबिम्ब में विद्योदय से उपाधि का नाश हो जाने पर उसमें पड़े हुए प्रतिबिम्ब (जीव) की बिम्बरूप (ईश्वररूप) से ही अवस्थिति माननी होगी।[3]

उपर्युक्त दोनों मतों में प्रतिबिम्ब बिम्ब से अभिन्न एवं सत्य माना जाता है। इसलिये मुक्तिदशा में जीवरूप प्रतिबिम्ब बिम्बात्मना अवस्थित रहता है। इन दोनों मतों में अन्तर यह है कि जब कि संक्षेपशारीरककार के मत में मुक्ति दशा में जीव विशुद्ध ब्रह्मरूप हो जाता है,

---

१. तत्रापि प्रतिबिम्बो जीवः, बिम्बस्थानीय ईश्वरः। तथा सत्येव लौकिकबिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तेन स्वातन्त्र्यमीश्वरस्य, तत्पारतन्त्र्यं जीवस्य च युज्यते। (सि० ले० सं०, पृ० १०४)

२. अस्मिन् पक्षे तु मुक्तस्य यावत्सर्वमुक्तिः सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्व सर्वेश्वरत्व सत्यकामत्वादिगुणपरमेश्वरभावापत्तिरिष्यते। (सि० ले० सं०, पृ० ५३६)

३. तथैकस्य ब्रह्मचैतन्यस्य अनेकेषूपाधिषु प्रतिबिम्बे सति एकस्मिन् प्रतिबिम्बे विद्योदये तेन तदुपाधिविलये तत्प्रतिबिम्बस्य बिम्बभावेनावस्थानावश्यंभावात्। (सि० ले० सं० पृ० ५३६)

विवरणकार के मत में यह तब तक ईश्वररूप में ही अवस्थित रहता है जब तक कि सभी जीव मुक्त न हो जायें। इस सम्बन्ध में सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि क्योंकि जीव तथा ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्बरूप हैं, इसलिए जीव मुक्तिदशा में ईश्वररूप नहीं हो सकता। यदि मुक्त होने पर जीव ईश्वर के रूप में ही रहे, तो ऐसी स्थिति में कदाचित् जीवरूप प्रतिबिम्बान्तर की भी उसे प्राप्ति हो सके और इस तरह पुनः उसके बन्धन की सम्भावना की जा सके।[1] किन्तु विवरणकार ने ईश्वर को प्रतिबिम्बरूप न मानकर बिम्बरूप ही माना है। अतः उनके मत में मुक्तिदशा में जीव के ईश्वररूप होने में उपर्युक्त दोष की प्रसक्ति नहीं होती। ईश्वर वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है। जीवरूप प्रतिबिम्ब के निमित्त ही ब्रह्म की बिम्बरूपता या ईश्वरता है। जीवरूप प्रतिबिम्बों के हटते ही उसकी बिम्बरूपता या ईश्वरता भी समाप्त हो जाती है। किन्तु जब तक प्रतिबिम्बों की सत्ता है, तब तक उसका बिम्बत्व भी बना रहता है। इस कारण विवरणकार प्रकाशात्मयति के मत में मुक्तिदशा में जीव की तब तक बिम्बरूपता या ईश्वरता रहती है जबतक कि समस्त जीवों की मुक्ति हो जाने से ब्रह्म के बिम्बत्व या ईश्वरत्व की परिसमाप्ति नहीं हो जाती।[2]

इसके विपरीत आभासवादी सुरेश्वराचार्य जीव तथा ईश्वर दोनों को चैतन्य का आभासमात्र एवं मिथ्या मानते हैं। जीव के ब्रह्म से भिन्न एवं मिथ्या होने के कारण उपाधि के नाश से जीवत्व का नाश ही मुक्ति है। ब्रह्म तो सदैव मुक्त ही है तथा जीव आभासरूप होने से मिथ्या है। अतः इस मत में मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म को न तो जीव माना जा सकता है और न ही बन्ध-मोक्ष का अधिकारी, क्योंकि उसमें संसारित्व उसी प्रकार कल्पित है जैसे नभस्तल में नीलिमा।[3] मोक्ष के आत्मस्वरूप होने के कारण उसकी प्राप्ति का कथन औपचारिक है। आत्मस्वरूप जीव सदैव मुक्त है। अविद्या के कारण ही वह अमुक्तवत्

---

1. तत्संभवे कदाचिज्जीवरूपप्रतिबिम्बान्तरत्वापत्तेरपि दुर्वारत्वेनाऽवच्छेदपक्ष इव मुक्तस्य पुनर्बन्धापत्तेः। (सि० ले० सं०, पृ० ५३५)
2. बिम्बेशवादे मुक्तः प्राक् सर्वजीवविमोचनात्।
   ईशो भूत्वा ततः शुद्धे स्वभावे व्यवतिष्ठते॥ (सि० ले० सं०, पृ० ५३५)
3. आत्मा संसारितां यातो यथा कार्ष्ण्यं वियत्तया।
   (बृ० उ० भा० वा०, २।४।४३६)

प्रतिभासित होता है। सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक में व्याधकुलसंवर्धित राजकुमार की आख्यायिका के द्वारा मोक्षप्राप्ति की औपचारिकता का निरूपण किया है,[१] तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक में भी "दशमस्त्वमसि" के दृष्टान्त के आधार पर इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है।

भामतीकार वाचस्पतिमिश्र के मत में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है। यह न तो विवरणकार के अनुसार चैतन्य का प्रतिबिम्ब है और न ही वार्तिककार के अनुसार चैतन्य का आभास। जैसे अनवच्छिन्न आकाश घटरूप उपाधि से अवच्छिन्न होकर घटाकाश के रूप में अवभासित होता है, वैसे ही अनवच्छिन्न चैतन्य अन्तःकरणरूप उपाधि से अवच्छिन्न होकर जीवरूप में अवभासित होता है। तथा जैसे घटरूप उपाधि के विनष्ट हो जाने पर तदवच्छिन्न आकाश महाकाश के रूप में अवस्थित होता है, वैसे ही अन्तःकरणरूप उपाधि के नाश से तदवच्छिन्न चैतन्य अनवच्छिन्न चैतन्य के रूप में अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र के मत में अवच्छिन्न एवं सान्त जीव का अनवच्छिन्न एवं अनन्त ब्रह्म के रूप में हो जाना ही मुक्ति है।[२]

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वाचस्पतिमिश्र ने ब्रह्मसूत्र के अंशाधिकरण में बिम्बप्रतिबिम्ब दृष्टान्त के आधार पर मुक्तपुरुष की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि जैसे दर्पण में पड़ा हुआ मुख-प्रतिबिम्ब दर्पण के हट जाने पर बिम्बरूप से अवस्थित रहता है, वैसे ही अविद्यारूप उपाधि के नष्ट हो जाने पर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है।[३] अमलानन्द ने भी बिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्त के आधार पर मुक्त पुरुष की ब्रह्मरूपता के सिद्धान्त का समर्थन किया है।[४] परन्तु परिमलकार अप्पयदीक्षित ने मुक्त पुरुष की तब तक ईश्वररूपता मानी है जब तक कि सभी पुरुषों की मुक्ति नहीं हो जाती है। वे कहते हैं कि मुक्त जीव की तब तक बिम्बभूत ईश्वररूप में ही अवस्थिति रहती है

---

१. बृ० उ० भा० वा० २।१।५०६–२१

२. निर्विशेष ब्रह्मभावप्राप्तिः परममुक्तिः। (वे० क० प० १।४।२)

३. यथा च दर्पणापनये तत्प्रतिबिम्बं बिम्बभावेऽवतिष्ठते... एवमविद्योपधानविगमे जीवे ब्रह्मभावः। (भामती, २।३।४३)

४. दर्पणस्यापगमे तत्रत्यं मुखप्रतिबिम्बं बिम्बभावेनावतिष्ठते, न तु प्रतिबिम्बान्तररूपेण। (वे० क० प० २।३।४३)

जब तक कि सभी जीवों की मुक्ति नहीं हो जाती।[1] यदि किसी मुख का प्रतिविम्ब अनेक दर्पणों में पड़ रहा हो तो जब तक सभी दर्पणों का नाश नहीं हो जाता तब तक एक दर्पण के नष्ट हो जाने पर उसमें पड़ता हुआ प्रतिविम्ब बिम्बरूप से ही अवस्थित रहता है, क्योंकि दर्पणान्तरगत प्रतिबिम्ब के प्रतियोगित्वरूप बिम्बत्व की निवृत्ति नहीं होती।[2] ठीक इसी प्रकार एक अन्तःकरणोपाधि के नष्ट हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित जीव बिम्बभूत ईश्वरत्व को ही प्राप्त होता है, विशुद्ध ब्रह्मरूपत्व को नहीं, क्योंकि उपाध्यन्तरगतप्रतिबिम्ब के प्रतियोगित्वरूप से बिम्बरूप ईश्वरत्व की निवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार परिमलकार अप्पयदीक्षित ने मुक्तपुरुष की ईश्वरभावापत्ति के सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। उन्होंने इस मत को ही सूत्रकार तथा भाष्यकार दोनों के द्वारा सम्मत बतलाया है।[3] इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि अप्पयदीक्षित ने मुक्ति और परममुक्ति में भेद किया है तथा मुक्ति में जीव की ईश्वर-भावापत्ति को और परममुक्ति में निर्विशेषब्रह्मभावापत्ति को स्वीकार किया है।[4]

२, जीवन्मुक्ति

शंकराचार्य जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। 'अनारब्धकार्ये एव तु तदवधेः'' (ब्र०सू०४।१।१५) इस सूत्र के भाष्य में वे कहते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति से संचित कर्मराशि का ही क्षय होता है प्रारब्ध कर्मराशि का ही क्षय होता है प्रारब्ध कर्मराशि का नहीं, क्योंकि छान्दोग्योप-निषद् में शरीरपात के बाद तुरन्त ही क्षेमप्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है।[5] यदि ज्ञान से संचित तथा प्रारब्ध सभी कर्मों का क्षय माना जाय तो शरीर धारण के हेतु के अभाव से ज्ञानान्तर ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय और छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार उसके

---

१. मुक्तौ यावत्सर्वमुक्तिर्बिम्बभूतेश्वरभावमापद्यते। (वै० क० प० १।३।१९)

२. बहुषु दर्पणेषु मुखप्रतिबिम्बे सत्येकदर्पणापाये तत्प्रतिबिम्ब इव यावत्सकलदर्पणापायं बिम्बमुखभावं तावत्पर्यन्तं दर्पणान्तरगतप्रतिबिम्बप्रतियोगित्वरूपबिम्बभावानिवृत्तेः। ततश्च मुक्तस्य परमेश्वरभावापत्त्या....।

—(वै० क० प० १।३।१९)

३. वै० क० प०, १।३।१९

४. निर्विशेषब्रह्मभावप्राप्तिः परममुक्तिः। (वै० क० प० १।४।३)

५. तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये (छा० उ० ६।१४।२) इति शरीरपातावधिकरणात् क्षेमप्राप्तेः। (ब्र० सू० शां० भा०, ४।१।१५ (

लिये शरीरपात की प्रतीक्षा न करनी पड़े। इस शंका के समाधान में कि तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान के नष्ट हो जाने पर तन्निमित्तक देहेन्द्रियादि का अवस्थान कैसे हो सकता है, शंकराचार्य कहते हैं कि बाधित मिथ्याज्ञान भी संस्कारवश द्विचन्द्रज्ञान की तरह कुछ काल तक अनुवृत्त होता ही[1] है जिससे मुक्त पुरुष के देहादि का अवस्थान होता है। श्रुतियों तथा स्मृतियों में वर्णित स्थितप्रज्ञ के लक्षण से भी जीवन्मुक्ति के सिद्धांत का समर्थन होता है।[2] यदि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से आरब्ध तथा अनारब्ध सभी कर्मों का क्षय माना जाय तो स्थितप्रज्ञ का शरीर धारण कैसे हो सके? इससे ज्ञात होता है कि तत्वज्ञान से अनारब्ध कर्मों का ही क्षय होता है आरब्ध कर्मों का नहीं। आरब्ध कर्मों के फलोपभोग के लिए ज्ञान-प्राप्ति के बाद भी शरीर अवस्थित रहता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में स्पष्टरूप से जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

इस सम्बन्ध में विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य कहते हैं कि विद्या से अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी अविद्या के संस्कार से देहेन्द्रियादि का अवस्थान संभव है। जैसे फूलों की डलिया से फूलों के निकाल लिये जाने पर भी गन्ध के संस्कार से वह डलिया कुछ काल तक सुगन्धित रहती है, वैसे ही अविद्या के दूर हो जाने पर भी उसके संस्कार से कुछ काल तक देहेन्द्रियादि अवस्थित रहते हैं। इस पर यदि शंका हो कि पूर्वोक्त दृष्टान्त में फूलों की डलिया के सुगन्धित रहने का कारण यह है कि वहाँ फूलों के सूक्ष्म अवयव अवशिष्ट रह जाते हैं तो यह ठीक नहीं क्योंकि प्रकृतस्थल में भी अवशिष्ट अविद्यालेश को ही देहेन्द्रियादि के अवस्थान का कारण माना जा सकता है।[3] प्रारब्धकर्मों के क्षय तक अविद्या-लेश की अनुवृत्ति मानकर उसी से जीवन्मुक्त के देहेन्द्रियादि के अवस्थान की व्याख्या संभव है।[4] इस विषय में चित्सुखीकार का कथन

---

१. बाधितमपि मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात् कंचित्कालमनुवर्तत एव। (वही)

२. श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते। (वही)

३. निःसारित्तपुष्पे पुष्पपात्रस्थिताः सूक्ष्माः पुष्पावयवा एव गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति न संस्कार इति चेत्, तथापि प्रलयावस्थायां सर्वकार्यसंस्कारोऽभ्युपगम्य एव। (वि० प्र० सं०, पृ० ३६०)

४. ब्रह्मसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरस्तु। (वि० प्र० सं० पृ० ३६२)

है कि तत्त्वज्ञान के उदय से भी अविद्यालेश की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि प्रबल प्रारब्ध कर्मों से वह ज्ञान प्रतिबद्ध रहता है।[1]

इस पर यह शंका होती है कि यदि जीवन्मुक्ति की दशा में भी अविद्यालेश की अनुवृत्ति मानी जाय तो उसे वास्तविक दृष्टि से मुक्ति कैसे मान सकते हैं? इस शंका का समाधान करते हुए अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती का यह कथन है कि जीवन्मुक्ति की दशा में अविद्या की आवरणशक्ति का तो नाश हो जाता है, किन्तु उसकी विक्षेपशक्ति प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने तक बनी रहती है। अविद्या की यह विक्षेप-शक्ति जीव के बन्धन का कारण नहीं है। अविद्या की आवरणशक्ति ही उसके बन्धन का कारण है। जीवन्मुक्ति की दशा में आवरणशक्ति का नाश तथा विक्षेपशक्ति का वर्तमान रहना ही अविद्यालेश की अनुवृत्ति का तात्पर्य है। इसलिए जीवन्मुक्ति दशा में अविद्यालेश की अनुवृत्ति असंगत नहीं है।

इस संबंध में विवरणकार प्रकाशात्मयति का कथन है कि "तस्य तावदेव चिरम्" यह छान्दोग्य उपनिषद् का वाक्य इस बात में प्रमाण है कि तत्त्वज्ञान के बाद भी देहेन्द्रियादि का अवस्थान रहता है और यह तभी सम्भव है जबकि देहेन्द्रियादि के निमित्तभूत कर्मों का अवस्थान माना जाय।[2] अतः तत्त्वज्ञान के बाद भी कुछ काल तक प्रारब्ध कर्मों के अवस्थान को मानना आवश्यक है। विवरणकार कहते हैं कि प्रारब्ध कर्म वाले पुरुष को शरीरावस्था में ही तत्त्वदर्शन सम्भव है। व्यास आदि मुनियों को शरीरावस्था में ही तत्त्वदर्शन हुआ था।[3]

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक में उन्होंने मण्डनमिश्र के सद्योमुक्तिवाद का खण्डन किया है। वे कहते हैं कि यदि सद्योमुक्ति के सिद्धान्त को मान लिया जाय तो सम्यग्ज्ञान के उत्पन्न होते ही शरीर-

---

१. न च लेशस्यापि विरोधितत्त्वज्ञानान्निवृत्तिः किं न स्यादिति वाच्यम्; प्रबलैः प्रारब्धकर्मभिर्ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वात्। (तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ६०७)।

२. "तस्य तावदेव चिरम्" इति ज्ञानव्यतिरिक्तावध्यन्तरकरणात् कंचित्कालं शरीरेन्द्रियाद्यवस्थानकल्पनया तन्निमित्तकर्मावस्थानकल्पनात्।
(पं० पा० वि० पृ० ७८६)

३. प्रारब्धकर्मवतश्च तत्त्वदर्शनं सशरीरस्यैव संभवति। व्यासादीनाञ्च सशरीराणामेव अपरोक्षदर्शनं श्रूयते। (पं० पा० वि० पृ० ७८७)।

पात हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः सद्योमुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1] सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि सर्वविशेषों की कारणभूता अविद्या के अपनीत होने पर मुमुक्षु को जीवन-काल में मोक्ष प्राप्त हो जाता है, अतः यह कहना ठीक नहीं कि शरीर-पात के अनन्तर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।[2] जीवन्मुक्ति के समर्थन में उन्होंने भी पूर्वोक्त छान्दोग्य उपनिषद् के वाक्य "तस्य तावदेव चिरम्" को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है।[3]

भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने भी जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है तथा मण्डनमिश्र के सद्योमुक्तिवाद का खण्डन किया है। शंकराचार्य द्वारा जीवन्मुक्ति के समर्थन में प्रदर्शित स्थितप्रज्ञ के दृष्टान्त के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र का कथन है कि स्थितप्रज्ञ साधक है, सिद्ध नहीं। अतएव स्थितप्रज्ञ को जीवन्मुक्त नहीं माना जा सकता।[4] मण्डन-मिश्र के इस आक्षेप का निराकरण करते हुए वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि स्थितप्रज्ञ को सिद्ध न मानकर साधक मानना उचित नहीं है। यदि स्थित-प्रज्ञ को साधक माना जाय तो साधना के द्वारा उत्तरोत्तर ध्यान के उत्कर्ष से पूर्वपूर्वप्रत्यय अनवस्थित हो जायगा और परिणामस्वरूप वह स्थितप्रज्ञ नहीं रह जायगा। स्थितप्रज्ञ तो निरतिशयप्रज्ञ होता है, अतएव वह सिद्ध ही है, साधक नहीं।[5] जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त के समर्थन में भामतीकार का कथन है कि हिरण्यगर्भ, मनु, उद्दालक आदि देवर्षिगण तत्त्वज्ञानी होते हुए भी दीर्घजीवी थे।[6] श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराण में इनको तत्त्वज्ञता तथा दीर्घजीविता का वर्णन उपलब्ध होता है। इससे यह सिद्ध

---

१. सम्यग्ज्ञानसमुत्पत्तिसमनन्तरमेव च। शरीरपातः कस्मान्नेतच्चाप्यपहस्तितम्॥ (बृ० उ० भा० वा० १।४।१५४६)।

२. न तस्य जीवतः कश्चिद्विशेषोऽस्ति मृतस्य वा। यतः सर्वविशेषाणामविद्यै-वास्ति कारणम्॥ बृ० उ० भा० वा० ४।४।३०६)।

३. वही १।४।१५४९; तथा पंचीकरणवार्तिक—वा० ५९।

४. स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलाविद्यः सिद्धः, किन्तु साधक एवावस्था-विशेषं प्राप्तः स्यात्। (ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३०)।

५. स्थितप्रज्ञश्च न साधकः, तस्योत्तरोत्तरध्यानोत्कर्षेण पूर्वप्रत्ययानवस्थितत्वात्। निरतिशयप्रज्ञस्तु स्थितप्रज्ञः, स च सिद्ध एव। (भामती पृ० ९५९)।

६. अन्यथा देवर्षीणां हिरण्यगर्भमनूद्दालकप्रभृतीनां विगलितक्लेशजालावरणतया परितः प्रद्योतमानबुद्धिसत्त्वानां न ज्योग्जीविता भवेत्। (वही, पृ० ९५८)।

होता है कि प्रारब्ध कर्मों के प्रक्षय के लिये तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर भी फलोपभोग की प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है।[1]

इस प्रसंग में यह बात उल्लेखीय है कि वाचस्पतिमिश्र ने अनेक विषयों पर सुरेश्वर तथा प्रकाशात्मयति के विरुद्ध मण्डनमिश्र के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। इसी कारण समालोचकों ने वाचस्पति-मिश्र को "मण्डनपृष्ठसेवी" यह संज्ञा दी है। किन्तु जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर इन्होंने स्पष्ट शब्दों में मण्डनमिश्र के मन्तव्य का विरोध किया है तथा उनके द्वारा प्रदर्शित दोषों का परिहार करते हुए जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। इसके विपरीत इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा शंकर तथा सुरेश्वर के अनुयायी होते हुए भी जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर इनसे असहमत हैं और मण्डनमिश्र के सद्योमुक्तवाद के समर्थक हैं। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द ने शंकर तथा सुरेश्वर का अनुयायी होने पर भी जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर मण्डनमिश्र के मत का ही समर्थन किया है। ब्रह्मानन्द जीवन्मुक्ति को वास्तविक मुक्ति न मानकर विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं। इसी तरह सर्वज्ञात्मगुरु ने भी जीवन्मुक्ति को नहीं माना है। वे कहते हैं कि अविद्या के विरोधी तत्त्वसाक्षात्कार के उदित होने पर लेशमात्र भी अविद्या की अनुवृत्ति संभव नहीं है। जीवन्मुक्ति के प्रतिपादक "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादि शास्त्रश्रवणादि विधि के केवल अर्थवाद हैं, क्योंकि जीवन्मुक्ति के प्रतिपादन में शास्त्र का कुछ भी प्रयोजन नहीं है।[2]

किन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं, भामतीकार, विवरणकार तथा वार्तिककार तीनों ने ही शंकराचार्य के जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का पूर्णतया समर्थन किया है।

•

---

१. तस्मादागमानुसारतोऽस्ति प्रारब्धविपाकानां कर्मणां प्रक्षयाय तदीयसमस्त-फलोपभोगप्रतीक्षा सत्यपि तत्त्वसाक्षात्कारे। (भामती, पृ० ९५८)।

२. सर्वज्ञात्मगुरवस्तु विरोधिसाक्षात्कारोदये लेशतोऽपि अविद्यानुवृत्त्यसंभवाद् जीवन्मुक्तिशास्त्रं श्रवणादिविध्यर्थवादमात्रम्, शास्त्रस्य जीवन्मुक्तिप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्। (सि० ले० सं०, पृ० ५१३-१४)

नवम अध्याय

मुक्ति का साधन

(१) ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद :

शंकर वेदान्त में ज्ञान को ही मुक्ति का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है। तथापि कुछ वेदान्तियों के मत में एकमात्र ज्ञान ब्रह्म-साक्षात्कार का साधन नहीं है। ज्ञान को ब्रह्मसाक्षात्कार का अपरिहार्य साधन मानते हुए भी ये ज्ञान को मोक्ष का साधन तभी मानते हैं जब उसका कर्म के साथ समुच्चय हो। इन विचारकों में निम्न तीन का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है—(१) ब्रह्मदत्त (२) मण्डन मिश्र तथा (३) भर्तृप्रपंच। ब्रह्मदत्त के अनुसार उपनिषदों का वास्तविक तात्पर्य "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों में नहीं है, अपितु "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्च" इत्यादि नियोगसूचक वाक्यों में ही है। वे विधिशून्य वाक्यों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते। नियोगानुप्रवेश के द्वारा ही विधिशून्य वाक्यों का प्रामाण्य सम्भव है। उनके मत में "तत्त्वमसि" आदि वाक्य वस्तु के स्वरूप के बोधक हैं, अतएव आत्मा उपासना विधि का शेष है। अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान से ही सम्भव है, वेदान्त-वाक्य-जन्य ज्ञान से नहीं। इस तरह उन्होंने ज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय माना है। ज्ञानोत्तम ने इन्हें ज्ञानर्मसमुच्चयवादी कहा है।[१]

मण्डन मिश्र ने भी ब्रह्मदत्त के समान क्रिया अथवा उपासना में ही उपनिषद्-वाक्यों का तात्पर्य माना है तथा "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों को विधि-संश्लिष्ट स्वीकार किया है। वेदान्त वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान संसर्गात्मक होता है। अतः उससे संसर्गशून्य आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध सम्भव नहीं है। किन्तु इसके निरन्तर अभ्यास (प्रसंख्यान) से एक संसर्गशून्य, अवाक्यार्थात्मक प्रज्ञा का उदय होता है और उसी से आत्मा का बोध होता है। मण्डन मिश्र ने अपने पक्ष के समर्थन में "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" (बृ० उ० ४।४।२१) इस श्रुति को प्रमाण रूप से उपस्थित किया है। उनके मत में इस श्रुति का अभिप्राय

१. नैष्कर्म्यसिद्धि (ज्ञानोत्तम कृत टीका चन्द्रिका, पृ० ३८)

यह है कि "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से आत्मा और ब्रह्म के संसर्गात्मक रूप को जानकर प्रज्ञा का साधन करना चाहिये अर्थात् असंसर्गात्मक एवं साक्षात्कारात्मक ज्ञान का अभ्यास सदैव करते रहना चाहिये। वाक्य से उत्पन्न संसर्गात्मक ज्ञान के निरन्तर अभ्यास (प्रसंख्यान) से असंसर्गात्मक एवं साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है और यही ज्ञान कैवल्य का कारण है।

इस प्रकार मण्डन मिश्र ने भी ब्रह्मदत्त के समान प्रसंख्यान को ब्रह्मज्ञान में उपयोगी माना है। तथापि इन दोनों के मतों में यह अन्तर है कि जबकि ब्रह्मदत्त के अनुसार प्रसंख्यान स्वयं ही मोक्ष का कारण है, मण्डन मिश्र के अनुसार प्रसंख्यान के द्वारा परिमार्जित ज्ञान मोक्ष का कारण है।

इन मतों में एक दूसरा अन्तर यह है कि ब्रह्मदत्त के मत में कर्म की तथा मण्डन मिश्र के मत में ज्ञान की प्रधानता है। यद्यपि दोनों ही ज्ञान और कर्म के समुच्चय को स्वीकार करते हैं तथापि प्रथम मत में कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय है, जबकि दूसरे मत में ज्ञान के साथ कर्म का।[1]

मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि में प्रसंख्यान का सिद्धान्त उपलब्ध होता है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में मंडन मिश्र के प्रसंख्यान विषयक मत का समर्थन किया है। उन्होंने भावना के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' (बृ० उ० ४।४।२१) इस श्रुति का अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है—तर्क सहित शब्द (वेदान्त वाक्य) के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके प्रज्ञा अर्थात् भावना को उत्पन्न करे।[3] भावनोपचित चित्त को ही उन्होंने साक्षात्कार का हेतु माना है। वेदान्त कल्पतरुकार अमलानन्द ने भी वाचस्पति मिश्र को मण्डन मिश्र के प्रसंख्यान विषयक सिद्धान्त का समर्थक बताया है।[4] भर्तृप्रपंच ने ज्ञान और कर्म इन दोनों के समान रूप से समुच्चय को

१. Prof Hiriyanna's Introduction "नैष्कर्म्यसिद्धि" P 25
२. Dr. V. P. Upadhyaya, Lights on Vedanta, pp. 228-29.
३. विज्ञाय तर्कोपकरणेन शब्देन प्रज्ञां भावनां कुर्वीत। (भामती पृ० ३०)।
४. अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा। शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पति परः॥ (वे० क० १।१।२८ पृ० २१८) संराधनं च—भक्तिध्यान-प्रणिधानाद्यनुष्ठानम्—शा० भा० ३।२।२४। अपि च संराधने० (ब्र० सू० ३।२।२४, पृ० ७२१)

स्वीकार किया है। इनके मत में ज्ञान और कर्म दोनों की समान रूप से प्रधानता है। भर्तृप्रपंच ने संसार की सभी वस्तुओं को भेदाभेदात्मक देखकर औपनिषद ब्रह्म को भी भेदाभेदात्मक माना है।[1] द्वैत या अद्वैत, भेद या अभेद, एक या अनेक इन दोनो को सत्य मानने के कारण दार्शनिक जगत् में यह मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद या अनेकान्त इन नामों से विख्यात है। इस मत में कर्मकांड तथा ज्ञानकांड इन दोनों का समान रूप में प्राधान्य है। अतः भर्तृप्रपंच मोक्ष के लिए ज्ञान तथा कर्म दोनों की समाधि (समुच्चय) स्वीकार करते हैं।[2] मंडन मिश्र के समान भर्तृप्रपंच का भी कथन है कि "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से सर्वप्रथम परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होता है। अपरोक्ष ज्ञान अबतक उत्पन्न नहीं हो सकता जबतक यह शाब्द ज्ञान सतत अभ्यस्यमान उपासना (जिसे भावना, ध्यान या प्रसंख्यान कहा गया है) के द्वारा ब्रह्माभेदापादक अपरोक्ष ज्ञान में पर्यवसित न हो जाय।[3]

इस प्रकार ब्रह्मदत्त, मण्डन मिश्र तथा भर्तृप्रपंच ये तीनों ही ज्ञान-कर्मसमुच्चयवादी हैं। ये तीनों ही मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान और कर्म के समुच्चय को स्वीकार करते हैं तथापि इनमें ब्रह्मदत्त कर्म को और मंडन मिश्र ज्ञान को प्रधान मानते हैं तथा भर्तृप्रपंच ज्ञान और कर्म दोनों को ही समान रूप से प्रधान स्वीकार करते हैं।

समीक्षा

शंकराचार्य ने एकमात्र ज्ञान को ही मोक्ष का साधन स्वीकार किया है। समन्वयाधिकरणभाष्य में वे कहते हैं कि आत्मा परमार्थतः मुक्त है, केवल अज्ञान के कारण वह बद्ध-सा प्रतीत होता है। अतएव मोक्ष सिद्ध है, साध्य नहीं। साध्य वस्तु के लिये कर्म की अपेक्षा होती है, सिद्ध वस्तु के लिये नहीं। यदि मोक्ष को साध्य माना जाय तो वह अनित्य हो जायगा। उसमें स्वर्गादि सुख के समान अतिशय एवं तारतम्य मानना होगा। अतः मोक्ष को साध्य नहीं माना जा सकता।[4] इस सम्बन्ध में

---

१. भेदाभेदात्मकं सर्वं वस्तु दृष्टमतस्ततः।
द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्म ॥ (बृ० उ० भा०, अ० ४, बा० ३, वा० १६४०)।

२. इति स्यादर्थवत्त्वाय समाधिर्ज्ञानकर्मणोः ॥ (वही १।४।१७०१)।

३. वही, अ० १ ब्रा० ४ वा० ९४८।

४. तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्विव तारतम्यावस्थितेषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत (ब्र० सू० शां० भा० १।१।४)।

कल्पतरुकार कहते हैं कि यदि वेदान्त में ब्रह्म की उपासना का विधान हो तो धर्ममीमांसा से ही इस कार्य के सम्पन्न हो जाने से ब्रह्मजिज्ञासा निष्फल हो जायगी। यदि धर्म के समान मोक्ष भी साध्य हो तो कर्मजन्य स्वर्गादि फलों से इसकी क्या विशेषता रह जायगी।[१] अतः मोक्ष को साध्य नहीं माना जा सकता। यह तो स्वतः सिद्ध है। ब्रह्मज्ञान से अज्ञान के दूर होते ही जीव ब्रह्मरूप हो जाता है। ब्रह्मज्ञान और मोक्ष के बीच में कार्यान्तर का निवारण श्रुतियों में स्पष्टतया उपलब्ध होता है। ब्रह्म को जो जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।[२] उस परावर के दर्शन हो जाने पर इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।[३] एकत्व को देखते हुये व्यक्ति को मोह और शोक कहाँ रह जाता है?[४] वामदेव ऋषि ने इसे (ब्रह्म को) देखते हुए यह जान लिया कि मैं ही मनु और मैं ही सूर्य हूँ।[५] इन सभी श्रुतियों में ब्रह्मज्ञान के बाद ही ब्रह्मरूपता की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है।[६] अतः ब्रह्मज्ञान के बाद मोक्ष के लिये कुछ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

ब्रह्मज्ञान को पुरुषव्यापारतंत्र नहीं माना जा सकता। प्रत्यक्षादि-प्रमाणविषयक वस्तुज्ञान के समान यह भी वस्तुतंत्र है। अतः सिद्ध वस्तुरूप ब्रह्म तथा उसके ज्ञान में कार्यानुप्रवेश की कल्पना नहीं की जा सकती।[७] ध्यान और चिन्तन यद्यपि मानस हैं; तथापि पुरुषतंत्र होने से इनका करना न करना अथवा अन्यथा करना संभव है। किन्तु ज्ञान प्रमाणतंत्र है और प्रमाण यथाभूतवस्तुविषयक ही होता है, अतः

---

१. वेदान्ताः यद्युपासनां विदधति''' इति विफलमिदं ब्रह्मजिज्ञासनं स्यात्।
(वे० क० १।१।३)।

२. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। (मु० उ० ३।२।९)।

३. क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। (मु० उ० २।२।९)।

४. तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः (ईशा० उ० ७)।

५. तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च। (बृ० उ० १।४।१०)।

६. अपि च ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति''''इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। (ब्र० सू० शा० भा० १।१।४)

७. अतो न पुरुषव्यापारतंत्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि प्रत्यक्षादिप्रमाण विषयवस्तु-ज्ञानवद्वस्तुतंत्रा। एवंभूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्। (ब्र० सू० शा० भा० १।१।४)

ज्ञान के वस्तुतंत्र होने से उसका करना, न करना अथवा अन्यथा करना सम्भव नहीं है। ज्ञान न तो चोदनातंत्र है, और न पुरुषतंत्र अपितु यह वस्तुतंत्र है। अतः मोक्ष का साधनभूत ज्ञान वस्तुतंत्र होने से पुरुष व्यापारतंत्र ध्यान और और चिन्तन (मनन और निदिध्यासन) से सर्वथा भिन्न है।[१]

यहाँ पर यह शंका होती है कि ब्रह्म-ज्ञान को ही यदि मोक्ष का साधन माना जाय तो वेदान्त-श्रवण से ही ब्रह्मज्ञान हो जाने पर श्रवणानन्तर मनन और निदिध्यासन का विधान क्यों किया गया है ?

इस शंका के समाधान में शंकराचार्य का कथन है कि श्रवण के समान मनन और निदिध्यासन का प्रयोजन भी ब्रह्मावगति ही है। यदि अवगत ब्रह्म का विनियोग कहीं अन्यत्र होता तब उसे विधिशेष माना जा सकता था। किन्तु ऐसा होता नहीं है। श्रवण के समान मनन और निदिध्यासन का प्रयोजन भी ब्रह्मावगति ही है।[२] वस्तुतः आत्मा या ब्रह्म विधि का विषय नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध में श्रूयमाण विधिवाक्य उसी प्रकार कुण्ठित हो जाते हैं जिस प्रकार पत्थर पर प्रयुक्त क्षुर का तैक्ष्ण्य कुण्ठित हो जाता है। अतः विधिच्छाया वचनों का प्रयोजन आत्मा के सम्बन्ध में किसी विधि का प्रतिपादन करना नहीं, अपितु स्वाभाविक प्रवृत्ति वाले विषयों से मनुष्य को विमुख करना ही है।[३]

इस प्रकार शंकराचार्य ने एकमात्र ज्ञान को ही मोक्ष का साधन स्वीकार किया है और इसके लिये किसी दूसरे साधन को उपयोगिता को नहीं माना है। मनन और निदिध्यासन रूप मानस व्यापारों को भी उन्होंने मोक्ष का साधन नहीं माना है।

---

१. ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं पुरुषतंत्रत्वात्, ज्ञानं तु प्रमाणतन्त्रम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयमतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतंत्रमेव तत्। न चोदनातंत्रम्। नापि पुरुषतंत्रम्। (ब्र० सू० शां० भा० १।१।४)

२. यदि हि अवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। न तु तदस्ति, मननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्। (ब्र० सू०-शां० भा० १।१।४)

३. किमर्थानि तर्हि आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि, स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः। (ब्र० सू०-शां० भा० १।१।४)

नैष्कर्म्यसिद्धि में सुरेश्वराचार्य ने भी मोक्ष का साधन एकमात्र ज्ञान को ही माना है और प्रबल युक्तियों से यह सिद्ध किया है कि कर्म मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। मोक्ष के लिये प्रसंख्यान के प्रयोजनत्व का खण्डन करते हुए उनका कथन है कि आत्मा स्वतः मुक्त है, केवल ज्ञान के कारण वह बद्ध-सा प्रतीत होता है। जो वस्तु साध्य है उसके लिए साधन की अपेक्षा होती है। किन्तु आत्म-वस्तु स्वतः सिद्ध है, अतः प्रसंख्यान से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती।[1] वे कहते हैं कि ब्रह्म की पारोक्ष्य निवृत्ति के लिये भी प्रसंख्यान की अपेक्षा नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जिसके आभास से परोक्ष वस्तु भी अपरोक्षवत् प्रतीत होते हैं, उस स्वमहिमसिद्ध अपरोक्ष ब्रह्म में पारोक्ष्य की सम्भावना कैसे हो सकती है ?[2] ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति को भी प्रसंख्यान का प्रयोजन नहीं माना जा सकता, क्योंकि अज्ञान-निवृत्ति का निश्चित साधन एकमात्र ज्ञान ही है। विषय की परिपूर्ण प्रमिति को उत्पन्न करना भी अभ्यास रूप प्रसंख्यान का प्रयोजन नहीं माना जा सकता; क्योंकि अभ्यास के द्वारा केवल बुद्धि का ऐकाग्र्य ही सम्भव है, प्रमा की उत्पत्ति नहीं। अभ्यास की अपेक्षा किये बिना प्रमाण स्वतः विषयावबोधन में समर्थ हैं।[3]

मंडन मिश्र के इस मत का कि "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों के श्रवण से उत्पन्न संसर्गात्मक एवं परोक्षात्मक ज्ञान निरन्तर ध्यान (प्रसंख्यान) से असंसर्गात्मक एवं अपरोक्षात्मक ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है, खण्डन करते हुए सुरेश्वराचार्य कहते है कि यह मत प्रमाण विरुद्ध होने के कारण अनुपपन्न है। शब्द ज्ञान के होते ही अविद्या की निवृत्ति से परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है अतः विधि का अभ्युपगम निरर्थक है।[4] शब्द ज्ञान अयथावस्तुविषयक होने से अप्रमा तथा प्रसंख्यानजन्य ज्ञान यथावस्तु विषयक होने से प्रमा है, यह कथन भी

---

१. नैष्कर्म्यसिद्धि १।६७, ३।८३-९३, ३।१२३-२६।

२. संबन्धवार्तिक—७९३।

३. अभ्यासोपचयाद् बुद्धेर्यत्स्यादैकाग्र्यमेव तत्।
न हि प्रमाणान्यभ्यासात् कुर्वन्त्यर्थविबोधनम् ॥
(नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० ३, का० ९०)।

४. प्रज्ञायाश्च समाप्तत्वादविद्यायाश्च निराकृतेः।
पुरुषार्थस्य चाप्तत्वात् किमर्थं विधिशासनम् ?
(बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ४, वा० ८१९)।

युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यदि मिथ्याज्ञान के अभ्यास से सम्यक् ज्ञान का समुद्भव स्वीकार किया जाय तो मिथ्या ज्ञान का सदैव अभ्यास करने वाले देहियों को बिना किसी प्रयत्न के ही मुक्ति हो जाय।[1] प्रमाण के व्यंजक होने के कारण प्रसंख्यानवादियों का यह कथन भी युक्तिसह नहीं है कि "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" यह श्रुति प्रसंख्यान को सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति में कारण मानती है। किञ्च, मिथ्याज्ञान के अभ्यास से मिथ्याज्ञान ही दृढ़ होगा, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अतः भावना, अभ्यास या प्रसंख्यान से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है।[2]

भर्तृप्रपंच ने ज्ञान और कर्म दोनों को समान रूप से प्रधान माना है। केवल ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान का नाश संभव है, अतः ज्ञान और कर्म का समुच्चय सर्वथा अनुपपन्न है। कैवल्य की संसिद्धि के लिये ज्ञान और कर्म के समुच्चय में कोई प्रमाण नहीं।[3] सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि ज्ञान के हेतु (वैराग्यादि) स्वरूप (वस्तु प्रकाशकत्व) और कार्य (संसारविनाश) का कर्म के हेतु (रागादि) स्वरूप (अप्रकाशकत्व) और कार्य (संसारोत्पाद) से नितान्त विरोध होने के कारण ज्ञान और कर्म का समुच्चय कथमपि संभव नहीं है।[4] चित्सुखीकार ने भी ज्ञान और कर्म के समुच्चय को असंभव बताया है। वे कहते हैं कि कर्म के फल हैं—उत्पत्ति, आप्ति,

---

१. वाक्यमानोद्भवं ज्ञानमयथावस्त्विवलीयते।
यथावस्त्वप्रमोत्थं च चित्रं सर्वज्ञचेष्टितम्॥
न च मिथ्याधियोऽभ्यासात् सम्यग्ज्ञानसमुद्भवः।
तथा सत्यप्रयत्नेन मुक्तिः स्यात् सर्वदेहिनाम्॥
(बृ० उ० भा० वा० ४।४।८२०-२१)।

२. वही, ४।४।८२८।

३. सर्वथा नैव घटते ज्ञानकर्मसमुच्चयः।
विद्ययैव तमोहानादकार्ये कर्म किंफलम्?
न मानं किंचिदप्यस्ति ज्ञानकर्मसमुच्चितेः।
प्रत्यक् कैवल्यसंसिद्धौ ज्ञानादेव तमोहृतेः।
(बृ० उ० भा० वा०, ३।३।७२-७३)।

४. हेतुस्वरूपकार्याणां प्रकाशतमसोरिव।
मिथो विरोधतो नातः संगतिर्ज्ञानकर्मणोः॥
(बृ० उ० भा० वा०, ३।३।७०)।

विकृति और संस्कृति तथा ज्ञान का फल है—अविद्या का नितान्त उच्छेद; अतः उन दोनों का समुच्चय कैसे हो सकेगा ?[१] श्रुतियों में भी कर्म की मोक्षसाधनता का निराकरण किया गया है। श्रुति कहती है उस पर-ब्रह्म को जानकर ही मृत्यु का उल्लंघन किया जा सकता है, ब्रह्म-ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष का कोई और मार्ग नहीं है।[२] न कर्म से, न सन्तान से और न ही धन से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।[३] नित्य मोक्ष रूप फल कर्मों से नहीं मिलता।[४] ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।[५] इन श्रुतियों में स्पष्ट रूप से ज्ञान को ही मोक्ष का साधन बतलाया गया है और कर्म के मोक्षसाधनत्व का निषेध किया गया है। अतः ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद स्वीकार करने योग्य नहीं है।

२. ज्ञानोत्पत्ति में कर्मों की उपयोगिता

हम पहले देख चुके हैं कि शंकराचार्य ने ज्ञान को ही मोक्ष का साधन स्वीकार किया है, कर्म को नहीं। कर्म बन्धन का कारण है। बन्धन-कारण रूप कर्म के द्वारा मोक्ष की आशा दुराशा मात्र है। ज्ञान और कर्म में स्वाभाविक विरोध है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होते ही सभी कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं।[६] उपनिषदों में भी कहा गया है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य साधन के द्वारा सम्भव नहीं। नित्य मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति कर्मों से नहीं हो सकती।[७] उसको जानकर ही मृत्यु के पार उतरा जा सकता है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं।[८] शंकराचार्य जगत् को अविद्याहेतुक मानते हैं। उनके मत में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। जगत् अविद्याहेतुक होने के कारण मिथ्या है। जीव भी परमार्थतः ब्रह्मरूप है। आत्मज्ञान के अभाव में वह अपने को बद्ध समझ रहा है। अज्ञान ही बन्धन का

---

१. अपि च उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतयः कर्मणः फलम्, विद्यायाः पुनरविद्यास्तमयं तत्कथमनयोः साहित्यम् ? (तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ५४०)

२. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। (श्वे० ३।८)

३. न कर्मणा न प्रजया धनेन (महाना० उ० ८।१४)

४. नास्त्यकृतः कृतेन। (मु० उ० १।२।१२)

५. एतावदरे खल्वमृतम्। (बृ० उ० ४।४।१)

६. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा। (गीता। ४।३७)

७. नास्त्यकृतः कृतेन। (मु० उ० १।२।१२)

८. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वे० उ० ३।८)

कारण है। अज्ञान के दूर होते ही जीव मुक्त हो जाता है। अज्ञान के निवारण के लिए ही ब्रह्मसूत्रकार ने प्रथम सूत्र में ब्रह्म-जिज्ञासा की अवतारणा की है। इस सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य कहते हैं कि सूत्रकार ने ब्रह्मज्ञान को सकल अनर्थ का निवारक माना है। इससे यह सूचित होता है कि सूत्रकार के मत में सकल अनर्थ की जननी अविद्या ही है। यदि यह नामरूपात्मक जगत् और जीव का कर्तृत्व भोक्तृत्व वास्तविक होता तो ब्रह्मज्ञान से कथमपि इसका निवारण सम्भव न होता। ज्ञान-अज्ञान का ही निवारक हो सकता है, वास्तविक वस्तु का नहीं। क्योंकि यह नामरूपात्मक प्रपंच एवं जीव का प्रमातृत्वप्रमुख कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि अविद्या हेतुक है, इसी कारण ब्रह्म-ज्ञान से इसका निवारण सम्भव होता है।[1] भाष्यकार शंकराचार्य ने भी अनादि नैसर्गिक मिथ्याप्रत्यय-रूप अध्यास को ही कर्तृत्वभोक्तृत्व का प्रवर्तक माना है।[2] इस प्रकार सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों के मत में जीव का कर्तृत्वभोक्तृत्व अविद्याहेतुक है। यह अविद्या ही जीव के बन्धन का हेतु है। विद्योदय के होते ही जीव ब्रह्मरूप हो जाता है। अतः दोनों के मत में विद्या ही मोक्ष का एकमात्र साधन है।

यद्यपि शांकर वेदान्त में ज्ञान को ही मोक्ष का एकमात्र साधन माना गया है, तथापि ज्ञानोत्पत्ति में कर्मों की उपयोगिता को भी स्वीकार किया गया है। ज्ञानोत्पत्ति में कर्मों की उपयोगिता के सम्बन्ध में शंकरोत्तर विचारकों में पर्याप्त मतभेद उपलब्ध होता है। अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति मिश्र—"तदेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"[3] इस श्रुति के अनुसार कर्मों का उपयोग

---

१. ब्रह्मज्ञानं हि सूचितं अनर्थहेतुनिबर्हणम्। अनर्थश्च प्रमातृताप्रमुखं कर्तृत्व-भोक्तृत्वम्। तत् यदि वस्तुकृतं न ज्ञानेन निबर्हणीयम्। यतः ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम्। तत् यदि कर्तृत्वभोक्तृत्वं अज्ञानहेतुकं स्यात्, ततः ब्रह्मज्ञानं अनर्थहेतुनिबर्हणं उच्यमानम् उपपद्येत। तेन सूत्रकारेणैव ब्रह्मज्ञानं अनर्थहेतु-निबर्हणं सूचयता अविद्याहेतुकं कर्तृत्वभोक्तृत्वं प्रदर्शितं भवति—पं० पा० पृ० ११।

२. एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या प्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोक प्रत्यक्षः।

(ब्र० सू० शां० भा०—अध्यासभाष्य १।१।१ पृ० ४)

३. बृ० उ० ४।४।२२

विविदिषा में मानते हैं। सर्वापेक्षाधिकरण में वे कहते हैं कि ज्ञान की उत्पत्ति में कर्मों की अपेक्षा विविदिषोत्पत्ति के द्वारा ही होती है, क्योंकि श्रुति में "विविदिषन्ति यज्ञेन" ऐसा कहा गया है।[1] भामतीकार श्रुति में प्रयुक्त "विविदिषन्ति" इस पद के आधार पर यह मानते हैं कि यज्ञादि कर्मों का उपयोग साक्षात् विविदिषोत्पत्ति में ही है न कि विद्योत्पत्ति में। किन्तु विवरणकार प्रकाशात्मयति (प्रकाशात्मा) के मत में यज्ञादि कर्मों का उपयोग विविदिषोत्पत्ति मे न होकर विद्योत्पत्ति में ही है। वे कहते है कि नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठानों के द्वारा संस्कृतात्मा जब श्रवण मनन ध्यानाभ्यासादि ज्ञानसाधनों का सम्पादन कर लेता है तब संस्कारकर्म सहकारीविशेष की सहायता से आत्मज्ञान की अवतारणा कराते हैं।[2]

सुरेश्वराचार्य ने भी कर्मों का उपयोग विविदिषामात्र में माना है।[3] उनका कथन है कि चित्तशुद्धि के द्वारा बुद्धि में विविदिषा, वैराग्य तथा प्रत्यक् प्रावण्य को प्राप्त करवाने के बाद कर्म उसी प्रकार अस्त हो जाते हैं जैसे प्रावृट् काल के अन्त में मेघ।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रह्म-ज्ञानोत्पत्ति में यज्ञादि कर्मों के उपयोग के संबंध में भामती-प्रस्थान और विवरण प्रस्थान में मतभेद है। जबकि भामती प्रस्थान के अनुसार यज्ञादि कर्मों का उपयोग विविदिषोत्पत्ति में है, विवरण प्रस्थान में इनका उप-योग विद्योत्पत्ति में माना गया है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, भामतीकार ने "विविदिषन्तियज्ञेन" (बृ० उ० ४।४।२२) इस श्रुति के आधार पर यज्ञादि कर्मों का उपयोग विविदिषोत्पत्ति में माना है। अपने पक्ष के समर्थन में उनका यह तर्क है कि प्रकृत्यर्थ की अपेक्षा प्रत्ययार्थ की प्रधानता होने से "विविदिषन्ति"

---

१. उत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मापेक्षा विद्यते विविदिषोत्पादद्वारा विविदिषन्ति यज्ञेन इति श्रुतेः। (भामती ३।४।२६)

२. नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानैः संस्कृतस्य आत्मनो यदि श्रवणमननध्यानाभ्यासादीनि ज्ञानसाधनानि संपद्यन्ते तदा संस्कारकर्माणि सहकारिविशेषात् आत्मज्ञानमवतारयन्ति। (पं० पा० वि०—तृतीय वर्णक पृ० ५४०)।

३. (बृ० उ० भा० वा० अ० ४ ब्रा० ४, वा० १०५१–५२, १०२४–२६, ११६०, नैष्कर्म्यसिद्धि अ० १ का० ५०-५१)

४. प्रत्यक् प्रवणतां बुद्धेः कर्मण्यापाद्य शुद्धितः। कृतार्थान्यस्तमायन्ति प्रावृडन्ते घना इव। (नै० सि० अ० का० ४९)

इस पद के प्रकृत्यर्थ वेदन की अपेक्षा सन् प्रत्ययार्थ इच्छा की प्रधानता को मानना उचित है।

इच्छा के विषयवेदन में यज्ञादि कर्मों का उपयोग नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदन के प्रधान होने पर भी विविदिषन्ति" इस पद में प्रकृत्यर्थ होने से वह प्रत्ययार्थ इच्छा की अपेक्षा गौण है। जैसे पुरुष की अपेक्षा राजा के प्रधान होने पर भी "राजपुरुष" शब्द पुरुष का ही सूचक है राजा का नहीं, क्योंकि तत्पुरुष समास में उत्तरपद की प्रधानता होती है; इसी प्रकार "विविदिषन्ति" पद भी इच्छा का ही सूचक है विद्या का नहीं; क्योंकि प्रकृत्यर्थ की अपेक्षा प्रत्ययार्थ प्रधान होता है।[1] "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत" इत्यादि स्थल में तो पुरुष के विशेषण रूप से श्रुत कामना और स्वर्ग दोनों में से किसी की भी प्रधानता शब्दतः प्रतीत न होने से आर्थिक प्रधानता का आश्रय लिया जाता है तथा स्वर्ग के अर्थतः प्रधान होने से यज्ञ के फल रूप में उसी का अन्वय किया जाता है। किन्तु प्रकृतस्थल में तो वस्तुस्थिति भिन्न है। यहाँ विविदिषा का ही फल रूप से अन्वय होता है, क्योंकि शब्दतः इसी की प्रधानता प्रतीत होती है। अत एव वाचस्पति मिश्र यज्ञादि कर्मों की उपयोगिता विविदिषोत्पत्ति में ही स्वीकार करते हैं। अप्पयदीक्षित ने भी कर्मों के विविदिषार्थत्व पक्ष को भाष्यकारसम्मत बताया है। वे कहते हैं कि भाष्यकार ने शमादि को विद्या का साक्षात् साधन होने से विद्या का अन्तरंग साधन तथा यज्ञादि को विविदिषा का साधन होने से विद्या का बहिरंग साधन स्वीकार किया है।[2] इस प्रकार भामती प्रस्थान में यज्ञादि कर्मों का उपयोग विविदिषोत्पत्ति में ही माना गया है, विद्योत्पत्ति में नहीं। किन्तु विवरण प्रस्थान में यज्ञादि कर्मों का उपयोग ज्ञान की इच्छा "विविदिषा" में न माना जाकर "वेदन" में ही माना गया है। भामतीकार

---

१. तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन नित्यस्वाध्यायेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति, न तु विदन्ति, वस्तुतः प्रधानस्यापि वेदनस्य प्रकृत्यर्थतया शब्दतो गुणत्वात् इच्छायाश्च प्रत्ययार्थतया प्राधान्यात्, प्रधानेन च कार्यसंप्रत्यात्। न हि "राजपुरुषमानय" इत्युक्ते वस्तुतः प्रधानोऽपि राजा पुरुषविशेषणतया शब्दत उपसर्जन आनीयते, अपितु पुरुष एव। शब्दतस्तस्य प्राधान्यात्। (भामती पृ० ६१)

२. भाष्यकृद्भिरपि विद्यासंयोगात् प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि विविदिषासंयोगात्तु बाह्यान्तराणि यज्ञादीनि इति यज्ञादीनां विविदिषार्थत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च। (वे० क० प० पृ० ६३)

द्वारा अपने पक्ष के समर्थन में दी गयी इस युक्ति का कि प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता होने से "विविदिषन्ति" इस पद में इच्छा का ही प्राधान्य है, "वेदन" का नहीं खण्डन करते हुए चित्सुखाचार्य कहते हैं कि जैसे "अश्वेन जिगमिषति" इस वाक्य से अश्व का साधनत्व इच्छा के विषयभूत "गमन" में ही संगत है, इच्छा में नहीं; वैसे ही प्रकृतस्थल में भी यज्ञादि का साधनत्व इच्छा के विषयभूत "वेदन" में ही संगत है, इच्छा में नहीं।[१] प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ की प्रधानता होती है—यह सामान्य नियम है। इस सामान्य नियम का कि इच्छा और इच्छा के विषय के समीप रहने पर इच्छा का विषय ही प्रधान होता है, इच्छा नहीं (इष्यमाणसमभिव्याहारे इष्यमाणस्यैव प्राधान्यं न तु इच्छायाः) इस विशेष नियम से बाध हो जाता है। इसीलिये "अश्वेन जिगमिषति" "असिना जिघांसति" इत्यादि वाक्यों में इच्छा के विषय गमन और हनन के प्रति ही क्रमशः अश्व और असि के करणत्व का बोध होता है, इच्छा के प्रति नहीं। "तदन्वेष्टव्यं तद्वाजिज्ञासितव्यम्" (उसकी खोज करनी चाहिये, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये) "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च"[२] (आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये) इत्यादि वैदिक प्रयोग में भी तव्य प्रत्यय के अर्थविधि का सन् प्रत्यय से कही गयी इच्छा के विषयभूत ज्ञान आदि में ही अन्वय क्लृप्त है। अतएव "विविदिषन्ति यज्ञेन" इस श्रुति में भी यज्ञ आदि का उपयोग प्रकृति से अभिहित "वेदन" (विद्या में ही) माना जाना उचित है।

इस पर यदि यह शंका हो कि "अश्वेन जिगमिषति" इत्यादि वाक्यों में अश्व आदि की इच्छा में अन्वय संभव न होने के कारण ही इच्छान्वय का परित्याग किया गया है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि तुल्ययुक्ति से प्रकृतस्थल में भी यह कहा जा सकता है कि विविदिषा में यज्ञादि का अन्वय न हो सकने के कारण विद्या में ही फलरूप से अन्वय होना चाहिये। यहाँ यह शंका भी समीचीन नहीं कि यज्ञादि का विद्या में विनियोग मानने पर विद्या की उत्पत्ति तक कर्मानुष्ठान की प्रसक्ति होने से "सब कर्मों का परित्याग करते हुए ही पुरुष द्वारा प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।" (त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्)

---

१. तेन अश्वेन जिगमिषतीत्यत्राश्वस्य गमन करणत्वात् यज्ञादीनामिष्यमाण ज्ञानकरणत्वं प्रतीयत इत्यर्थः। (विवरण तात्पर्य दीपिका पृ० ५४३)

२. बृ० उ० २।४।५।

इत्यादि श्रुति से सिद्ध कर्मत्यागरूप संन्यास में विद्यार्थता बाधित होगी; क्योंकि जैसे बीज बोने के पूर्व कर्षण की आवश्यकता होती है बाद में नहीं, एवं कर्षण और अकर्षण दोनों ही व्रीहि की उत्पत्ति में कारण हैं; वैसे ही योग की सिद्धि के पूर्व उसके लिये कर्म कारण हैं, तथा योग के सिद्ध हो जाने पर उन कर्मों का संन्यास (शम) उसका कारण होता है।[1] अन्तः करण की शुद्धि के लिए विविदिषारूप प्रत्यक् प्रावण्य के उदित होने तक कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है और तदनन्तर कर्मों का संन्यास उचित है। इस सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य का कथन है कि बुद्धि के प्रत्यक् प्रावण्य को उत्पन्न करने के बाद कृतार्थ कर्म उसी प्रकार अस्त हो जाते हैं जिस प्रकार वर्षाकाल के बाद मेघ।[2]

यहाँ यह शंका होती है कि कर्मों के विद्यार्थत्वपक्ष में भी विविदिषो-त्पत्ति तक ही उनका अनुष्ठान मानने पर कर्मों के विविदिषार्थत्वपक्ष से उसका कोई भेद नहीं रह जाता। इस शंका के समाधान में सिद्धान्तलेश-संग्रहकार कहते हैं कि विद्यार्थत्वपक्ष में द्वारभूत विविदिषा की सिद्धि के बाद उन कर्मों का परित्याग होने पर भी वे अदृष्ट द्वारा फलोत्पत्ति (विद्योत्पत्ति) में सहायक बनते हैं तथा विशिष्ट गुरु के निर्देश में निवृत्ति-प्रमुख श्रवण मनन आदि का सम्पादन करवा कर वे विद्या के उत्पादक होते हैं। इस प्रकार विद्यार्थत्वपक्ष में कर्म संस्कार विद्योत्पत्ति में सहायक बनते हैं और उनके द्वारा विद्या की उत्पत्ति अवश्यभावी है। किन्तु विविदिषार्थत्वपक्ष में यज्ञादि कर्म के द्वारा विद्योत्पत्ति अवश्यम्भावी नहीं है। यज्ञादि कर्म से विविदिषोत्पत्ति के बाद श्रवण आदि के प्रति बाधक हेतु न रहने पर श्रवणादि द्वारा विद्योत्पत्ति होता है। श्रवणादि के प्रति-बन्धक पाप के रहने पर यत्न करने पर भी श्रवण आदि नहीं होते। जैसे औषधि से अन्न-भक्षण में रुचि उत्पन्न होने पर यदि अन्न प्राप्त होता है तो उसके भक्षण से कृशता दूर हो जाती है, किन्तु यदि यत्न करने पर भी अन्न नहीं मिलता तो कृशता ज्यों-की त्यों बनी रहती है। उसी प्रकार विविदिषार्थत्व पक्ष में यज्ञादि कर्म का प्रयोजन केवल ज्ञान की इच्छा को उत्पन्न करना ही है। यज्ञादि कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट श्रवण आदि में रुचि को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है क्योंकि अदृष्ट फलो-त्पत्ति के बाद नष्ट हो जाता है, ऐसा नियम है। विविदिषा के उत्पन्न

---

१. आरुरुक्षोर्मुनेः योगं कर्मकारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण-मुच्यते। (गीता—६।३)

२. नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० १, का० ४९।

होने पर भी यदि प्रतिबन्धक कारण सामग्री विद्यमान हो तो श्रवणादि के अभाव में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार विविदिषार्थत्वपक्ष में यज्ञादि कर्म से ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत विद्यार्थत्व में यज्ञादि कर्म से विद्योत्पत्ति अवश्यभावी है।[1]

यज्ञादि कर्मों के विद्यार्थत्वपक्ष के समर्थन में विवरणकार का कथन है कि 'विविदिषन्ति यज्ञेन" इस श्रुति में प्रयुक्त "विविदिषन्ति' इस पद में लट् लकार का प्रयोग लेट् लकार के अर्थ में हुआ है और तदनुसार यह विध्यर्थ का सूचक है। किन्तु विधि का संबंध इच्छा से नहीं माना जा सकता, क्योंकि इच्छा विधि का विषय एवं साध्य नहीं है।[2] विधि वहीं होती है जहाँ करना, न करना, अथवा अन्यथा करना इत्यादि विकल्प संभव होते हैं। ज्ञान तथा इच्छा में इन विकल्पों के सम्भव न होने से इनमें विधि नहीं मानी जा सकती। ज्ञान के समान इच्छा भी विधेय एवं साध्य नहीं है। इच्छानुकूल कारणसामग्री के समुदित हो जाने पर इच्छा स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है। अतएव "विविदिषन्ति" इस पद से सूचित विधि का सम्बन्ध इच्छा से न होकर इच्छा के विषय "वेदन" से ही है। इस कारण विवरणकार ने इच्छा के विषय "वेदन" की उत्पत्ति में ही यज्ञादि कार्यों की उपयोगिता को माना है, विविदिषा की उत्पत्ति में नहीं।

इस प्रकार हमने देखा कि मोक्ष के साधनरूप ज्ञान की उत्पत्ति में यज्ञादि कर्मों की उपयोगिता के सम्बन्ध में भामतीप्रस्थान तथा विवरणप्रस्थान में मतभेद है। भामतीप्रस्थान में यज्ञादि कर्मों की उपयोगिता विविदिषोत्पत्ति में ही मानी गई है, जबकि विवरणप्रस्थान में इनकी उपयोगिता विद्योत्पत्ति में स्वीकार की गई है।

३. (क) श्रवणादि के स्वरूप का विचार

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को अद्वैत वेदान्त के सभी विचारकों

---

१. कर्मणां विद्यार्थत्वपक्षे द्वारभूतविविदिषानिरन्तरमुपरतावपि विविदिषागुरूपाभावान्निर्विघ्नश्रवणमननसाधनानि निवृत्तिप्रमुखानि सम्पाद्य विद्योत्पादकत्वनियमोऽस्ति। विविदिषार्थत्वपक्षे तु श्रवणादिप्रवृत्तिजननसमर्थोत्कटेच्छासंपादनमात्रेण कृतार्थतेति नावश्यं विद्योत्पादकत्वनियमः।
(सि० ले० सं०, पृ० ४२२)

२. न चेच्छामात्रेण संयोगः, तस्या असाध्यमानत्वावगमात्।
(पं० पा० वि०, पृ० ५४३)

ने आत्म-साक्षात्कार का अन्तरंग साधन स्वीकार किया है। तथापि इनके स्वरूप एवं अङ्गाङ्गित्व के सम्बन्ध में इनमें परस्पर मतभेद उपलब्ध होता है। सर्वापेक्षाधिकरण में वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म में चार प्रकार की प्रतिपत्तियाँ मानी हैं और तदनुसार श्रवणादि का लक्षण इस प्रकार किया है—उपनिषद् वाक्य के श्रवण मात्र से उत्पन्न होने वाली प्रथम प्रतिपत्ति श्रवण है। उपनिषद् वाक्य की मीमांसा से उद्भूत द्वितीय प्रतिपत्ति मनन है। चिन्ता सन्ततिमयी तृतीय प्रतिपत्ति निदिध्यासन है तथा चतुर्थ प्रतिपत्ति साक्षात्कारवती वृत्तिरूपा है जिसके अनन्तर ही अव्यवहित रूप से कैवल्य की प्राप्ति होती है।[1] इस प्रकार भामतीकार ने शाब्द प्रतिपत्ति को श्रवण, उपनिषद् वाक्यों की मीमांसा से उत्पन्न प्रतिपत्ति को मनन तथा चिन्ता अर्थात् ध्यान की संततिमयी प्रतिपत्ति को निदिध्यासन कहा है। उन्होंने प्रतिपत्ति को श्रवणादिकों का सामान्य लक्षण माना माना है, अतएव श्रवणादि में वे कर्म की अपेक्षा नहीं मानते। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि "तत्त्वमसि" इस उपनिषद् वाक्य के निर्विचिकित्स वाक्यार्थ का अवधारण करने वाले पुरुष को कर्म में अधिकार नहीं है जिससे कि भावना या भावना के कार्य साक्षात्कार के प्रति कर्म का उपयोग माना जा सके।[2]

पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य ने श्रवणादि का लक्षण इस प्रकार दिया है—आत्मा की अवगति के लिये वेदान्त वाक्यों का विचार तथा शारीरक भाष्य का श्रवण 'श्रवण' है। वस्तुनिष्ठ वाक्यापेक्षित दुन्दुभि आदि दृष्टान्तों तथा जन्म-स्थिति-लय के वाचारम्भणत्वादि का अनुसंधान मनन है। मननोपबृंहित वाक्यार्थ के सम्बन्ध में स्थिरता निदिध्यासन है।[3]

---

१. अपि च चतस्रः प्रतिपत्तयो ब्रह्मणि। प्रथमा तावदुपनिषद्वाक्य-श्रवणमात्राद्भवति, या किलाचक्षते श्रवणमिति। द्वितीया मीमांसासहितात्तस्मादेवोपनिषद्वाक्याद् यामाचक्षते मननमिति। तृतीया चिन्तासन्ततिमयी यामाचक्षते निदिध्यासनमिति। चतुर्थी साक्षात्कारवती वृत्तिरूपानान्तरीयकं हि तस्याः कैवल्यमिति (भामती ३।४।२६ पृ० ८९८)।

२. न च निर्विचिकित्सं तत्त्वमसीति वाक्यार्थमवधारयतः कर्मण्यधिकारोऽस्ति। येन भावनायां वा भावनाकार्ये वा साक्षात्कारे कर्मणामुपयोगः (भामती ३।४।२६, पृ० ८९९)।

३. तथा च श्रवणं नाम आत्मावगतये वेदान्तवाक्यविचारः शारीरकश्रवणं च।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य के मत में शब्दशक्तिविवेकक्रत् अर्थात् शक्ति तात्पर्य निश्चायक श्रुतिलिंग आदि न्यायों से एक अद्वितीय ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य-निरूपण श्रवण है।[1] श्रुत्यादि लिंगों के आधार पर असंभावना, विपरीतभावना इत्यादि का निवर्तक तर्क मनन है।[2] वार्तिककार के मत में निदिध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रथम अवस्था है क्योंकि उन्होंने अपरायत्तबोध, एकात्म्य बोध, सम्यग्ज्ञान आदि के लिये निदिध्यासन शब्द का बहुश: प्रयोग किया है। श्रवण के द्वारा श्रुत एवं मनन के द्वारा समर्थित वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म का बोध निदिध्यासन है।[3] निदिध्यासन को वार्तिककार ने ध्यानरूप न मानकर विज्ञानरूप माना है। ध्यानरूप मानने से उसकी सिद्धि के लिये प्रयत्न की आवश्यकता होती, किन्तु विज्ञानरूप मानने से उसकी सिद्धि के लिये प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है।[4] निदिध्यासन में चित्तवृत्तिनिरोध की भी अपेक्षा नहीं है क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोध को श्रुतियों में मुक्ति का साधन नहीं माना गया है अपितु एकमात्र ब्रह्मज्ञान को ही उसका साधन माना गया है।[5]

मननं वस्तुनिष्ठवाक्यापेक्षितदुन्दुभ्यादि-दृष्टान्त-जन्मस्थितिलयवाचारंभ्यण-त्वादियुक्त्यर्थवादानुसंधान वाक्यार्थाविरोध्यनुमानानुसंधानं च। निदिध्यासनं मननोपबृंहितवाक्यार्थविषये स्थिरीभाव:।

(पं० पा० नवम वर्णक पृ० ३५२-५३)

१. श्रुतिलिंगादि को न्याय: शब्दशक्तिविवेकक्रत् (बृ० उ० भा० वा० अ० २ ब्रा० ४ वा० २१४) तथा ब्रह्मानन्दी (अद्वैतसिद्धि व्याख्या) पृ० ८६७।

२. आगमार्थविनिश्चित्यै मन्तव्य: इति भण्यते (वही)। निदिध्यासनशब्देन सम्यग्ज्ञानं विवक्षितम्। (वही अ० १ ब्रा० ४ वा० ८९९)

३. श्रुत आगमतो योऽर्थस्तर्केणापि समर्थित:। स एवार्थस्तु निष्णातो निदिध्यासनमुच्यते। (वही अ० २ ब्रा० ५ वा० १५)

४. ध्यानशंकानिवृत्त्यर्थं विज्ञानेनेति भण्यते। निदिध्यासनशब्देन ध्यानमाशङ्क्यते यत: (वही अ० २ ब्रा० ४ वा० २३३)। तथा निदिध्यासयसिद्ध्यर्थो यत्नोऽत्रोऽयमनर्थक:। प्रत्यग्याथात्म्यसंबोधमात्रत्वादेव हेतुत:। (वही अ० २ ब्रा० ५ वा० १७)

५. वही अ० १ ब्रा० ४ वा० ८४८-४९।

(ख) श्रवणादि के अङ्गाङ्गित्व का विचार

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के अंगांगित्व के सम्बन्ध में भामती प्रस्थान विवरण प्रस्थान में मतभेद है। भामतीकार के मत में श्रवण तथा मनन से उपस्कृत निदिध्यासन से उत्पन्न संस्कार से युक्त अन्तःकरण के द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार होता है, किन्तु विवरणकार के अनुसार मनन तथा निदिध्यासन से उपस्कृत वेदान्त श्रवण के द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार सम्भव है। इस प्रकार भामतीकार जहाँ निदिध्यासन को अंगी एवं प्रधान मानते हैं, वहाँ विवरणकार श्रवण को ही अंगी स्वीकार करते है। वाचस्पति मिश्र यद्यपि अन्तःकरण के द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार मानते हैं, तथापि निदिध्यासन से उत्पन्न संस्कार को आत्म साक्षात्कार में अन्तःकरण का सहायक स्वीकार करते हैं तथा श्रवण और मनन को निदिध्यासन का उपकारी मानते हैं। अतएव उनके मत में निदिध्यासन अंगी है तथा श्रवण और मनन उसके अंग हैं। समन्वयाधिकरण में भामतीकार कहते हैं कि श्रवण, मननपूर्वक उपासना (निदिध्यासन) से उत्पन्न संस्कार से युक्त चित्त के द्वारा विद्योदय होता है। जिस प्रकार गान्धर्वशास्त्रार्थ की उपासना की वासना का सामर्थ्य अर्थ की अपेक्षा के बिना ही षड्जादि स्वरों के साक्षात्कार में दृष्ट है, उसी प्रकार वेदान्त के अर्थोपासना की वासना का निरपेक्ष रूप से ही ब्रह्म साक्षात्कार में सामर्थ्य संभव है।[1]

सर्वापेक्षाधिकरण में श्रवणादि के स्वरूप का निरूपण करते हुए भामतीकार चिन्ता सन्ततिमयी निदिध्यासनरूप तृतीय प्रतिपत्ति के आदरपूर्वक निरन्तर सेवन से ही साक्षात्कारवती चतुर्थ प्रतिपत्ति की उत्पत्ति मानते हैं, जिसके अनन्तर अव्यवहित रूप से कैवल्य की प्राप्ति होती है।[2] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसाक्षात्कार में निदिध्यासन

---

१. तस्यापि श्रवणमननपूर्वकोपासनाजनितसंस्कारसचिवादेव चेतसो भावत्, गान्धर्वशास्त्रार्थोपासना वासनाया इवापूर्वनिरपेक्षायाः षड्जादिसाक्षात्कारे वेदान्तार्थोपासनावासनायाः जीवब्रह्मभावसाक्षात्कारे अनपेक्षाया एव सामर्थ्यात् ।

(भामती १।१।१४)

२. ते (श्रवण मनने) एव च चिन्तासन्ततिमयीं तृतीयां प्रतिपत्तिं (निदिध्यासनरूपां) प्रसुवाते। सा च आदर-नैरन्तर्यदीर्घकालसेविता साक्षात्कारवतीमावर्त्तं एव प्रतिपत्तिं चतुर्थीम्, तन्नान्तरीयकं च कैवल्यम् ।

(भामती ३।४।२६, पृ० ८९८)

को अंगी एवं प्रधान तथा श्रवण और मनन को उसका अंग माना है।

विवरणकार प्रकाशात्मयति (प्रकाशात्मा) के मत में आत्म साक्षात्कार में श्रवण अंगी है तथा मनन और निदिध्यासन इसके अंग हैं। वे कहते हैं कि फलोपकार में अंगभूत मनन और निदिध्यासन के साथ श्रवण नामक अंगी का विधान किया जाता है।[1] अंगभूत मनन और निदिध्यासन के साथ श्रवण का विधान होता है।[2] इसी प्रकार उनका यह कथन है कि प्रमेयावगम के प्रति प्रमाण अव्यवहित रूप से कारण होता है, अतः प्रमाणरूप श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण है मनन और निदिध्यासन चित्त की एकाग्रवृत्ति रूप कार्य के द्वारा ही ब्रह्मानुभव की हेतुता को प्राप्त करते हैं। अतएव फल के प्रति अव्यवहित करण रूप श्रवण के व्यवहित करण रूप मनन और निदिध्यासन अङ्ग माने जाते हैं।[3] इस सम्बन्ध में चित्सुखाचार्य कहते हैं कि यद्यपि मनन और निदिध्यासन को आत्मसाक्षात्कार के प्रति श्रवण का अङ्ग माना गया है, तथापि मनन और निदिध्यासन का यह अङ्गत्व पूर्वमीमांसा सम्मत अवघातादि के समान स्वरूपोपकारित्व नहीं, प्रत्युत प्रयाजादि के समान फलोपकारित्वरूप है।

अतः यह शंका समुचित नहीं कि पश्चाद्वर्ती मनन और निदिध्यासन पूर्ववर्ती श्रवण के अङ्ग कैसे बन सकते हैं।[4] इस पर यह शंका होती है कि "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" इस श्रुति में आत्म दर्शन के साधन

---

१. मननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणं नाम अङ्गि विधीयते (पं० पा० विवरण प्रथम वर्णक, पृ० ३०)

मनननिदिध्यासनयोश्च श्रवणाङ्गत्वमुत्तरत्र वक्ष्यामः (वही, पृ० ३३)

२. सर्वथा तावन्मनननिदिध्यासनाभ्यां अङ्गभूताभ्यां सह श्रवणविधानमस्त्येव। (वही, पृ० ३८)

३. शिष्टशब्दावधारणं प्रमेयावगमं प्रति अव्यवधानेन कारणं भवति प्रमाणस्य प्रमेयावगमं प्रत्यव्यवधानात्। मनन निदिध्यासने तु चित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणसंस्कार परिनिष्पन्नतदेकाग्रवृत्तिकार्यद्वारेण ब्रह्मानुभवहेतुतां प्रतिपद्येते इति फलं प्रत्यव्यवहितस्य करणस्य शिष्टशब्दावधारणस्य व्यवहिते मनननिदिध्यासने तदङ्गे अङ्गीक्रियेते। (पं० पा० विवरण, पृ० ४११-१२)

४. नावघातादिवत् स्वरूपोपकारित्वं किन्तु प्रयाजादिवत् फलोपकार्यङ्गत्वात् न विरोधः। (विवरण तात्पर्य दीपिका, पृ० ३०)

रूप में श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीनों का विधान समान रूप से किया गया है, तब श्रवण को मूलविधि एवं अङ्गी तथा मनन और निदिध्यासन को उसका अङ्ग क्यों माना जाय? इस शंका के समाधान में विवरण भाव प्रकाशिकाकार नृसिंहाश्रमाचार्य का यह कथन है कि श्रुत वस्तु का ही मनन होता है तथा श्रवण और मनन से स्थिर किये हुए का ही ध्यान होता है। अतः श्रवण की प्रधानता स्वीकार्य है।[1] मनन और निदिध्यासन श्रवणाश्रित होने के कारण श्रवण के अङ्ग हैं।

यहाँ यह शंका होती है कि श्रवण (शब्द) से परोक्ष ज्ञान की ही उत्पत्ति होती है, अतः श्रवण आत्मसाक्षात्कार में अङ्गी (प्रधान) कैसे बन सकता है? यह शंका भी समीचीन नहीं, क्योंकि विवरण प्रस्थान में शब्द से भी अपरोक्षज्ञान को सम्भव माना गया है। मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तविन्दु तथा अद्वैतसिद्धि में प्रबल युक्तियों से यह सिद्ध किया है शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है। खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, पंचदशी इत्यादि ग्रन्थों में भी "शब्दा-परोक्षवाद" का समर्थन किया गया है। किंच, शब्द प्रमाण के बिना निदिध्यासन से ही अपरोक्षानुभव की उत्पत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि उसका प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता। मनन तथा निदिध्यासन के प्रमा का करण न होने के कारण श्रवण के विना होने वाले साक्षात्कार में अप्रमात्व की प्रसक्ति होगी।[2] यदि कहें कि निदिध्यासन से उत्पन्न अपरो-क्षानुभव का प्रामाण्य के निश्चय उसके शब्दावगत ब्रह्मात्म-विषयक होने के कारण शब्द प्रमाण द्वारा ही हो जायगा, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में शब्द प्रमाण से ही अपरोक्षानुभव की कल्पना अधिक संगत होगी। किसी विज्ञान के प्रामाण्य की कल्पना प्रमाणान्त-राधीन विषयसद्भावनिश्चयाधीन मानने से यह कहीं अच्छा है कि उसे ही क्लृप्त-प्रमाणजन्य मान लिया जाय। अन्यथा परतः-प्रामाण्य की प्रसक्ति होगी। इसलिए मनन और निदिध्यासन को श्रवण का अङ्ग

---

१. एकात्मविषयत्वेनैव श्रवणादित्रयस्य श्रवणात् श्रुतस्यैव मन्तव्यत्वात् श्रवण-मननाभ्यां स्थिरीकृतस्यैव ध्येयत्वाच्च तेषां समानविषयत्वमिति मननादि-वाक्यस्य न तन्मूलत्वमित्यर्थः। (विवरण भावप्रकाशिका, पृ० ३३)

२. न च शब्दकरणमन्तरेण निदिध्यासनादेव अपरोक्षानुभवफलजन्म सम्भवति, तस्य प्रामाण्यासिद्धेः। (पं० पा० वि०, पृ० ४१२)

मानना ही उचित है।[1] सुरेश्वराचार्य ने भी आत्मसाक्षात्कार में श्रवण को ही अङ्गी स्वीकार किया है तथा शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के सिद्धान्त का उन्होंने युक्तिपूर्वक समर्थन किया है। प्रमा की उत्पत्ति प्रमाण से ही सम्भव है, प्रमाणेतर से नहीं। प्रसंख्यान या ध्यान को प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः वे कहते हैं कि प्रसंख्यान या ध्यान को आत्मज्ञान का कारण कैसे स्वीकार किया जा सकता है? यहाँ यह कहना भी संगत नहीं कि श्रवणजन्य ज्ञान में परिपूर्णता या स्पष्टता लाने के लिए प्रसंख्यान की आवश्यकता है, क्योंकि प्रसंख्यान से ज्ञान में परिपूर्णता या स्पष्टता सम्भव नहीं है। प्रसंख्यान से पूर्व यदि ज्ञान अपरिपूर्ण एवं अस्पष्ट हो तो वह प्रसंख्या से परिपूर्ण और स्पष्ट नहीं बन सकता। प्रमाण ही प्रमा की उत्पत्ति का करण है, प्रमाणेतर नहीं। यदि ध्यान के पूर्व वह श्रवणज्ञान अप्रमा है, तो ध्यान से वह प्रमा का रूप धारण नहीं कर सकता। अप्रमा का चाहे कितना ही ध्यान क्यों न किया जाय वह प्रमा नहीं बन सकती। अपितु ध्यान से उसका मिथ्यात्व और भी सुदृढ़ हो जायगा। और यदि वह ध्यान के पूर्व ही प्रमा है तो ध्यान को प्रमा का करण कैसे माना जा सकता है। अतः ब्रह्मज्ञान में प्रसंख्यान या ध्यान की करणता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मनन को भी ब्रह्मज्ञान का करण नहीं माना जा सकता क्योंकि श्रुत्यादि लिङ्गों के आधार पर असम्भावना तथा विपरीत भावना का निवर्तक तर्क ही मनन है।[2] मनन का उपयोग आगमार्थ के निश्चय के लिए किया जाता है। मनन के श्रवण पर आधारित होने के कारण इसे ब्रह्मज्ञान का प्रधान साधन नहीं माना जा सकता। अतः सुरेश्वर ने श्रवण को ही ब्रह्मज्ञान का प्रधान कारण स्वीकार किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मसाक्षात्कार के साधनरूप श्रवणादि के अङ्गाङ्गित्व के संबंध में भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान में मत-भेद है। भामतीकार के मत में आत्मसाक्षात्कार के प्रति निदिध्यासन अङ्गी एवं प्रधान है, जबकि विवरणकार तथा वार्तिककार के मत में श्रवण

---

१. उत्पन्नस्य हि विज्ञानस्य प्रमाणान्तराधीनविषयसद्भावनिश्चयाधीनप्रामाण्यकल्पनाद् वरं स्वस्यैव क्लृप्तप्रमाणजन्यत्वकल्पनम्। अन्यथा परतः प्रामाण्यात् इतरत्र स्वतः प्रामाण्यात्। तस्मात् युक्तं श्रवणस्य फलोपकार्यङ्गता मनननिदिध्यासनयोरिति। (पं० पा० वि०, पृ० ४१३)

२. बृ० उ० भा० वा०, २।४।२१४।

को ही अङ्गी माना गया है।

४. श्रवणादि में विधि विचार

श्रवणादि में विधि के सम्बन्ध में भी भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान में मतभेद है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन इन तीनों में विध्यभाव माना है। किन्तु विवरणकार ने श्रवण में नियम विधि को स्वीकार किया है। समन्वयाधिकरण में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि आत्मा की ही उपासना करो, इस वाक्य में विधि नहीं है अपितु यह विधिसरूप है।[1] यहाँ अन्यतः प्राप्त श्रवणादि का विधिसरूप वाक्यों से अनुवाद किया गया है।[2] इसी प्रकार मनन और निदिध्यासन में विधि का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि मनन और निदिध्यासन में भी विधि नहीं; वहाँ भी विधिसदृश वाक्यों से अनुवाद मात्र है। मनन और निदिध्यासन से साक्षात्काररूपी फल उत्पन्न होता है, यह बात अन्वय और व्यतिरेक से ही सिद्ध है। मनन और निदिध्यासन के द्वारा वस्तु का साक्षात्कार होता है, इसके अभाव में नहीं। इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा ही यह सिद्ध है कि मनन और निदिध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कार में हेतु है। अतः ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये इनके विधान की कोई आवश्यकता नहीं है।[3] आत्मा के दर्शन के निमित्त "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्य, निदिध्यासितव्यश्च" (बृ० उ० २।४।५) इस वाक्य में श्रूयमाण दर्शनविधि भी वस्तुतः विधि नहीं, अपितु विधिसरूप है क्योंकि चिन्ता और साक्षात्कार में विधि सम्भव नहीं है। चिन्ता या साक्षात्कार में विधि संभव नहीं, इस मत का विस्तृत विवेचन वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि की टीका तत्त्वसमीक्षा में किया है।[4] इस प्रकार भामतीकार ने ब्रह्म विषयक श्रवण, मनन, निदिध्यासन

१. आत्मेत्येवोपासीतेति न विधिः, अपितु विधिसरूपोऽयम्।
(भामती १।१।४, पृ० ११५)

२. अन्यतः प्राप्ता एव हि श्रवणादयः विधिसरूपैर्वाक्यैरनूद्यन्ते।
(भामती, पृ० १३०)

३. मनननिदिध्यासनयोरपि न विधिः तयोः अन्वयव्यतिरेकसिद्धसाक्षात्कार-फलयोः विधिसरूपैर्वचनैरनुवादात्।
(भामती, पृ० १५३)

४. न च चिन्ता साक्षात्कारयोर्विधिरिति तत्त्वसमीक्षायामस्माभिरुपपादितम्। विस्तरेण चायमर्थस्तत्रैव प्रपंचितः। जर्तिलयवाग्वा जुहुयात् इतिवद्विधि-सरूपा एते "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" इत्यादयो न तु विधेय इति।
(भामती ३।२।२१, पृ० ७१३)

और साक्षात्कार (दर्शन) इन चारों प्रतिपत्तियों के विधान की अनुपपत्ति को प्रदर्शित किया है।[1] किन्तु सहकार्यन्तरविध्यधिकरण के "अपूर्वत्वाद्विधिरास्थेयः" इस भामती वाक्य से यह प्रतीत होता है कि भामतीकार यहाँ श्रवण आदि में अपूर्व विधि को स्वीकार कर रहे हैं। अतएव प्रकटार्थविवरणकार ने इसे वाचस्पति मिश्र की "पूर्वापरव्याहतभाषिता" कहकर कटाक्ष किया है।[2] किन्तु भामतीकार के अनुयायी अमलानन्द तथा अप्पयदीक्षित ने इस वाक्य का उनकी पूर्व टीका की पंक्तियों के साथ सामंजस्य प्रदर्शित किया है और यह सिद्ध किया है कि उन्हें श्रवणादि में विधि मान्य नहीं है। इस सम्बन्ध में परिमलकार अप्पयदीक्षित का कहना है कि यहाँ वस्तुतः वाचस्पति मिश्र को अपूर्व विधि का प्रतिपादन अभीष्ट नहीं है। "सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्" इस सूत्र के विध्यादिवत् इस पद तथा इस सूत्र पर शांकर भाष्य की "एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन् विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः" इस पंक्ति में वस्तुतः विधि का प्रतिपादन नहीं, अपितु ध्यान में अनुत्सहमान मुमुक्षु के उत्साहजनन के लिए विधिसरूप अर्थवाद के रूप में ही भामतीकार ने यहाँ विधि मानी है।[3] अतः वाचस्पति मिश्र की पूर्वापरविरोधिता की संभावना समीचीन नहीं है। इस सम्बन्ध में कल्पतरुकार अमलानन्द का कथन है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति श्रवणादि के प्राप्त होने से श्रवणादि में अपूर्व विधि नहीं मानी जा सकती तथा श्रवणादि से भिन्न किसी उपाय के संभव न होने से श्रवणादि में न तो नियमविधि मानी जा सकती है और न ही परिसंख्याविधि। अतः ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनभूत श्रवणादि में किसी भी विधि को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[4] तण्डुल निष्पत्ति में नख दलनादि उपायान्तर के सम्भव होने से अवघात

---

१. चतसृणामपि च प्रतिपत्तीनां ब्रह्मणि विधानानुपपत्तेरित्युक्तं प्रथमसूत्रे। "द्रष्टव्यो निदिध्यासितव्य" इति विधिसरूपं न विधिरित्यप्युक्तम्।
(भामती ३।४।४७, पृ० ९०५)

२. वाचस्पतिः समन्वयसूत्रे श्रवणादिविधिं निराचष्ट, अत्र तु तद्विधिमूरीचक्रे, अहो बतास्य पाण्डित्यम्। (प्र० वि०)

३. सौत्रपदतद्भाष्ययोर्भेद-दर्शनव्यासङ्गाद्ध्यानेऽनुत्सहमानस्योत्साहजननार्थं विधिसरूपोऽयमर्थवाद इत्यत्रैव तात्पर्यमिति भावः।
(वे० क० प० ३।४।४७, पृ० ९१९)

४. नात्रापूर्वविधिः प्राप्तेरनन्योपायतो न च।
नियमः परिसंख्या वा श्रवणादिषु सम्भवेत्॥ (वे० क० ३।४।४७, पृ० ९२०)

के पाक्षिक रूप से अप्राप्त होने के कारण उसके परिपूरण के द्वारा अवघात का नियमन किया जाता है। "इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य" इस मंत्र में रशना के आदान का विधान होने से अश्वरशना तथा गर्दभरशना दोनों के आदान के प्राप्त होने पर "अश्वाभिधानीमादत्ते" इस वाक्य से गर्दभरशना का व्यावर्तन किया जाता है। किन्तु प्रकृतस्थल में श्रवणादि-साध्य ब्रह्म साक्षात्कार में उपायान्तर संभव नहीं है, जिससे कि श्रवणादि में नियम या परिसंख्या विधि मानी जा सके।[1] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र तथा उनके अनुयायियों ने ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण श्रवणादि में कोई विधि नहीं मानी है।

किन्तु प्रकटार्थ विवरणकार श्रवण में अपूर्व विधि मानते हैं। उनके मत में ब्रह्म साक्षात्कार में श्रवण रूप उपाय का किसी प्रमाण से परिज्ञान न हो सकने के कारण श्रवण में अपूर्व विधि है। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा श्रवण-रूप उपाय का बोध संभव नहीं क्योंकि वेदान्त श्रवण करने पर भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता और वेदान्त श्रवण न करने पर भी वामदेव मुनि को गर्भाशय में ही आत्म-साक्षात्कार हो गया था। यद्यपि गान्धर्वशास्त्र श्रवण से षड्जादि स्वरभेद का साक्षात्कार दृष्ट है तथापि कर्मकाण्ड के श्रवण से उसके प्रतिपाद्य धर्म आदि अदृष्ट अर्थ का साक्षात्कार दृष्ट नहीं। अतएव श्रवण के द्वारा श्रोतव्य अर्थ का साक्षात्कार होता है, इस सामान्य नियम के आधार पर वेदान्त श्रवण में आत्म-साक्षात्कार की हेतुता प्राप्त नहीं है। अतः अन्यतः अप्राप्त होने के कारण श्रवण में अपूर्वविधि मानना उचित है। इस प्रकार प्रकटार्थविवरणकार ने श्रवण में अपूर्व विधि को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

विवरणकार प्रकाशात्मयति (प्रकाशात्मा) ने श्रवण में अपूर्व विधि का खण्डन किया है तथा श्रवण में नियमविधि को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि अन्वय-व्यतिरेक रूप प्रमाण के अभाव से वेदान्त श्रवण में आत्मसाक्षात्कार के प्रति हेतुता प्राप्त नहीं, अतः श्रवण में अपूर्व विधि है, यह बात युक्तिसंगत नहीं। वेदान्त-श्रवण आत्म-साक्षात्कार के लिए अन्य सहकारी कारण की भी अपेक्षा रखता है। चित्त की एकाग्रता आदि सहकारी कारण के अभाव में वेदान्त श्रवण होने पर भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। यथा दण्ड आदि सहकारी

---

१. न तु श्रवणादिसाध्ये ब्रह्मसाक्षात्कारेऽस्त्युपायान्तर संभवो यतः श्रवणादेर्नियमः परिसंख्या वा स्यात्।

(वे० क० ३।४, ४७, पृ० ९२०)

कारण के अभाव में मृत्तिका से घट की उत्पत्ति नहीं होती। श्रवण के अभाव में भी वामदेव को जो आत्मसाक्षात्कार सम्भव हुआ वह पूर्व-जन्म के वेदान्तश्रवण के कारण ही हो सका। अतः श्रवण से होने वाले आत्मसाक्षात्कार में अन्वय-व्यतिरेक के व्यभिचार की शंका समीचीन नहीं है। विचार से युक्त वेदान्त श्रवण में ब्रह्मसाक्षात्कार की हेतुता विधि के बिना भी प्राप्त है क्योंकि अपरोक्ष वस्तुओं को विषय करने वाले सभी प्रमाण साक्षात्कार के हेतु हैं।[1] अतः आत्म साक्षात्कार के लिए श्रवण में अपूर्व विधि को मानने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि विवरणकार ने श्रवण में अपूर्व विधि को नहीं माना है तथापि भामती-कार के समान वे सर्वथा विध्यभाव को भी स्वीकार नहीं करते। उन्होंने अन्वय-व्यतिरेकसिद्ध साधन में भी विधि को उपपन्न बताया है। जिस प्रकार तण्डुल-निष्पत्ति रूप फल के दृष्ट होने पर भी अवघात का "व्रीहीनवहन्ति" इस रूप में विधान किया जाता है, उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी समझा जाना चाहिए।[2] तण्डुल की निष्पत्ति नख-विदलन द्वारा भी सम्भव है, किन्तु अवघात का विधान इस बात का सूचक है कि अवघात से निष्पन्न तण्डुल में जो "अपूर्वता" है वह नखविदलनादि से निष्पन्न तण्डुल में नहीं और न ही उससे कार्य-सिद्धि सम्भव है। यद्यपि अवघात भी तण्डुल निष्पत्ति में पाक्षिक रूप से प्राप्त है, तथापि नखविदलनादि की भी पाक्षिक प्राप्ति होती है। अतएव अवघातेतर उपायों के प्रतिषेध एवं अवघात की पाक्षिक अप्राप्ति के निवारण के लिए नियमविधि का आश्रय लिया जाता है।[3] उसी प्रकार श्रवण में भी पाक्षिक अप्राप्ति के निवारणार्थ नियमविधि को स्वीकार करना चाहिए। यदि यह शंका हो कि व्रीहि के अवघातविधान में तो अदृष्ट फल की प्राप्ति के निमित्त नियमविधि मानी जाती है, यहाँ श्रवण से

---

१. तस्मान्नापरोक्षत्वं करणप्रयुक्तं जातिर्वा किन्त्वपरोक्षार्थविषयत्वमेव। अर्थस्य घटादेस्त्वानपरोक्षस्वभावस्याऽप्यपरोक्षसंवित्तादात्म्यादपरोक्षत्वम्। "यत्सा-क्षादपरोक्षात् इति श्रुतेः संविदोऽपरोक्षस्वभावत्वात्।

(विवरणभाव प्रकाशिका, पृ० ४०५)

२. तण्डुलनिष्पत्ति-फलतया दृष्टफलेऽप्यवघाते "व्रीहीनवहन्ति" इति यथा नियमविधिः तथा इह "श्रोतव्य" इति विधिः किं न स्यात्।

(विवरण तात्पर्यदीपिका, पृ० ३४)

३. विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्या उदाहृता॥

आत्मज्ञान रूपी दृष्टफल के अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध होने और किसी अदृष्ट फल के न होने से नियमविधि को मानने की क्या आवश्यकता है, तो यह शंका ठीक नहीं क्योंकि आत्मतत्त्वापरोक्ष्य सर्वादृष्टसाध्य है, अतः श्रवण में भी नियम विधि को स्वीकार किया जाना युक्तियुक्त है।[1]

इस पर यह शंका होती है कि श्रवण में नियमविधि को मानना भाष्यकार के मत के विपरीत होगा, क्योंकि "तत्तु समन्वयात्" (१.१.४) सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने श्रवणादि में विधि का निषेध किया है। उनके विचार में अहेय एवं अनुपादेय आत्मतत्त्व में विधि को कोई स्थान नहीं। "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" आदि में जो विधि प्रतीत होती है वह वस्तुतः विधि नहीं, अपितु विधिच्छायामात्र है। इस प्रकार के विधिच्छाया वाले वाक्यों का उद्देश्य बहिर्मुखि पुरुष को स्वाभाविक प्रवृत्तिवाले विषयों से विमुख करना ही है।[2] यहाँ यह द्रष्टव्य है कि श्रवणादि में विध्यभाव को मानने वाले वाचस्पति मिश्र ने शंकराचार्य की इन पंक्तियों को अपने पक्ष के समर्थन में उद्धृत किया है। किन्तु श्रवणादि में नियमविधि को स्वीकार करने वाले प्रकाशात्मयति तथा उनके समर्थकों ने आचार्य की इन पंक्तियों को दर्शनविधि के निराकरण के लिये माना है, श्रवणादिविधि के निराकरण के लिये नहीं। "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इस श्रुति में प्रयुक्त "द्रष्टव्यः" पद दर्शन का विधान नहीं कर सकता क्योंकि दर्शन का विधान मानने पर "ब्रह्म" दर्शन का कर्म होने से गौण हो जायगा।[3] क्योंकि प्रकृति और प्रत्यय दोनों मिलकर प्रधानतः प्रत्ययार्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। इस नियम के अनुसार प्रत्ययार्थ

---

१. न च अवघातादिवत् उभयार्थता संभवति, दृष्टादृष्टप्रकारद्वयसाध्यापूर्ववत् इह अदृष्टसाध्यस्याभावात् आत्मावगमस्य दृष्टोपायमात्रसाध्यत्वात् इति। नैतत् सारम्। आत्मतत्त्वापरोक्ष्यस्य सर्वादृष्टसाध्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् अवघातादिवत् उभयार्थतया विधानोपपत्तेः। (पं० पा० वि०, पृ० ३४)

२. तद्विषये लिङ्गादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्त्युपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्, अहेयानुपादेय वस्तुविषयत्वात्। किमर्थानि तर्हि "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि। स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः।

(ब्र० सू० शां० भा० १।१।४ पृ० १२९–३०)

३. दर्शनविधाने हि ब्रह्म कर्मतया गुणभूतं प्रसज्यते। (पं० पा० वि० पृ० ३७)

की प्रधानता होने से और दर्शन के प्रकृत्यर्थ होने के कारण गौण होने से उसका विशेषण ब्रह्म और भी अधिक गौण हो जायगा।[1] किन्तु श्रवण का विधान मानने पर उक्त दोष नहीं होता, क्योंकि श्रवण के प्रधान फलभूत दर्शन का विशेषण होने से ब्रह्म भी प्रधान है, गुणभूत नहीं। इस प्रकार वेदान्त वाक्यों के द्वारा प्रतिपाद्यमान ब्रह्म के दर्शन के लिए श्रवणादि के विधान में कोई विरोध नहीं होता।[2]

इस पर यह शंका होती है कि नियमविधि का आश्रयण किसी के व्यावर्तन के लिए हुआ करता है; अतएव व्यावर्त्य के अभाव के कारण श्रवण में नियमविधि कैसे मानी जा सकती है।[3] श्रवण में नियमविधि मानने पर इसके द्वारा व्यावर्त्य वस्तु का प्रतिपादन करना होगा। क्या इस नियमविधि से आत्मा विचारित वेदान्तों से ही ज्ञातव्य है, इस प्रकार वेदान्त का नियमन होता है; अथवा वेदान्तों के विचार से ही आत्मा ज्ञातव्य है, इस प्रकार विचार का, अथवा मुमुक्षु के द्वारा मोक्ष साधन ज्ञान के लिए आत्मा ही श्रोतव्य है, इस प्रकार आत्मा का नियमन होता है। इनमें से प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि आत्मा के सम्बन्ध में वेदान्त से अतिरिक्त प्रमाण की प्रसक्ति न होने से व्यावर्त्य का अभाव है।[4] यदि कहें कि जिस प्रकार लौकिक तृप-निवृत्ति में प्रसक्त उपायान्तर

---

१. दर्शनविधाने अयं दोष इति दर्शयति—"प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः प्राधान्येन" इति न्यायेन प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यात् दर्शनस्य च प्रकृत्यर्थतया गुणभूतत्वेन तद्विशेषणस्य ब्रह्मणोऽपि सुतरां गुणभूतत्वं स्यादित्यर्थः।
(वि० ता० दी० पृ० ३७)

२. ब्रह्मदर्शनमुद्दिश्य विचारविधाने तु स्वप्रधानफलभूतदर्शनविशेषणतया ब्रह्मापि स्वप्रधानं भवति न तु गुणभूतं इति वेदान्तैः ब्रह्मणि स्वप्रधाने प्रतिपाद्यमाने तद्दर्शनाय श्रवणादिविधानं नैव विरुध्यते।
(पं० पा० वि० पृ० ३७)

३. ननु श्रवणे न नियमविधिरुपपद्यते व्यावर्त्याभावात्। तत्र किमात्माविचारित-वेदान्तैरेव ज्ञातव्य इति वेदान्ता नियम्यन्ते, किं वा वेदान्तानां विचारेणैव ज्ञातव्य इति विचारः अथवा मुमुक्षुणा मोक्षसाधन-ज्ञानाय आत्मैव श्रोतव्य इत्यात्मा?
(वि० भा० प्र० पृ० ३४)

४. नाद्यः आत्मनि वेदान्तातिरिक्त प्रमाणाप्रसक्तेः व्यावर्त्याभावात्।
(वि० भा० प्र० पृ० ३४)

विषयक वेदान्तविचार का नियमन किया जाता है।[1] "श्रोतव्य" इस विधि का अर्थ है वेदान्तवाक्यश्रवण के द्वारा आत्मज्ञान की भावना करे। जैसे "व्रीहीनवहन्ति" इत्यादि वाक्य में दृष्टपुरोडाशहेतुभूततण्डुल-निष्पत्तिमात्र के साधानान्तर साध्य होने पर भी अपूर्व जनकत्वांश में अवघात का नियम किया जाता है; उसी प्रकार यहाँ आत्मज्ञानमात्र के तर्कित साधनान्तरसाध्य होने पर भी पक्ष में अप्राप्त अविद्यानिवृत्तिसमर्थ अद्वैतात्मज्ञानसाधनीभूत वेदान्त-श्रवण का विधान किया जाता है।[2] और जिस प्रकार अवघात विधि के द्वारा नखविदलनादि साधनान्तर की व्यावृत्ति होती है, उसी प्रकार श्रवणविधि के द्वारा भ्रम-गृहीत साधनान्तर (भेदशास्त्र) की व्यावृत्ति होती है। अहंकार के दृश्य होने एवं तदतिरिक्त (अष्टगुणसम्पन्न) परमेश्वर के अहमाकार अनुभव में प्रकाशमान न होने से अद्वितीयचैतन्यार्थक आत्मपद के अयोग्य होने से "इदं सर्वं यदयमात्मा" "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इत्यादि वाक्यों की पर्यालोचना से आत्मशब्द के अद्वैतात्मप्रतिपादन-परक होने के कारण भिन्नात्मविषयक वाक्य के श्रवण का व्यावर्तन होता है।[3] यहाँ यह नहीं कह सकते कि भिन्नात्मविषयक वाक्यश्रवण से मुक्तिसाधक ज्ञान के सम्भव न होने के कारण मुमुक्षु की स्वतः उससे निवृत्ति हो जायगी एवं उसके लिए नियमविधि मानने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि आपात ज्ञान दशा में "द्वासुपर्णा" (मु० उ० ३।१।१)" जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः (श्वे० उ० ४।७) इत्यादि भेदवाक्य से शोकनिवृत्त्यादिफल की प्रतीति होने के कारण विचारनियमविधि के अभाव में नियमित रूप से मुमुक्षु की उससे निवृत्ति सम्भव नहीं है।[4] किंच, "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" यह निषेध आत्ममात्रभेदविषयक है या ईश्वरभेदविषयक, इसका निश्चय वेदान्त विचार के पूर्व सम्भव नहीं। इसलिए विचार के पूर्व अर्थनिर्णय सम्भव न होने से भेदप्रवणचित्त व्यक्ति की भेदशास्त्र में भी प्रवृत्ति हो सकती

---

१. मुमुक्षाणामद्वैतात्मविषयविचारो नियम्यते। (वि० भा० प्र० पृ० ३५)

२. एवमत्रात्मज्ञानस्य तर्कितसाधनान्तरसाध्यत्वयोग्यतायामपि अविद्यानिवृत्ति-समर्थाद्वैतात्मज्ञानसाधनीभूतवेदान्तश्रवणं पक्षे अप्राप्तं विधीयते। (वि० भा० प्र०, पृ० ३६)

३. भिन्नात्मविषयकवाक्यश्रवणं व्यावर्त्यते। (वि० भा० प्र० पृ० ३६)

४. विचारनियमविध्यभावे नियमेन ततो निवृत्त्यसंभवात्। (वही, पृ० ३६)

है। शरीरातिरिक्त आत्मा के ज्ञान में तो भेदशास्त्र भी साधन है किन्तु यह अविद्यानिवृत्ति समर्थ अद्वैतात्मज्ञान का साधन नहीं। अतः भेदशास्त्र की व्यावृत्ति के लिए श्रवण में नियमविधि मानी जाती है।[१] अतएव विवरणकार तथा उनके समर्थकों ने श्रवण में नियमविधि को स्वीकार किया है।

इस प्रकार हमने देखा कि आत्मसाक्षात्कार के साधनरूप श्रवणादि में विधि को स्वीकार किये जाने के प्रश्न पर विवरण प्रस्थान तथा भामतीप्रस्थान में मतभेद है। विवरणप्रस्थान में श्रवणादि में नियमविधि को स्वीकार किया गया है, जब कि भामती प्रस्थान में श्रवणादि में किसी भी विधि को स्वीकार नहीं किया गया।

५. ब्रह्म साक्षात्कार का करण (शब्द या मन ?)

ब्रह्म साक्षात्कार के करण के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त में विभिन्न मत उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मदत्त तथा मण्डनमिश्र के अनुसार "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यार्थाम्रेडन एवं प्रत्ययाभ्यास रूप—प्रसंख्यान ही ब्रह्म-साक्षात्कार में करण है।[२] "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मु० ३ १. ८) यह श्रुति प्रत्ययाभ्यास रूप प्रसंख्यान को ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति करण मानने में प्रमाण है। "आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्" (ब्र० सू० ४।१।१२) तथा "विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्" (ब्र० सू० ३।३।५९) इन सूत्रों में सगुण ब्रह्म के साक्षात्कार के प्रति प्रसंख्यान को करण माना गया है। कामातुर के असन्निकृष्ट कामिनी के साक्षात्कार में प्रसंख्यान की करणतादृष्ट भी है।

साक्षात्कार को ध्यान का फल मानते हुए अवच्छेदवादी आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इस मत का समर्थन एवं उपबृंहण किया है।[३] कल्प-

१. वि० भा० प्र०, पृ० ३६।

२. नैष्कर्म्यसिद्धि, अ० १ का० ६७ तथा अ० ३ का० ९० तथा सम्बन्धवार्तिक वा० ७६२।

३. ध्यानस्य हि साक्षात्कारः फलम् साक्षात्कारश्चोत्सर्गतः तत्त्वविषयः (भामती पृ० २८७) ध्यानाभ्यासपरिपाकेन साक्षात्कारोविज्ञानम् (भामती पृ० २९०) आगमाचार्योपदेशपूर्वकमनननिदिध्यासनप्रकर्षपर्यन्तजोऽस्य ब्रह्मसाक्षात्कार उपावर्तते (भामती पृ० ४१४)। तत्त्वमसीति वाक्यश्रवणमननध्यानाभ्यास-परिपाकप्रकर्षपर्यन्तजोऽस्य साक्षात्कारः उपजायते (भामती पृ० ५०२) तथा श्रवणमनननिदिध्यासनाभ्यासस्यैव स्वगोचरसाक्षात्कारफलत्वेन लोकसिद्ध-त्वात्। —भामती, पृ० ९२९।

तत्कार अमलानन्द कहते हैं कि भामतीकार भी मण्डनमिश्र के समान ही प्रसंख्यान को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण मानते हैं।[1] यह ठीक है कि वाचस्पति मिश्र ने प्रसंख्यान को आत्मसाक्षात्कार का हेतु माना है तथापि भामती के सम्यक् अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ प्रसंख्यान को मन के सहकारी करण के रूप में ही माना गया है। उनका कथन है कि स्वतन्त्र रूप से प्रसंख्यान की साक्षात्कार के करण के रूप में प्रतीति कहीं नहीं होती। कामातुरपुरुष के कामिनी-साक्षात्कार की उपपत्ति प्रसंख्यान सहकृत मन की करणता से ही हो सकती है। अतएव ज्ञान के प्रति अक्लृप्त अन्य करण को स्वीकार करने में कोई हेतु नहीं है। आत्मसाक्षात्कार के प्रति प्रसंख्यान मन के सहकारी रूप से ही उपयुक्त होता है, क्योंकि भामतीकार कहते हैं कि महावाक्यार्थ की भावना के परिपाक से युक्त अन्तःकरण तत् तत् उपाधि के निषेध से त्वं पदार्थ के अपरोक्षानुभव में तत्पदार्थत्व का आविर्भाव करता है।[2] ब्रह्म-साक्षात्कार साक्षात् आगम एवं युक्ति का फल नहीं, अपितु युक्त्यागमार्थज्ञानाहितसंस्कारसचिव चित्त ही ब्रह्मसाक्षात्कारवती बुद्धिवृत्ति का समाधायक होता है।[3] जैसे गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कार-सचिव श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा षड्जादिस्वरग्राममूर्च्छनादि के भेदों का मनुष्य प्रत्यक्ष अनुभव करता है, वैसे ही वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कार-सचिव अन्तःकरण के द्वारा जीव के ब्रह्मस्वभावत्व को प्रत्यक्ष अनुभव करता है।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भामतीकार के मत में आत्मसाक्षात्कार का करण केवल प्रसंख्यान नहीं अपितु प्रसंख्यान

---

१. अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजाप्रभा। शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परः। (वे० क० १।१।२८ पृ० २१८)

२. वाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तः करणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयतीति युक्तम्। (भामती पृ० ५७)

३. सत्यं न ब्रह्मसाक्षात्कारः आगमयुक्तिफलमपितु युक्त्यागमार्थज्ञानाहितसंस्कार-सचिवं चित्तमेव ब्रह्मसाक्षात्कारवती बुद्धिवृत्तिं समाधत्ते। (भामती, पृ० ९३२)

४. यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारसचिव श्रोत्रेन्द्रियेण षड्जादिस्वर-ग्राममूर्च्छना भेदमध्यक्षमनुभवति, एवं वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारो जीवस्य ब्रह्मस्वभावमन्तः करणेनेति। (भामती पृ० ५८ तथा ९३२–३३)

सहकृत मन ही है। किन्तु विवरणकार प्रकाशात्मयति (प्रकाशात्मा) के मत में आत्मसाक्षात्कार का करण न तो प्रसंख्यान है और न ही मन। इनके मत में शब्द ही आत्मसाक्षात्कार का करण है। "तं त्वौपनिषदम्" इस श्रुति के "औपनिषदम्" पद में प्रयुक्त तद्धित-प्रत्यय के द्वारा शब्द की ब्रह्मावगतिहेतुता सुस्पष्ट है।[1] "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इस श्रुति में यह बताया गया है कि जिन्हें वेदान्त वाक्य के ज्ञान से ही अर्थ का निश्चय हो गया है उन्हें किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि (श्वेतकेतु ने) पिता के उपदेश से ब्रह्म का साक्षात्कार किया।[2] आचार्यवान् पुरुष ब्रह्म को जान लेता है।[3] विद्वान् की विदेह मुक्ति में तभी तक देर है जब तक कि उसके प्रारब्ध कर्म क्षीण नहीं हो जाते[4]; आचार्य शिष्य को अन्धकार के पार विद्यमान ब्रह्म के दर्शन करवा देता है[5]; इत्यादि अनेक श्रुतियों में आचार्य के उपदेश के अनन्तर अव्यवहित रूप से होने वाले ब्रह्मज्ञान का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य ही ब्रह्म-साक्षात्कार में करण है। ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए महावाक्य श्रवण के अतिरिक्त किसी अन्य साधन की उपयोगिता नहीं है।

यहाँ यह शंका होती है कि वेदान्त वाक्य से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान कैसे हो सकता है। शब्द सदैव परोक्ष ज्ञान का ही जनक होता है, इससे अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस शंका के समाधान में "शब्दापरोक्षवाद" के समर्थकों का यह कहना है कि जैसे इन्द्रिय के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है, क्योंकि शाब्द ज्ञान में भी अपरोक्षार्थ विषयत्व विद्यमान है।[6] इन्द्रियजन्य ज्ञान की अपरोक्षता भी विषय-स्वभाव-प्रयुक्त

---

१. एवं च "तं त्वौपनिषदम्" इति तद्धितप्रत्ययेन ब्रह्मावगतिहेतुत्वं शब्दस्य दर्शितमुपपन्नं भवति, अपरोक्षावगतेरेव सम्यगवगतित्वात्।
(पं० पा० वि०, प्र० व० पृ० ४०८)

२. तद्धास्य विजज्ञौ। (छा० ६, ७, ६)

३. आचार्यवान् पुरुषो वेद। (छा० ६।१४।२)

४. तस्य तावदेव चिरम्। (छा० ६।१४।२)

५. तमसः पारं दर्शयति। (छा० ८।२६।२)

६. इन्द्रियस्य यथा अपरोक्षज्ञानजनकत्वं एवं शब्दस्यापि तदविरुद्धम्, अपरोक्षार्थ-विषयत्वस्य शब्दज्ञानेऽपि सत्त्वात्। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०३)

है, करण-स्वभाव-प्रयुक्त नहीं। तार्किक मत में ज्ञान के अपरोक्षत्व का कारण इन्द्रिय है, क्योंकि वहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही अपरोक्ष माना जाता है।[1] किन्तु वेदान्त-मत में ज्ञान की अपरोक्षता का कारण विषय का स्वभाव है। यदि तार्किक मत के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान मानें तो अनुमिति ज्ञान को भी अपरोक्ष ज्ञान मानना होगा क्योंकि वह भी मनोजन्य होने के कारण इन्द्रियजन्य है। अतएव इन्द्रिय-जन्यत्व ज्ञान के अपरोक्षत्व में नियामक हेतु नहीं है।[2] यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान अपरोक्ष होता है तथापि मनोजन्य ज्ञान अपरोक्ष नहीं होता; क्योंकि ऐसा मानने पर इच्छादि प्रत्यक्ष की तथा शुक्तिरूप्यादि प्रत्यक्ष की व्याख्या नहीं की जा सकती।[3] मन के अतिरिक्त किसी दूसरे इच्छादिग्राहक प्रमाण को नहीं माना जा सकता और न ही मन के सहकारी रूप से प्रमाणान्तर की कल्पना की जा सकती है क्योंकि प्रमाण की प्रमाणान्तर सहकारिता कहीं दृष्ट नहीं है। वेदान्त मत में तो अहंकार एवं उसके धर्मों के प्रत्यक्ष में मन को कारण नहीं माना जाता[4], अपितु उनका प्रत्यक्ष उनके अपरोक्ष स्वभावत्व के कारण ही माना जाता है, इसलिये किसी दोष की प्रसक्ति नहीं होती। इस पर यदि शंका हो कि ज्ञान का अपरोक्षत्व यदि विषयस्वभाव-प्रयुक्त माना जाय, करणस्वभावप्रयुक्त नहीं, तो परोक्ष घटादि पदार्थों का अपरोक्ष ज्ञान कैसे सम्भव होगा तो यह भी युक्त नहीं, क्योंकि घटादि परोक्ष पदार्थों की अपरोक्षविषयता अपरोक्ष संवित् के साथ तादात्म्य के कारण उपपन्न है।[5] यदि अपरोक्ष संवित् के कारण उनका तादात्म्य स्थापित न हो तो वे सदा परोक्ष ही बने रहें, अपरोक्ष न हो सकें। संवित् स्वतः अपरोक्ष स्वभाव वाली है। "यत्साक्षादपरोक्षात्" यह श्रुति संवित् के आपरोक्ष्य में प्रमाण है। अपरोक्ष संवित् के साथ

---

१. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं ····प्रत्यक्षम्—न्या० सू० १।१।४।

२. न तावदिन्द्रियजन्यज्ञानत्वमपरोक्षत्वम् अनुमितावपि मन इन्द्रियजन्यत्वात्। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०३)

३. अतएव इन्द्रियत्वेन तज्जन्यज्ञानमपरोक्षं अनुमित्यादौ च न मनस्तथा जनकं इति प्रत्युक्तम्। इच्छादिप्रत्यक्षे शुक्तिरूप्यादि प्रत्यक्षे च तद्भावात्। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०३)

४. सिद्धान्ते अहङ्कारतद्धर्मप्रत्यक्षे तदभावात्। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०३)

५. अर्थस्य घटादेश्चानपरोक्षस्वभावस्याप्यपरोक्षसंवित्तादात्म्यादपरोक्षत्वम्। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०५)

तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित हो जाने से परोक्ष वस्तु भी अपरोक्ष बन जाती है। यहाँ संवित् शब्द से अभिव्यक्त चैतन्य ही विवक्षित है, चैतन्यमात्र नहीं, अतएव कुड्यादि व्यवहित तथा अनुमित घटादि के साथ चैतन्य का अभेद होने पर भी उसका अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता।[1] इसी तरह व्यवहित तथा अनुमित घटादि के ज्ञान में घटावच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमात्रवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने पर भी संवित् (अभिव्यक्त चैतन्य) के अभाव से घटादि का अपरोक्ष नहीं हो पाता।

इस पर यदि शंका हो कि यदि विषय के अपरोक्ष स्वभावत्व के कारण ज्ञान की अपरोक्षता मानी जाय तो अपरोक्ष विषयक अनुमितिज्ञान को भी अपरोक्ष मानना होगा, तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वेदान्त मत में अपरोक्षवस्तुविषयक अनुमितिज्ञान को भी अपरोक्षवस्तु-विषयक शाब्दज्ञान के समान ही अपरोक्ष माना जाता है। इसी कारण पर्वतांश में होने वाली अनुमिति को "मैं साक्षात्कार करता हूँ" इस रूप में अनुभव किया जाता है।[2] इस पर यदि कहें कि अनुमान से भी अपरोक्ष ज्ञान मानने पर आत्मविषयक अनुमान से ही आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर अविद्या की निवृत्ति माननी होगी, तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि अखंड अद्वैतानन्द ब्रह्मसत्ता निर्णयरूप अनुमान अनुकूल तर्क के अभाव से संभव नहीं है।[3] भेद विषयक श्रुतियों के साथ विरोध होने के कारण उस लघु अनुमितिज्ञान से ही ब्रह्मस्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता। अखंड ब्रह्म ज्ञान ही अविद्या निवृत्ति में समर्थ है। आगम से ब्रह्मसिद्धि के पूर्व प्रकारान्तर से ब्रह्मविषयक अनुमान सम्भव नहीं। "तं त्वौपनिषदम्" "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इत्यादि श्रुतियों में भी शाब्द साक्षात्कार को ही मुक्ति का हेतु कहा गया है।[4] इस पर यदि शंका हो कि निदिध्यासन से ही अपरोक्ष ज्ञान सम्भव है,

---

१. संविदिति चात्राभिव्यक्तचैतन्यमेव विवक्षितम्; न तु चैतन्यमात्रम्। अतएव व्यवहितघटादेस्तदभेदेऽपि नापरोक्षत्वम्। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०५)

२. नन्वेवमपरोक्षविषयानुमितेरपि अपरोक्षत्वं स्यादिति चेत्, सत्यम्—शाब्द-ज्ञानवत् तस्या अपि अपरोक्षविषयतया अपरोक्षत्वात्। अतएव पर्वतांशे अनुमितिः साक्षात्करोमीत्यनुभूयते। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०६)

३. न चैवमात्मानुमानादप्यविद्यानिवृत्तिप्रसंगः अखण्डाद्वैतानन्द ब्रह्मसत्तानिर्णय-रूपानुमितेरनुकूलतर्काभावेन असम्भवात्। (वि० भा० प्र० पृ० ४०६)

४. "तं त्वौपनिषदम्" "वेदान्तविज्ञान" इत्यादि वाक्याच्छाब्दसाक्षात्कारस्यैव मुक्तिहेतुत्वावगमाच्च। (वही)

अतः शब्द के द्वारा ब्रह्मापरोक्षज्ञान को मानने की कोई आवश्यकता नहीं, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ब्रह्म को "औपनिषद" अर्थात् उपनिषद का विषय कहा गया है। इस पर यदि कहा जाय कि परोक्ष प्रत्यय का हेतु मानने पर भी "औपनिषद" शब्द में प्रयुक्त तद्धित प्रत्यय की संगति लग जाती है, तो यह भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि अपरोक्ष स्वभाव वाले ब्रह्म के विषय में परोक्ष ज्ञान के भ्रमात्मक होने के कारण परोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने वाले शब्द के अप्रामाण्य की प्रसक्ति होगी।[1] ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है। अतएव शब्द का प्रामाण्य अपरोक्ष स्वभाव वाले ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने में ही हो सकता है। यदि शंका हो कि शब्द के परोक्ष ज्ञान जनक होने के कारण वेदान्त वाक्य भी परोक्षज्ञानजनक ही होगा और यदि वेदान्त वाक्य की परोक्ष-ज्ञानजनकता के सम्बन्ध में यह अनुमान प्रस्तुत किया जाय कि "वेदान्तः परोक्षज्ञानजनकः वाक्यत्वात् सम्मतवत्", तो यह भी युक्त नहीं, क्योंकि उक्तानुमान में आगम ही बाधक है।[2] किंच "दशमस्त्वमसि" इस वाक्य में व्यभिचार दृष्ट है क्योंकि उक्त स्थल में शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसलिए "वाक्यत्वात्" इस हेतु के व्यभिचार युक्त होने के कारण यह हेत्वाभास है, अतः साध्यसाधन में असमर्थ है। यहाँ यह भी नहीं कहते कि दशमत्वरूपी ज्ञान इन्द्रियजन्य है, शब्द जन्य नहीं; क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के बन्द होने पर भी यह ज्ञान होता है। यदि कहे कि चक्षुरिन्द्रिय के बन्द होने पर भी त्वगिन्द्रिय के व्यापार से ही यह ज्ञान होता है, अतः इसे इन्द्रियजन्य क्यों न माना जाय, तो यह भी युक्त नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर "दशमस्त्वमसि" इस वाक्य के सुनने के पूर्व भी इन्द्रिय-व्यापार से यह ज्ञान होना चाहिये था, किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः सिद्ध होता है कि यह वाक्य ही अपरोक्ष ज्ञान का जनक है, इन्द्रिय नहीं।[3] यहाँ यह शंका भी समुचित नहीं कि उपर्युक्त

---

१. अपरोक्षस्वभावे वस्तुनि परोक्षज्ञानस्य विभ्रमत्वात् तज्जनकत्वे शब्दस्याप्रामाण्यं स्यादित्यर्थः। (वि० ता० जी०, पृ० ४०९)

२. एवं वेदान्तः परोक्षज्ञानजनकः वाक्यत्वात्, सम्मतवत् इत्यनुमाने आगमबाधो दर्शितः। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०९)

३. किंच दशमस्त्वमसीति वाक्ये व्यभिचारः। न च तत्रेन्द्रियमेवापरोक्षज्ञानमुत्पादयति निमीलिताक्षस्यापि त्वगिन्द्रियव्यापार सम्भवादिति वाच्यम्, तच्छब्दश्रवणात् प्रागपि तत्प्रसंगात्। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०९)

वाक्य से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को परोक्ष ही क्यों न माना जाय; क्योंकि अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति में अपरोक्ष ज्ञान ही समर्थ है, परोक्ष ज्ञान नहीं।[1] अतएव शब्द को अपरोक्ष ज्ञान का हेतु मानना आवश्यक है।

मन को आत्मसाक्षात्कार का करण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी करणता का निषेध अनेक श्रुतियों में उपलब्ध होता है। "यन्मनसा न मनुते" (केन १।६) यह श्रुति स्पष्ट रूप से ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति मन की करणता का निषेध करती है। यदि कहें कि मन की करणता का निषेध अपरिपक्वमन-विषयक ही है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि "येनाहुर्मनो मतम्" इस वाक्य शेष में सामान्य मन का ही ग्रहण है, अपरिपक्व मन का नहीं। इस पर यदि शंका हो कि "यद्वाचाऽनभ्युदितम्" (केन १।५) इस श्रुति में शब्द की करणता का भी निषेध है, तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस निषेध का "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै० २।४) इस श्रुति के अनुरोध से शब्द की अर्थप्राप्ति रूपासक्ति के निषेध के द्वारा शब्दनिष्ठ-साक्षात्कार के निषेध में ही तात्पर्य है। ऐसा मानना होगा। इसलिए शक्यसम्बन्धरूप लक्षण से शब्द में ब्रह्मसाक्षात्कार की करणता का निषेध नहीं है।[2] "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" इस श्रुति से सिद्ध मन की करणता की उपपत्ति शब्द के सहायक रूप में भी हो सकती है, क्योंकि शब्द से साक्षात्कार के उत्पादन में मन की एकाग्रता की अपेक्षा होती ही है। 'मनसा ह्येष पश्यति" इत्यादि स्थल में चाक्षुषज्ञान में मन की करणता के अभाव में भी केवल हेतुत्वरूप से तृतीया का प्रयोग उपलब्ध होता है। उसी प्रकार यहाँ भी शब्द के सहकारी रूप में ही मन का हेतुत्व उपपन्न है। मधुसूदन सरस्वती ने भी शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को संभव माना है। उन्होंने वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तबिन्दु तथा अद्वैतसिद्धि में "शब्दापरोक्षवाद" का समर्थन किया है। खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, पंचदशी तथा संक्षेपशारीरक इत्यादि ग्रन्थों में भी "शब्दापरोक्षवाद" का समर्थन किया गया है। इन सभी के मत में महावाक्यश्रवण ही आत्मसाक्षात्कार का करण है। श्रुतियों में भी

---

१. न च तत्र परोक्षज्ञानमेव न त्वपरोक्षज्ञानमिति वाच्यम्, अपरोक्षभ्रमाज्ञानानिवृत्तिप्रसंगात्। (वही)

२. शक्यसम्बन्धरूपलक्षणामुखेन तस्य तत्करणत्वाविरोधात्।
(सि० ले० सं०, पृ० ४७३)

वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान को ही आत्मसाक्षात्कार का करण माना गया है। "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मु० उ० ३।२।६); "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ०उ० ३।९।२६); "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (शा०उ० ४), "योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि" (प्रश्न ६।८); "तमसः पारं दर्शयति" (छा० ७।२।२६) इत्यादि श्रुतियों में आचार्य द्वारा श्रुत वेदान्तवाक्य को ही ब्रह्मज्ञान का साधन कहा गया है।[1]

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी विवरणप्रस्थान के समान ही "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" (बृ०उ०, ३।९।२६) इस श्रुति तथा शास्त्रयोनित्वात् (ब्र०सू०, १।१।३) इस सूत्र के आधार पर आत्मसाक्षात्कार के प्रति उपनिषद्वाक्य को ही करण माना है[2], मन को नहीं। उनका कथन है कि भावनोपचित चित्त कैवल्य का कारण नहीं बन सकता, क्योंकि वाक्यार्थज्ञान के उत्पन्न होते ही अज्ञान के नष्ट हो जाने से तज्जन्य चित्त का भी समुच्छेद हो जाता है।[3] "यन्मनसा न मनुते" इस श्रुति में भी मन के करणत्व का निषेध किया गया है। इस पर यदि कहें कि "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" यह श्रुति ब्रह्मसाक्षात्कार में मन के ही असाधारण कारणत्व का बोध करवाती है तो यह उचित नहीं; क्योंकि इससे मन के साधारणकारणत्व का ही समर्थन होता है—असाधारणकारणत्व का नहीं। आभास प्रस्थान के अनुसार आत्म या अनात्मा सभी प्रकार के पदार्थों के विज्ञान में मन का साधारणकारणत्व ही स्वीकृत है, असाधारण कारणत्व नहीं।[4]

सुरेश्वराचार्य शब्द शक्ति को अचिन्त्य एवं अपरिमित माहात्म्य-सम्पन्न स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे "देवदत्तोत्तिष्ठ" यह बोधक शब्द सुषुप्त देवदत्त को विषय बनाये बिना ही देवदत्तगत निद्रा

---

१. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ५३३।

२. आस्वेवोपनिषत्स्वेनं यतो व्याचक्षते बुधाः।
कर्मकाण्डे विरोधित्वान्नैवैनं व्याचचक्षिरे॥
त्वं त्वौपनिषदं धीरा ब्रह्मात्मानं प्रचक्षते॥
(बृ० उ० भा० वा०, ३।९।११५–१६)

३. भावनोपचितो चेतो न कैवल्यकारणम्।
तस्यैहैव समुच्छेदात्तद्धेत्वज्ञानहानतः॥ (बृ० उ० भा० वा०, २।४।२०५)

४. आत्मानात्मपदार्थेषु विज्ञानोत्पत्तिसाधनम्।
मनः साधारणं दृष्टं सर्वज्ञानैकहेतुतः॥ (वही, ४।४।६५०)

का बाध कर देता है, उसी प्रकार तत्त्वमस्यादि शब्द आत्मा को विषय बनाये बिना ही आत्मगत अविद्या का बाध कर देता है।[1] इस प्रकार हमने देखा कि विवरणप्रस्थान तथा वार्तिकप्रस्थान के अनुसार शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति संभव है और वेदान्त वाक्य रूपी शब्द ब्रह्मसाक्षात्कार का करण है।

किन्तु भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने शब्द की अपरोक्षज्ञान जनकता का खण्डन किया है। उनके मत में मीमांसासहित शब्द भी आत्मसाक्षात्कार के प्रति करण नहीं बन सकता, क्योकि साक्षात्कार प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल है शब्द का नहीं। जिस प्रकार कुटज बीज से वटाङ्कुर की उत्पत्ति संभव नहीं; उसी प्रकार शब्द से, जो सदैव परोक्ष ज्ञान का ही जनक होता है, अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[2] "दशमस्त्वमसि" इत्यादि स्थल में भी शब्द-सहकृत चक्षुरिन्द्रिय से ही दशमत्व का अपरोक्ष ज्ञान (साक्षात् ज्ञान) होता है; चक्षुरिन्द्रियशून्य अन्धे को परोक्ष ज्ञान ही होता है।[3] यदि यह मान भी लें कि शब्द-श्रवण से अन्धे को यह अपरोक्ष ज्ञान होता है कि मैं दशम हूं, तो वहाँ स्पर्शनेन्द्रिय त्वचा के द्वारा ही यह ज्ञान हो पाता है, केवल शब्द से नहीं यह समझना चाहिए। "दशमोऽहमस्मि" इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान अन्तः करण से भी सम्भव है। यदि यह ज्ञान शरीर विषयक हो तो स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा अन्यथा ज्ञानान्तरसहित अन्तः करण के द्वारा ही संभव है।[4] अतः "दशमस्त्वमसि" इत्यादि स्थल में भी इन्द्रिय ही साक्षात्कार में समर्थ है, शब्द नहीं। इस प्रकार शब्द की साक्षात्कार-ज्ञानजनकता कहीं भी दृष्ट नहीं है। शब्द स्वभावतः परोक्ष ज्ञान का

---

१. बृ० उ० भा० वा०, १।४।८५८-६२; नैं० सि० २।४; तथा अ० सि० पृ० ७३९।

२. न चैष साक्षात्कारो मीमांसासहितस्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलं, अपितु प्रत्यक्षस्य; तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। अन्यथा कुटजबीजादपि वटाङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात्। (भामती, पृ० ५७)

३. दशमस्त्वमसीत्यत्रापि तत्सचिवादक्षादेव साक्षात्कारः, अन्धादेस्तु परोक्षधीरेव। (वे० क०, पृ० ५६)

४. दशमोऽहमसीत्यपरोक्षज्ञानम् अन्तःकरणेन संभवति, शरीरविषयं चेत् स्पर्शनेन्द्रियेण वा ज्ञानान्तरोपनयसहितान्तःकरणेन वा संभवति। (वे० क० प०, पृ० ५६)

जनक है, अतः उससे अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। किन्तु अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के बिना अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती। रज्जुसर्प आदि स्थल में तो आप्तवाक्य से भी भ्रम की निवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि वहाँ भ्रम सोपाधिक नहीं। सोपाधिक भ्रमस्थल में शब्द के द्वारा भ्रम निवृत्ति सम्भव नहीं। दिङ्मोह, अलातचक्र, चलद्वृक्ष, मरुमरीचिसलिल आदि स्थल में अपरोक्ष ज्ञान ही भ्रम के निवर्तन में समर्थ होता है। शब्द या अनुमान से दिगादिविषयक परोक्ष ज्ञान होने पर भी दिङ्मोहादि की निवृत्ति नहीं होती।[१] अतएव अहंकारोपाधिक आत्मस्वरूप भ्रमस्थल में ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान ही भ्रम का निवारक बन सकता है। 'त्वम्" पदार्थरूप जीव के दुःखित्व, शोकत्व, मोहत्व आदि की निवृत्ति के लिए "तत्" पदार्थरूप ब्रह्म का साक्षात्कार आवश्यक है। बिना इसके आत्मविषयक भ्रम ज्ञान की निवृत्ति सम्भव नहीं।[२]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार अन्तःकरण के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार संभव है, शब्द के द्वारा नहीं। यद्यपि आत्म-साक्षात्कार में शब्दज्ञान की भी उपयोगिता है तथापि शब्दज्ञान को आत्म-साक्षात्कार का कारण नहीं माना जा सकता। वे कहते हैं कि निर्विचिकित्स वाक्यार्थ की भावना से अन्तःकरण का परिपाक होता है और परिपक्व अन्तःकरण ही अपरोक्ष "त्वम्" पदार्थ के तत्तदुपाधि के निषेध के द्वारा "तत्" पदार्थ रूप ब्रह्म का अनुभव करवाता है।[३] भामतीकार ने स्थान-स्थान पर अन्तःकरण को ही ब्रह्मसाक्षात्कार का करण स्वीकार किया है। यद्यपि वे

---

१. साक्षात्काररूपो हि विपर्यासः साक्षात्काररूपेणैव तत्त्वज्ञानेनोच्छिद्यते, न तु परोक्षावभासेन; दिङ्मोहालातचक्रचलद्वृक्षमरुमरीचिसलिलादिविभ्रमेष्वपरोक्षावभासिषु अपरोक्षावभासिभिरेव दिगादितत्त्वप्रत्ययैर्निवृत्तिदर्शनात्, नो खल्वाप्तवचनलिङ्गादिविनिश्चितदिगादितत्त्वानां दिङ्मोहादयो निवर्तन्ते।
(भामती, पृ० ५५)

२. तस्मात् 'त्वं' पदार्थस्य 'तत्' पदार्थत्वेन साक्षात्कार एषितव्यः। एतावता हि त्वंपदार्थस्य दुःखित्वशोकित्वादिसाक्षात्कारनिवृत्तिः, नान्यथा।
(भामती, पृ० ५५)

३. तस्मात् निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तः करणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयतीति युक्तम्।
(भामती, पृ० ५७)

ब्रह्मसाक्षात्कार में "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों की उपयोगिता का भी अपलाप नहीं करते और उनकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं, तथापि वे उन्हें अन्तःकरण के संस्कार के लिये ही उपयोगी मानते हैं, स्वतन्त्र रूप में नहीं। संस्कृत अन्तःकरण ब्रह्मसाक्षात्कार में समर्थ होता है। उसे किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। वेदान्तवाक्यार्थ-ज्ञान के अभ्यास से चित्त का कालुष्य मिट जाता है और वह ब्रह्मस्वरूप के प्रत्यक्ष में समर्थ बन जाता है। जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के तिमिर-दोष से दूषित रहने पर विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता है और औषधि प्रयोग से उस दोष के निवृत्त होते ही विषय का प्रत्यक्ष चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा होने लगता है; उसी प्रकार वेदान्तवाक्य से कालुष्य के दूर होते ही निर्मल अन्तःकरण के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। जैसे तिमिरदोष निवारणार्थ औषधि की उपयोगिता का निषेध नहीं किया जा तथापि औषधि को ही प्रत्यक्षज्ञान का जनक नहीं माना जा सकता; वैसे ही प्रकृतस्थल में भी वाक्यार्थज्ञान की उपयोगिता को स्वीकार करने पर भी उसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार का करण नहीं माना जा सकता। ब्रह्म-साक्षात्कार का करण तो अन्तरिन्द्रिय रूप मन को ही माना जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रह्मसाक्षात्कार में भामतीकार शब्द की उपयोगिता को भी स्वीकार करते हैं। किन्तु विवाद प्रधानता के संबंध में है। शब्द को ब्रह्मसाक्षात्कार का करण मानने वाले विवरण तथा वार्तिकमतानुयायी शब्द को ही ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रधान कारण स्वीकार करते हैं; जबकि भामतीकार शब्द की उपयोगिता केवल अन्तःकरण के संस्कार के लिये ही मानते हैं। शंकराचार्य ने भी गीताभाष्य (२।२१) में शास्त्राचार्योपदेश तथा शमदमादि से संस्कृत मन को आत्म-दर्शन में करण बताया है।[1] भामतीकार शब्द के द्वारा अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति के सिद्धान्त को नहीं मानते। किन्तु वेदान्तवाक्यजन्य भावनायुक्त अन्तःकरण को साक्षात्कार का करण स्वीकार करने में यह शंका होती है कि भावनाजन्य साक्षात्कार के समान भ्रम ज्ञान क्यों न माना जाय। यदि कहें कि अन्तःकरण के करण होने के कारण भावना-जन्य साक्षात्कार को भ्रमरूप नहीं माना जाता, तो प्रश्न है कि शुक्ति-रजतादि भ्रमस्थल में भी तो अन्तःकरण करण रहता है फिर उसे भ्रम-रूप क्यों माना जाता है? उपर्युक्त शंका के समाधान में कल्पतरुकार

---

१. उक्तं च गीताविवरणे भाष्यकारैः—शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने कारणमिति। वे० क० प०, पृ० ५५

का कथन है कि भावनाजन्य ब्रह्म-साक्षात्कार को कामिनी-साक्षात्कार के समान भ्रमरूप इसलिये नहीं मान सकते कि इसमें वेदान्त वाक्यरूप मूल प्रमाण की दृढ़ता विद्यमान है। वेदान्त वाक्यों के अप्रामाण्य की शंका कथमपि नहीं की जा सकती। ये वाक्य स्वतः प्रमाण रूप हैं। इन वाक्यों के निरन्तराभ्यास से उत्पन्न संसार को भ्रमोत्पादक नहीं माना जा सकता।[1]

ब्रह्म-साक्षात्कार में मन की करणता श्रुतिसिद्ध है। "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः", (मु० उ० ३।१।९) दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया (कठ० ३।१२) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति मन की करणता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन कर रही हैं। "अहमेवेदं सर्वं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः" (बृ० उ० ४।३।२०) इस श्रुति से प्रतिपादित स्वप्नकालीन निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार के प्रति मन को ही करण माना गया है, क्योंकि स्वप्नकाल में मन के अतिरिक्त कोई अन्य कारण नहीं रहता। "ज्ञान-प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मु० उ० ३।१।८) इस श्रुति में भी "ज्ञान प्रसाद" शब्द से विवक्षित चित्त की एकाग्रता के प्रति हेतुरूप से ही ध्यानशब्द का प्रयोग किया गया है। केवल प्रसंख्यान आत्मसाक्षात्कार में करण नहीं है, क्योंकि ज्ञान के करण के रूप में कहीं भी उसकी प्रतीति नहीं होती। कामातुर पुरुष के कामिनी-साक्षात्कार की प्रसंख्यानसहकृत मन की करणता से ही उपपत्ति सम्भव है, अतः ज्ञान के प्रति अक्लृप्त अन्य करण को स्वीकार करना सर्वथा निरर्थक है।[2]

इस सम्बन्ध में सिद्धान्तलेशसंग्रहकार अप्पयदीक्षित का कथन है कि सोपाधिक आत्मा के अहमाकारवृत्तिरूप प्रमात्मक साक्षात्कार के प्रति मन की करणता लोकप्रसिद्ध है। विवरणकार ने भी सोपाधिक आत्मसाक्षात्कार के प्रति मन की करणता को स्वीकार किया है। प्राति-भासिक स्वप्न प्रपंच के विपरीत व्यावहारिक प्रमाता आदि पदार्थों के

---

१. वेदान्तवाक्यजज्ञानभावनाजाऽपरोक्षधीः।
मूलप्रमाणदार्ढ्येन न भ्रमत्वं प्रपद्यते॥ (वे० क०, पृ० ५६)

२. न तु प्रसंख्यानं स्वयं कारणम्, तस्य क्वचिदपि ज्ञानकरणत्वाक्लृप्तेः। कामातुरकामिनीसाक्षात्कारादावपि प्रसंख्यानसहकृतस्य मनस एव करणत्वोप-पत्त्याऽक्लृप्तज्ञानकरणान्तरकल्पनायोगादित्याहुः। (सि० ले० सं०, पृ० ४७१)

ज्ञान के प्रति उन्होंने अन्तःकरण को ही साधन माना है।[1] स्वप्नकालीन निर्गुण ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति भी मन को ही करण माना गया है, क्योंकि स्वप्नकाल में मन के अतिरिक्त कोई अन्य करण नहीं रहता। कभी-कभी स्वप्न में यह अनुभव होता है कि सब वस्तुओं में सद्रूप से अनुभूयमान 'ब्रह्म मैं ही हूँ' इस स्वप्नकालीन अनुभव का करण मन ही हो सकता है। अतएव जाग्रदवस्था में भी विद्योदय होने पर ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति मन को ही करण मानना युक्तियुक्त है।[2] इस प्रकार सिद्धान्त-लेशसंग्रह में ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति मन की करणता के सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। कल्पतरुपरिमल में "शब्दापरोक्ष-वाद" का खण्डन करते हुए अप्पयदीक्षित का कथन है कि यदि शब्द के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान सम्भव होता तो ब्रह्म के अपरोक्षस्वभाव होने के कारण ब्रह्मविषयक शब्दजन्य ज्ञान भी अपरोक्ष होता। परिमाणतः वेदान्त-श्रवण के अनन्तर ही पुरुष को ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता तथा भ्रमज्ञान की निवृत्ति हो जाती। किन्तु ऐसा होता नहीं। अतः शब्द के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी जा सकती।[3]

इस प्रकार हमने देखा कि ब्रह्मसाक्षात्कार के करण के सम्बन्ध में भामतीप्रस्थान तथा विवरणप्रस्थान में मतभेद है। विवरण प्रस्थान में शब्द को ब्रह्मसाक्षात्कार का करण माना गया है तथा "शब्दापरोक्ष-वाद" का समर्थन किया गया है। इस प्रस्थान में ज्ञान की अपरोक्षता को करणस्वभावप्रयुक्त न मान कर विषयस्वभावप्रयुक्त माना गया है। आत्मस्वरूप ब्रह्म के अपरोक्षस्वभाव होने के कारण ब्रह्मविषयक शाब्द-बोध को भी अपरोक्ष माना जाता है। इसके विपरीत भामतीप्रस्थान

---

१. "स्वप्नप्रपञ्चविपरीतप्रमात्रादिज्ञानसाध्यस्यान्तःकरणस्य" इत्यादि पञ्चपादिकाविवरणग्रन्थैरपि तथा प्रतिपादनात्। (सि० ले० सं०, पृ० ४७०)

२. "अहमेवेदं सर्वं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः" इति श्रुत्युक्ते स्वप्ने ब्रह्मसाक्षात्कारे मनस एव करणत्वसंप्रतिपत्तेश्च; तदा करणान्तराभावात्। (सि० ले० सं०, पृ० ४७१)

३. यदि ब्रह्म स्वतोऽपरोक्षमिति तद्विषयशब्दजन्यमपि ज्ञानमपरोक्षं भवेत्, तदा श्रवणजन्यज्ञानमप्यपरोक्षमिति श्रुतवेदान्तस्य पुंसः तस्मिन् पारोक्ष्यभ्रमानुवृत्तिर्न स्यात्। अनुवर्तते च तदनन्तरमपि भ्रमगृहीतं ब्रह्मणि पारोक्ष्यमिति न शब्दादपरोक्षज्ञानम्। (वे० क० प०, पृ० ५५)

में शब्दापरोक्षवाद को नहीं माना जाता। इस प्रस्थान के अनुयायियों का यह मत है कि शब्द में संसर्गात्मक एवं परोक्षात्मक ज्ञान को ही उत्पन्न करने की शक्ति है, अतएव शब्द से कभी भी असंसर्गात्मक एवं अपरोक्षात्मक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति तो ज्ञान के करण इन्द्रिय के द्वारा ही सम्भव है। आत्मा के साथ बहिरिन्द्रियों का सम्बन्ध न होने से आत्मसाक्षात्कार का करण अन्तरिन्द्रियरूप मन ही हो सकता है।

किन्तु विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि आत्मा के स्वयंप्रकाश होने के कारण इसे प्रकाशित करने के लिए किसी साधन या करण की आवश्यकता नहीं है। यदि घटपटादि पदार्थों के समान आत्मा को भी प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश या साधन की आवश्यकता मानी जाय तो यह स्वयंप्रकाश न रहे और अन्याधीनप्रकाश होने के कारण घटपटादि पदार्थों के समान आत्मा के भी जड़त्व की प्रसक्ति हो जाय। अतएव प्रकाश स्वरूप आत्मा को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं मानी जा सकती। स्वयंप्रकाश आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए किसी प्रमाण या साधन की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है केवल अज्ञानावरण को दूर करने की। आवरण को दूर करने में ही साधनों की उपयोगिता है। आवरण के दूर होते ही आत्मज्योति के दर्शन हो जाते हैं, जैसे आकाश से मेघ के हटते ही प्रकाशमान सूर्य का दर्शन हो जाता है। परमार्थतः आत्मा स्वयंप्रकाश होने के कारण किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है। इसीलिए श्रुतियों में आत्मा या ब्रह्म को ''अप्रमेय'' कहा गया है।

●

दशम अध्याय

उपसंहार

भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान के तुलनात्मक अध्ययन के प्रसंग में हमने यह देखा कि भामतीप्रस्थान के अनेक सिद्धान्तों पर मण्डन मिश्र का प्रभाव पड़ा है, जबकि विवरण प्रस्थान के सिद्धान्तों पर सुरेश्वाचार्य का। जैसा हम देख चुके हैं मण्डन मिश्र ने अविद्या के आश्रय और विषय में भेद माना है। वे जीव को अविद्या का आश्रय तथा ब्रह्म को अविद्या का विषय मानते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी जीव को अविद्या का आश्रय तथा ब्रह्म को अविद्या का विषय माना है। मण्डन मिश्र ने ब्रह्म के कल्पनाशून्य होने में उसकी विद्यात्मकता को कारण बताया है। वाचस्पति मिश्र ने भी ब्रह्म के अज्ञानाश्रयत्व का खण्डन उसकी विद्यात्मकता के आधार पर ही किया है। जीव को अविद्या का आश्रय मानने में जो इतरेतराश्रयत्वरूप दोष उत्पन्न होता है उसका निराकरण मण्डन मिश्र ने बीज और अंकुर के दृष्टान्त से किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी इसी दृष्टान्त के आधार पर उपर्युक्त दोष का निराकरण किया है। किन्तु सुरेश्वराचार्य अविद्या के आश्रय तथा विषय के भेद को नहीं मानते। इनके मत में ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। ब्रह्म और अविद्या में आश्रयाश्रयी तथा विषयविषयी-भाव सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अनादि एवं नैसर्गिक है। अविद्या आत्मा की सर्जनात्मिका शक्ति है अतः आत्मा अविद्या से सदैव सम्बद्ध रहता है।[1] विवरण-प्रस्थान में भी अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म को ही माना गया है तथा अविद्या के आश्रय और विषय के भेद का निराकरण किया गया है। विवरणकार का कथन है कि अविद्या आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा नहीं रखती। जैसे अन्धकार अपने आश्रयभूत प्रदेश का आवरण स्वयं करता है वैसे ही अविद्या भी अपने आश्रय के आवरण में समर्थ है। चित्सुखीकार का कथन है कि अविद्या के सम्बन्ध के बिना ईश्वर का सर्वज्ञत्व भी संभव न हो सकेगा। शंकराचार्य ने भी मायोपाधि से युक्त ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को ही सर्वज्ञत्व आदि

---

१. बृ० उ० भा० वा०, अ० ४, ब्रा० ३ वा० १७८४–८५।

लक्षण वाला कहा है।[1]

मण्डन मिश्र ने अनेक जीववाद के समर्थन के निमित्त मूलाविद्या के नानात्व का प्रतिपादन किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी अनेकजीववाद के समर्थन के लिये मूलाविद्या के नानात्व को स्वीकार किया है। मूला-विद्या के नानात्व के समर्थन में उनका यह तर्क है कि यदि मूलाविद्या एक होती तो एक जीव में विद्या का उदय हो जाने से समस्त जीवों की अविद्या दूर हो जाती और सभी जीव मुक्त हो जाते। किन्तु ऐसा होता नहीं है। जिस जीव में विद्या उत्पन्न होती है उसी की अविद्या नष्ट होती है जीवान्तर की नहीं; क्योंकि भिन्न अधिकरण में रहनेवाली विद्या और अविद्या में विरोध नहीं है।[2] वे कहते हैं कि अविद्या के नाना होने पर भी अविद्यात्वसामान्य से इसके लिये किया गया एकत्व का प्रयोग औपचारिक है।[3]

इसके विपरीत विवरणकार मूलाविद्या के नानात्व पक्ष को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने मूलाविद्या के एकत्व को ही माना है। यद्यपि मूला-ज्ञान एक ही है, तथापि इसकी अवस्थाएँ अनेक हैं। मूलाज्ञान के अवस्था भेद ही अनिर्वचनीय रजतादि के उपादान बनते हैं, तथा शुक्तिकादि के ज्ञान से निवृत्त हो जाते हैं।[4] मूलाज्ञान को एक मानने पर भी प्रतिजीव में रहने वाले अज्ञान के अवस्थाभेद को मानकर (अथवा मूलाविद्या को सांश मानकर) विवरण प्रस्थान में जीवों के बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था का उपपादन किया गया है।[5]

वस्तुतः अविद्या के नानात्व को माने बिना जीव के नानात्व की उप-पत्ति नहीं हो सकती। जीव के नानात्व के उपपादन के लिये अविद्या के नानात्व को मानना ही होगा। भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान

---

१. "मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः"। (वाक्य वृत्ति)

२. तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पन्ना तस्यैवाविद्यापनीयते न जीवान्तरस्य; भिन्ना-धिकरणयोर्विद्याविद्ययोरविरोधात्। (भामती, १।४।३, पृ० ३७७-७८)

३. अविद्यात्वमात्रेण च एकत्वोपचारः,
अव्यक्तमिति च अव्याकृतमिति च। (वही)

४. मूलाज्ञानस्यैव अवस्थाभेदाः रजताद्युपादानानि
शुक्तिकादिज्ञानैः सहाध्यासेन निवर्तन्ते इति कल्प्यताम्।
(पं० पा० वि०, पृ० ९८-९९)

५. सि० ले० सं०।

दोनों में जीव के नानात्व को स्वीकार किया गया है। भामतीकार ने जीव के नानात्व के उपपादन के लिये मण्डन मिश्र के समान अविद्या के नानात्व को स्वीकार किया है। किन्तु विवरणकार ने मूलाविद्या के एकत्व को स्वीकार करते हुए भी उसके अवस्था-भेद को स्वीकार किया है। इस प्रकार दोनों ही प्रस्थानों में जीव के नानात्व के उपपादन के लिये अविद्या के नानात्व (भेद) को किसी न किसी तरह माना ही गया है।

मण्डन मिश्र शाब्द ज्ञान को सम्बन्धात्मक एवं परोक्षात्मक मानते हैं। उनके मत में "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों से उत्पन्न ज्ञान ब्रह्म-साक्षात्कार में समर्थ नहीं है। श्रवणानन्तर मनन तथा प्रसंख्यान के द्वारा ही शाब्दज्ञान की परोक्षता तथा सम्बन्धात्मकता दूर होती है और ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव होता है। उनके मत में "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" यह श्रुति इसी सिद्धान्त का समर्थक है तथा "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" (मु० ३।१।८) यह श्रुति भी प्रत्ययाभ्यासरूप प्रसंख्यान या ध्यान को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण बता रही है।

वाचस्पति मिश्र ने भी ध्यान को ही साक्षात्कार का कारण माना है।[1] वे० कल्पतरुकार अमलानन्द का कथन है कि वाचस्पति मिश्र ध्यान से उत्पन्न प्रमा को ही शास्त्र-दृष्टि मानते हैं और बादरायण का "अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (ब्र० सू० ३।२।२४) यह सूत्र भी इस पक्ष का समर्थन कर रहा है।[2] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने साक्षात्कार को ध्यान का फल बताते हुए मण्डन मिश्र के प्रसंख्यान विषयक सिद्धान्त का समर्थन किया और प्रसंख्यान को ब्रह्म-साक्षात्कार में मन का सहकारी कारण स्वीकार किया है।[3] उनका कथन है कि

१. "ध्यानस्य हि साक्षात्कारः फलम् साक्षात्कारश्चोत्सर्गतः तत्त्वविषयः"
—भामती, पृ० २२० तथा ध्यानाभ्यास-परिपाकेन साक्षात्कारो विज्ञानम्,
भामती, पृ० २२२।

२. अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पति परः॥
(वे० क० १।१।२८, पृ० २१८)

३. न चैष साक्षात्कारो शब्दस्य प्रमाणस्य फलम्
अपितु प्रत्यक्षस्य, तस्यैव तत्फलत्वनियमात्।
अन्यथा कुटजबीजादपि वटांकुरोत्पत्तिप्रसंगात्।
(भामती १।१।१, पृ० ५५-५७)

ब्रह्मसाक्षात्कार आगम (श्रुति-शब्द) और युक्ति का फल नहीं; अपितु युक्त्यागमार्थ ज्ञानाहित संस्कार से युक्त चित्त ही ब्रह्मसाक्षात्कार में समर्थ है।[१]

सुरेश्वराचार्य ने मण्डन मिश्र के इस मत का तीव्र खण्डन किया है। नैष्कर्म्यसिद्धि तथा वार्तिक ग्रन्थों में उन्होंने ब्रह्मसाक्षात्कार को उपनिषद्-वाक्यजन्य सिद्ध किया है। "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" (बृ० उ० ३।९।२६) इस श्रुति तथा "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।३) इस सूत्र के आधार पर ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति उपनिषद्-वाक्य को करण माना है, मन को नहीं।[२]

विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भी आत्मसाक्षात्कार का करण उपनिषद्-वाक्य (शब्द) को ही माना है। उनका कथन है कि "तं त्वौपनिषदम् पुरुषम्" इस श्रुति में "औपनिषद्" शब्द में प्रयुक्त तद्धित प्रत्यय के द्वारा शब्द की ब्रह्मावगति-हेतुता उपपन्न है।[3]

यहाँ यह शंका होती है कि उपनिषद्-वाक्य के परोक्ष प्रत्यय के हेतु होने पर भी "औपनिषद" शब्द में तद्धित प्रत्यय की संगति हो सकती है, अतः इससे शब्द की अपरोक्षज्ञान-जनकता कैसे सिद्ध को जा सकती है। इस शंका के समाधान में विवरण के टीकाकार चित्सुखाचार्य का कथन है कि अपरोक्षस्वभाव वस्तु (ब्रह्म) में परोक्ष ज्ञान भ्रम है, अतः उपनिषद् वाक्य रूप (शब्द) के परोक्षज्ञान-जनक होने पर उसके अप्रामाण्य की संभावना होगी।[४] ब्रह्म के अपरोक्ष स्वभाव होने के कारण ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है। अतएव उपनिषद् वाक्य

१. सत्यं न ब्रह्मसाक्षात्कारः आगमयुक्तिफलमपितु
चित्तमेव ब्रह्मसाक्षात्कारवतीं बुद्धिवृत्तिं समाधत्ते।
(भामती ४।१।२, पृ० ९३२)

२. तं त्वौपनिषदं धीरा ब्रह्मात्मानं प्रचक्षते।
(बृ० उ० भा० वा०, ३।९।११६)

३. एवं च "तं त्वौपनिषदम्" इति तद्धितप्रत्ययेन ब्रह्मावगतिहेतुत्वं शब्दस्य दर्शितमुपपन्नं भवति, अपरोक्षावगतेरेव सम्यगवगतित्वात्।
(पं० पा० वि०, पृ० ४०८)

४. अपरोक्षस्वभावे वस्तुनि परोक्षज्ञानस्य विभ्रमत्वात् तज्जनकत्वे शब्दस्याप्रामाण्यं स्यादित्यर्थः। (वि० ता० दी०, पृ० ४०९)

(शब्द) का प्रामाण्य ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने में ही माना जा सकता है। यहाँ यह शंका भी उचित नहीं कि शब्द में परोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने की ही शक्ति है, अपरोक्ष ज्ञान की नहीं; क्योंकि "दशमस्त्वमसि" इत्यादि वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति दृष्ट है। ज्ञान की अपरोक्षता का कारण उसकी इन्द्रियजन्यता नहीं अपितु उसके विषय का स्वभाव है। अपरोक्षवस्तुविषयक ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। ज्ञान का अपरोक्षत्व करण स्वभावप्रयुक्त नहीं अपितु "विषय-स्वभावप्रयुक्त" है। इस शंका के समाधान में कि यदि ज्ञान का अपरोक्षत्व विषयस्वभावप्रयुक्त माना जाय तो परोक्ष घटादि पदार्थों का अपरोक्ष ज्ञान कैसे संभव होगा, नृसिंहाश्रमाचार्य का कथन है कि घटादि अपरोक्ष पदार्थों का अपरोक्षत्व अपरोक्षसंवित् के साथ तादात्म्य के कारण होता है।[1] वस्तुतः अपरोक्ष संवित् के साथ तादात्म्य सम्बन्ध के बिना घटादि द्रव्यों के अपरोक्षत्व की समुचित व्याख्या संभव नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रह्मसाक्षात्कार के करण के प्रश्न पर वाचस्पति मिश्र मण्डन मिश्र के विचारों से प्रभावित हैं और वे शब्द को अपरोक्ष ज्ञान का करण नहीं मानते। इसके विपरीत विवरणकार प्रकाशात्मयति सुरेश्वराचार्य के समान शब्द में भी अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति स्वीकार करते हैं और तदनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार का करण प्रसंख्यान या चित्त को न मानकर शब्द को ही मानते हैं।

यद्यपि श्रवण मनन और निदिध्यासन को सभी अद्वैत-वेदान्तियों ने ब्रह्मसाक्षात्कार का अन्तरंग साधन स्वीकार किया है, तथापि इनके अंगांगित्व के सन्बन्ध में दोनों प्रस्थानों में मतभेद उपलब्ध होता है। भामतीकार ने ब्रह्म-साक्षात्कार में निदिध्यासन को अंगी (प्रधान) माना है और श्रवण तथा मनन को निदिध्यासन का अंग स्वीकार किया है। इसके विपरीत विवरणकार ने श्रवण को अंगी तथा मनन और निदिध्यासन को इसका अंग माना है।[2] सुरेश्वराचार्य ने भी ब्रह्मसाक्षात्कार में

---

१. अर्थस्य घटादेश्चानपरोक्षस्वभावस्याप्यपरोक्षसंवित्तादात्म्यादपरोक्षत्वम्।
(वि० भा० प्र०, पृ० ४०५)

२. मनन निदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गभूताभ्यां सह श्रवणं नाम अङ्गि विधीयते। (पं० पा० वि० पृ० ३०) तथा मनन निदिध्यासनयोश्च श्रवणाङ्गत्वमुत्तरत्र वक्ष्यामः।
(वही, पृ० ५३)

श्रवण को ही अंगी माना है। उनके मत में मनन और प्रसंख्यान की आवश्यकता तो उन निम्न कोटि के व्यक्तियों के लिये है जो महावाक्य-श्रवण मात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार में समर्थ नहीं हैं। संक्षेपशारीरककार ने ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण को ही प्रधान माना है। खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थों में भी श्रवण को ही ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रधान कारण माना गया है। मधुसूदन सरस्वती ने श्रवण से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को संभव बताया है। वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तबिन्दु तथा अद्वैतसिद्धि में उन्होंने बड़े ऊहापोह के साथ इस मत का समर्थन किया है कि शब्द अपरोक्ष ज्ञान का जनक हो सकता है।

हम देख चुके हैं कि मण्डन मिश्र के मत में महावाक्य-श्रवण से ब्रह्म-साक्षात्कार संभव नहीं और उन्होंने प्रसंख्यान या ध्यान को ही ब्रह्म-साक्षात्कार का करण माना है। भामतीकार भी निदिध्यासन को ही ब्रह्म-साक्षात्कार में प्रधान साधन मानते हैं और श्रवण तथा मनन को उन्होंने निदिध्यासन का अंग माना है। इसके विपरीत सुरेश्वराचार्य ने श्रवण को ब्रह्म-साक्षात्कार में प्रधान कारण बताया है। विवरण-कार तथा उनके अनुयायियों ने भी श्रवण को ही अंगी (प्रधान) माना है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामतीकार जहाँ मण्डन मिश्र के विचारों से प्रभावित हुये हैं तो वहाँ विवरणकार पर सुरेश्वराचार्य के विचारों की छाप स्पष्ट रूप से पड़ी है। विवरणकार प्रकाशात्मयति अपने अनेक विचारों के लिये सुरेश्वराचार्य के ऋणी हैं, यह बात तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जबकि हम यह देखते हैं कि उपर्युक्त अनेक प्रश्नों पर पंचपादिकाकार पद्मपाद मौन हैं जिनके ग्रन्थ पर विवरणकार ने अपना "विवरण" प्रस्तुत किया है। पंचपादिकाकार को विवरणकार द्वारा प्रतिपादित प्रतिबिम्बवाद में भी आग्रह नहीं है। उन्होंने जीव के स्वरूप को समझाने के लिये शंकराचार्य द्वारा प्रदत्त सभी दृष्टान्तों की उपयोगिता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। उनका कथन है कि मुखचन्द्रादि प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्तों का उपयोग जहाँ प्रतिबिम्बरूप जीव के ब्रह्म से अभेद एवं सत्यत्व के प्रदर्शन के लिये हुआ है, वहाँ घटाकाशादि दृष्टान्तों की उपयोगिता पुरुष की श्रुतिसमर्थित असंगता के प्रतिपादन में है। स्फटिकलौहित्य, रज्जुसर्प आदि आभाससूचक दृष्टान्तों का प्रयोग जीव के इदमंश-प्रयुक्त मिथ्यात्व के प्रदर्शन के लिये किया गया है।[1]

---

१. पंचपादिका, पृ० ११२; तथा वि० प्र० सं० पृ० ७०५–६।

पंचपादिकाकार ने जीव के स्वरूप को समझाने के लिये दिये गये सभी दृष्टान्तों को दृष्टान्तमात्र ही माना है। स्वयं शंकराचार्य ने भी इन्हें दृष्टान्तमात्र कहा है और "वृद्धिह्रास[1]" इस सूत्र के भाष्य में यह स्पष्ट कर दिया है कि दृष्टान्त का उपयोग किसी विशेष प्रयोजन के निमित्त ही किया जाता है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में किसी विवक्षित सारूप्य का प्रदर्शन ही अभीष्ट होता है, पूर्ण सारूप्य का प्रदर्शन नहीं। यदि दोनों में पूर्ण सारूप्य हो जाय तब तो वे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक ही न रह सकें।[2] भाष्यकार के तात्पर्य को भली-भाँति समझते हुये पद्मपाद ने भी इन्हें इसी रूप में स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि इन दृष्टान्तों का प्रयोजन श्रुति, तन्मूलक न्याय तथा अनुभव से सिद्ध आत्मा के सम्बन्ध में आशंकित असंभावना का परिहार तथा संभावना (बुद्धिसाम्य) का प्रदर्शनमात्र है, वस्तु की साक्षात् सिद्धि नहीं।[3]

किन्तु शंकराचार्य तथा उनके शिष्य पद्मपादाचार्य के इस स्पष्टीकरण के बाद भी उपर्युक्त दृष्टान्तों के आधार पर शंकरोत्तर वेदान्त में जीव के सम्बन्ध में आभासवाद प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद का जन्म हुआ तथा परवर्ती आचार्यों ने परपक्ष के खण्डन और स्वपक्ष के समर्थन में व्यर्थ ही अपनी सारी शक्ति लगा दी। अवच्छेदवाद के समर्थकों ने प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध यह कहा कि चैतन्य के नीरूप एवं अमूर्त होने के कारण तथा अन्तःकरणरूप उपाधि के भी नीरूप एवं अमूर्त होने के कारण अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। किन्तु विचार करने पर यह दोष अवच्छेदवाद में भी समान रूप से प्रसक्त होता है। नीरूप एवं अमूर्त अन्तःकरण के द्वारा अवच्छेद (limitation) भी कैसे माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में घटाकाश का दृष्टान्त संगत नहीं है क्योंकि घटरूप उपाधि अन्तःकरण के समान न तो नीरूप है और न ही अमूर्त। अतः घटाकाश के दृष्टान्त से अन्तःकरण के द्वारा नीरूप चैतन्य का अवच्छेद सिद्ध नहीं किया जा

---

१. ब्र० सू० ३।२।२०।

२. न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित् कंचित् विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भावोच्छेद एव स्यात्। (ब्र० सू० शा० भा० ३।२।२०; पृ० ३५९)

३. एतच्च सर्वमुदाहरणजातं श्रुतितन्न्यायानुभवसिद्धस्य असंभावना-परिहाराय बुद्धिसाम्यार्थं च, न वस्तुन एव साक्षात्सिद्धये। (पं० पा०, पृ० ११३)

सकता। इस सम्बन्ध में एक दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वस्तुतः घटरूप उपाधि से अनवच्छिन्न आकाश अवच्छिन्न नहीं हो जाता। उसके अवच्छिन्न रूप से प्रतीत होने का कारण हमारी चक्षुरिन्द्रिय का असामर्थ्य ही है। यदि घट से हमारी चक्षुरिन्द्रिय प्रतिहत न हो और जिस प्रकार एक्सरेज (X-Rays) अप्रतिहतरूप से शरीर में प्रविष्ट हो कर उसके आन्तरिक रूप का प्रकाशन कर देती हैं, उसी तरह यह घट के भीतर प्रविष्ट होकर उसके आन्तरिक भागों को भी देख पाती तो घटाकाश तथा महाकाश का भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। यह भेद हमारी चक्षुरिन्द्रिय की असमर्थता का ही परिणाम है, वास्तविक नहीं। वास्तविक दृष्टि से तो घट के द्वारा अनवच्छिन्न आकाश का अवच्छेद सम्भव ही नहीं है। अतः घटाकाश आदि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों को भी दृष्टान्त रूप में ही समझा जाना उचित है।

इसी सम्बन्ध में एक दूसरा प्रश्न जो दोनों प्रस्थानों के बीच विवाद का विषय बना है, वह है अविद्या के आश्रय का प्रश्न। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने मंडन मिश्र का अनुसरण करते हुए जीव को ही अविद्या का आश्रय माना है तथा ब्रह्म के अविद्याश्रयत्व का इस आधार पर खण्डन किया है कि विद्यास्वरूप ब्रह्म अविद्या का आश्रय कैसे बन सकता है।[1] दूसरी ओर विवरणकार तथा उनके अनुयायियों ने जीव के अविद्याश्रयत्वपक्ष के खण्डन में यह युक्ति प्रदर्शित की है कि इस मत के अनुसार दृष्टिसृष्टिवाद की प्रसक्ति होती है तथा जगत् की रचना के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं रह जाती। जीव के अविद्याश्रयत्व पक्ष में यह मानना होगा कि जीव ही अपनी अविद्या के द्वारा जगत् की कल्पना करता है; ईश्वर जगत् की सृष्टि नहीं करता। जीव को अविद्या का आश्रय मानने वाले मण्डन मिश्र ने वस्तुतः जीव को ही 'अपनी अविद्या के कारण प्रपंचाकार भ्रम का कारण माना है और उन्होंने ब्रह्म की जगत्कारणता का खण्डन किया है।[2] ब्रह्मानन्द सरस्वती ने वेदान्तमुक्तावली में तथा मधुसूदन सरस्वती ने वेदान्तकल्पलतिका तथा सिद्धान्तबिन्दु में जीव के अज्ञानाश्रयत्व का यही अनिवार्य परिणाम

---

१. विद्यास्वरूपे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेः। (भामती १।४।३, पृ० ३७८)

२. ब्रह्मसिद्धिकारास्त्वेवमाहुः—जीवा एव स्वाविद्यया प्रत्येकं प्रपंचाकारेण ब्रह्मणि विभ्राम्यन्ति, ब्रह्म तु मायाविशिष्टं बिम्बरूपं वा न जगत्कारणम्। (वि० प्र० सं०, पृ० ७३६)

माना है। सिद्धान्तबिन्दु की टीका में वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर कहते हैं कि वाचस्पतिमिश्र के मत में जीव ही अविद्या का आश्रय होने से स्वाप्निक सृष्टि के समान जगत् की कल्पना करता है। परिणामतः दृष्टिसृष्टिवाद की प्रसक्ति होती है तथा प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक सत्ता का भेद मिट जाता है।[1] इसी तरह प्रो० एस० के० दास ने भी वाचस्पति मिश्र के मत में ईश्वर का कोई स्थान नहीं माना है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि वाचस्पति मिश्र के जीव के अविद्याश्रयत्व के सिद्धान्त के परिणामस्वरूप जिस वैयक्तिक विज्ञानवाद की प्रसक्ति होती है, उसमें वस्तुतः ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है।[2] वाचस्पति मिश्र के सम्बन्ध में की गयी इसी प्रकार की आलोचना का उल्लेख करते हुए वेदान्तकल्पतरुकार अमलानन्द कहते हैं कि यदि जीव को अविद्या का आश्रय माना जाय तो जीव को ही जगत् का कारण मानना होगा और ऐसी स्थिति में वेदान्त वाक्यों का समन्वय ब्रह्म में न मान कर जीव में ही मानना संगत होगा।[3]

किन्तु प्रश्न है कि क्या वाचस्पति मिश्र "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों का समन्वय जीव में मानने के लिए तैयार हैं और क्या वे प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता के भेद को मिटाकर "दृष्टिसृष्टिवाद" को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं। वाचस्पति मिश्र के लिए ऐसा करना संभव नहीं है, क्योंकि इससे शांकर वेदान्त के आधारभूत सिद्धान्तों पर ही कुठाराघात हो जायगा। अतएव उनके सामने यह एक जटिल समस्या है कि वे जीव को अविद्या का आश्रय मानते हुये भी किस प्रकार ईश्वर को जगत् का स्रष्टा मान सकें। परिमलकार ने इस समस्या का समाधान करते हुए कहा है कि यद्यपि वाचस्पति मिश्र के मत में अविद्या का आश्रय जीव है, ब्रह्म नहीं, तथापि उसका अधिष्ठान ब्रह्म है, जीव नहीं। जैसे रजतादिविवर्तों का अधिष्ठान शुक्तिकादि है, उसी प्रकार जीवाविद्यादिक सकल विवर्तों

---

१. अविद्याश्रयत्वाभावाच्च नेशो जगत् सृजति किं तु जीव एव स्वाश्रिताविद्यया जगत् प्रकल्पयति स्वाप्निकहस्त्यादिवत्। तथा च अर्थादेव दृष्टिसृष्टिवादः फलितो भवति। (बिन्दुप्रपात, पृ० ४८)

२. A study of the Vedanta, P. 322.

३. जीवाज्जज्ञे जगत्सर्वं सकारणमिति ब्रुवन्। क्षिपन् समन्वयं जीवे न लेजे वाक्पतिः कथम्? (वे० क० १।४।१६, पृ० ४०४)

का अधिष्ठान ब्रह्म है। इसी अधिष्ठानभूत ब्रह्म में ही वेदान्त वाक्यों का समन्वय उपपन्न है, जीव में नहीं।[1] भामतीकार के मत में अविद्या का अधिष्ठान या विषय ही रजतादि विवर्त का उपादान है, अविद्या नहीं। जैसे अहिभ्रम का अधिष्ठान रज्जु है, वैसे ही प्रपंचविभ्रम का अधिष्ठान जीवाश्रित अविद्या का विषयी भूत ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है तथा जैसे अहिभ्रम का उपादानकारण रज्जु है, वैसे ही प्रपंचभ्रम का उपादान कारण ईश्वर है।[2] इस प्रकार भामतीकार ने जीव को अविद्या क आश्रय (आधार) मानते हुए भी अविद्या के विषयीभूत ब्रह्म या ईश्वर को ही जगत् का उपादान कारण स्वीकार किया है।

किन्तु संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि ने अविद्या के आश्रय तथा विषय के भेद का निराकरण किया है।[3] वे कहते हैं कि केवल निर्विभाग-चिति ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। जीव पूर्वसिद्ध अविद्या का न तो आश्रय बन सकता है और न विषय। सुरेश्वराचार्य भी ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय तथा विषय दोनों मानते हैं। इनके मत में अविद्या आत्मा की सर्वसर्जनात्मिका शक्ति है अतः आत्मा अविद्या से संबद्ध है।[4] किन्तु आत्मा का अविद्या के साथ सम्बन्ध आभासात्मक है। परमार्थतः निःसंग कूटस्थ आत्मा का संसर्ग, विकारी अनात्म अविद्या के साथ असम्भव है।[5] अतएव जैसे घृतपिण्ड प्रदीप्त वह्नि का आलिङ्गन निराकृत रूप से ही करता है, वैसे ही अविद्या भी निराकृत रूप से ही प्रत्यगात्मा का आलिंगन करती है।[6]

विवरणकार ने भी ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों माना है। उनका कथन है कि अविद्या आश्रय और विषय के भेद

---

१. अधिष्ठानं विवर्तानामाश्रयो ब्रह्म शुक्तिवत्।
जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम्॥
(वे० क० प० १।४।१६, पृ० ४०४)

२. प्रपंचविभ्रम य होश्वराधिष्ठानत्वमहिविभ्रमस्येव रज्ज्वधिष्ठानत्वम्। तेन यथाऽहिविभ्रमो रज्जूपादानः, एवं प्रपञ्चविभ्रम ईश्वरोपादानः।
(भामती १।४।३, पृ० ३७८)

३. आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥
(सं० शा० १।३१९)

४. बृ० उ० भा० वा०; ४।३।१७८४–८५

५. बृ० उ० भा० वा०; १।२।३०५।

६. बृ० उ० भा० वा०; ४।३।११८०।

की अपेक्षा नहीं करती अपितु एक ही वस्तु में आश्रयत्व तथा आवरणत्व रूप दोनों कार्यों का सम्पादन करती है। जैसे अन्धकार अपने आश्रयभूत प्रदेश का आवरण करता है वैसे ही अविद्या अपने आश्रय के आवरण में समर्थ है।[1] अतः अविद्या के आश्रय और विषय के भेद को मानना उचित नहीं है।

किन्तु यहाँ यह शंका होती है कि अविद्या के आश्रयविषय भेद-सापेक्ष न होने पर भी स्वयंप्रकाश ब्रह्म को अविद्या का आश्रय कैसे माना जा सकता है। अविद्या और विद्या अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी है, अतः ये दोनों एक आश्रय में नहीं रह सकते। यह शंका भी वास्तव में एक कठिन शंका है जिसका सन्तोषजनक समाधान ढूँढ निकालना आसान नहीं है। इस शंका का समाधान करते हुए विवरणभाव प्रकाशिका में नृसिंहाश्रम कहते हैं कि यद्यपि अज्ञान चैतन्य का विरोधी अनुभूत होता है, तथापि तत्तदाकार रूप में अपरोक्ष-वृत्यभिव्यक्त चैतन्य ही चैतन्यात्मना अज्ञान का निवर्तक है; क्योंकि अपरोक्षवृत्ति ही अज्ञाननिवृत्ति के प्रतिबन्धक आवरण का विरोधी है। अतएव स्वयंप्रकाश चैतन्य (ब्रह्म) भी अपरोक्षवृत्ति के अभाव में अज्ञान का साधक तथा अविरोधी होने से अज्ञान का आश्रय हो सकता है।[2]

अविद्या के सम्बन्ध के कारण ही ब्रह्म जगत् का कारण तथा सर्वज्ञत्व आदि लक्षण से युक्त होता है क्योंकि निर्गुण एवं निरुपाधिक ब्रह्म में सर्वज्ञत्व तथा जगत्कर्तृत्व आदि सम्भव नहीं है।[3] चित्सुखीकार कहते हैं कि अविद्या के सम्बन्ध के बिना ईश्वर में सर्वज्ञत्व का उपपादन नहीं किया जा सकता।[4]

---

१. न तावदज्ञानमाश्रयविषयभेदसापेक्षम्। किन्तु एकस्मिन्नेव वस्तुन्याश्रयत्वमावरणं चेति कृत्यद्वयं संपादयति। (पं० पा० वि०, पृ० २१०–११)

२. यद्यपि अज्ञानस्य चैतन्यविरोधित्वमनुभूयते, तथापि तत्तदाकारापरोक्षवृत्त्यभिव्यक्तमेव चैतन्यं चैतन्यात्मना अज्ञानस्य निवर्तकम्। अपरोक्षवृत्तेरेव तन्निवृत्तिप्रतिबन्धकावरणविरोधित्वात्।........ तस्मात् स्वप्रकाशस्यापि चैतन्यस्यापरोक्षवृत्तिविरहदशायामज्ञानसाधकत्वात्तदविरुद्धत्वाच्च तदाश्रयत्वमविरुद्धमिति भावः। (वि० भा० प्र०, पृ० २११–१२)

३. मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः। (वाक्यवृत्ति)

४. स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा भवेत्।
तच्चोभयं विनाऽविद्यासम्बन्धं नैव सिध्यति॥
—चि० सु० (त० प्र०, पृ० ५७८)

इस तरह हम देखते हैं कि ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध माने बिना इस नामरूपात्मक प्रपंच की व्याख्या सम्भव नहीं; क्योंकि निर्गुण एवं निरुपाधिक ब्रह्म का इस प्रपंच से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु दूसरी ओर अविद्या के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध मानने में यह कठिनाई है कि विद्या-स्वभाव ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

इस कठिनाई से बचने के लिए शंकरोत्तर वेदान्त में माया और अविद्या के भेद की कल्पना की गयी है। यद्यपि स्वयं शंकराचार्य ने इनमें स्पष्ट रूप से भेद नहीं किया है और दोनों शब्दों को पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है, तथापि उनके भाष्य-ग्रन्थों में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ माया और अविद्या के भेद का संकेत उपलब्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्य में उन्होंने ईश्वर को विशुद्ध उपाधि से संबद्ध बतलाया है।[1] ब्र० सू० भाष्य में भी उन्होंने माया को ईश्वर की शक्ति कहा है।[2] इन संकेतों के आधार पर परवर्ती विचारकों ने अविद्या और माया के भेद का विशदरूप से प्रतिपादन किया है। विद्यारण्य ने ईश्वर और जीव का भेद माया और अविद्या के भेद को मानकर ही किया है। उन्होंने माया में विशुद्ध सत्व की प्रधानता मानी है, तथा अविद्या में सत्त्वगुण को रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत माना है।[3] कुछ दूसरे विचारकों ने अविद्या में आवरणशक्ति की प्रधानता मानी है तथा माया में विक्षेप-शक्ति की। कहीं-कहीं सामष्टिक अज्ञान को माया तथा व्यष्टिगत अज्ञान को अविद्या माना गया है। इस प्रकार शंकरोत्तर वेदान्त में पूर्वप्रदर्शित गतिरोध से बचने के लिए माया तथा अविद्या के भेद को स्वीकार कर लिया गया है। जहाँ माया और अविद्या के भेद को स्वीकार नहीं किया गया वहाँ भी इस भेद को मूलाविद्या और तूलाविद्या के नाम से मान लिया गया है। मूलाविद्या के एकत्व तथा तूलाविद्या के नानात्व के आधार पर अविद्या के एकत्व तथा नानात्व का प्रतिपादन किया गया है।

मुक्त जीव के सम्बन्ध में भी दोनों प्रस्थानों में पर्याप्त मतभेद है। विवरण प्रस्थान में जीव को प्रतिबिम्ब रूप तथा ईश्वर को बिम्बरूप

---

१. विशुद्धोपाधिसम्बन्धात्। (छा० उ० ३।१४।२)
२. सर्वज्ञस्य ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते। (ब्र० सू० २।१।१४)
३. सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। (पंचदशी १।१६)

माना गया है। अतः जबतक सब जीवों की मुक्ति न हो जाय और परिणामतः ईश्वर का बिम्ब-स्थानीयत्व समाप्त न हो जाय, तबतक मुक्त जीव ईश्वर रूप ही रहता है, विशुद्ध ब्रह्मरूप नहीं। किन्तु सब जीवों के मुक्त हो जाने पर ब्रह्म के बिम्बत्व (ईश्वरत्व) के हट जाने से मुक्त जीव ब्रह्म रूप हो जाता है। संक्षेपशारीरककार जीव और ईश्वर दोनों को प्रतिबिम्ब रूप मानते हैं। अतः उनके मत में मुक्तिदशा में जीव ईश्वररूप नहीं होता, अपितु विशुद्ध ब्रह्मरूप हो जाता है। भामती-कार जीव को अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः मुक्तिदशा में जीव अपने अनवच्छिन्न रूप में अवस्थित हो जाता है। उपाधि के नाश से सान्त एवं अवच्छिन्न जीव का अनन्त एवं अनवच्छिन्न चैतन्य के रूप में अवस्थित हो जाना (एवं अनन्त से साथ मिलकर अनन्त रूप हो जाना) ही भामतीकार के मत में मुक्ति का स्वरूप है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर दोनों प्रस्थानों में ऐकमत्य है। मण्डन मिश्र ने जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। वे स्थितप्रज्ञ को साधक मानते हैं, सिद्ध नहीं, वे उसे जीवन्मुक्त नहीं मानते। किन्तु इस प्रश्न पर भामतीकार मंडन मिश्र से सहमत नहीं हैं। उन्होंने स्थितप्रज्ञ को सिद्ध एवं जीवन्मुक्त माना है, साधक नहीं। इस सम्बन्ध में उनका यह तर्क है कि यदि स्थितप्रज्ञ को भी साधक माना जाय तो साधना के द्वारा उत्तरोत्तर ध्यान के उत्कर्ष से पूर्वपूर्वप्रत्यय अनवस्थित हो जायगा और वह स्थितप्रज्ञ नहीं रह सकेगा।[1] विवरणकार और वार्तिककार ने भी जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। वार्तिककार ने जीवन्मुक्ति का समर्थन करते हुए यह कहा है कि अविद्या के दूर हो जाने पर मुमुक्षु को जीवनकाल में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अतः यह कहना ठीक नहीं कि शरीरपात के अनन्तर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी।[2] विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भी जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। "तस्य तावदेव चिरम्" इस श्रुति को उन्होंने जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थक माना है। वे कहते हैं कि प्रारब्धकर्मयुक्त व्यक्ति को शरीरावस्था में ही तत्त्व-

---

१, स्थितप्रज्ञश्च न साधकः तस्योत्तरोत्तरध्यानोत्कर्षेण पूर्वपूर्वप्रत्ययानवस्थित-त्वात्। (भामती ४।१।१५, पृ० ९५२)

२. न तस्य जीवतः कश्चिद् विशेषोऽस्ति मृतस्य वा। यतः सर्वविशेषाणाम-विद्यैवास्ति कारणम्। (बृ० उ० भा० वा०, ४।४।२०६)

दर्शन सम्भव है। व्यासादि मुनियों को शरीरावस्था में ही अपरोक्ष दर्शन हुआ था।[1] विवरण प्रमेय-संग्रह में कहा गया है कि जैसे फूलों के भाजन से फूलों के निकाल लेने पर भी गन्ध के संस्कार से वह पुष्प-भाजन कुछ काल तक सुगन्धित रहता है, वैसे ही अविद्या के दूर हो जाने पर भी अविद्या-संस्कारवश किंचित् काल-पर्यन्त देहेन्द्रियादि का अवस्थान होता है। तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर भी प्रारब्धकर्मों के क्षीण होने तक अविद्यालेश के अनुवृत्त होने से जीवन्मुक्ति सम्भव है।[2]

इस प्रकार जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर भामतीकार और विवरणकार दोनों एकमत हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है भामतीकार ने जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में मण्डन मिश्र के द्वारा किये गये आक्षेप का निराकरण करते हुए जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है। किन्तु इसके विपरीत इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा जो शंकर और सुरेश्वर के अनुयायी हैं, जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर इनसे असहमत हैं और मण्डनमिश्र के सिद्धान्त के ही समर्थक हैं। इसी तरह ब्रह्मानन्द ने भी जीवन्मुक्ति के प्रश्न पर मण्डन मिश्र के सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। वे विदेह-मुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं, जीवन्मुक्ति को नहीं।

प्रमेय-पक्ष के समान साधन-पक्ष पर भी दोनों प्रस्थानों में पर्याप्त मतभेद उपलब्ध होता है। यद्यपि दोनों प्रस्थानों में ज्ञान को ही मोक्ष का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है तथापि ज्ञान प्राप्ति में कर्मों की उपयोगिता के सम्बन्ध में दोनों प्रस्थानों में मतभेद है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यज्ञ, दान और तप को ज्ञान का साधन कहा गया है। "तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"[3] इस श्रुति में प्रयुक्त "विविदिषन्ति" इस पद के आधार पर वाचस्पति मिश्र का कथन है कि यज्ञादि कर्मों का उपभोग "विविदिषा में ही माना गया है, वेदन में नहीं। अतः श्रुति के अनुसार ज्ञानोत्पत्ति में कर्मों की अपेक्षा विविदिषोत्पत्ति द्वारा ही समर्थित होती है।[4] इस सम्बन्ध में भामती-

---

१. प्रारब्धकर्मवतश्च तत्त्वदर्शनं सशरीरस्यैव संभवति। व्यासादीनां च सशरीराणामेव अपरोक्षदर्शनं श्रूयते। (पं० पा० वि० पृ० ७८७)

२. तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरस्तु। (वि० प्र० सं०, पृ० ३६२)

३. बृ० उ० ४।४।२२।

४. उत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मापेक्षा विद्यते विविदिषोत्पादद्वारा विविदिषन्ति यज्ञेन इति श्रुतेः। (भामती ३।४।२६, पृ० ८९८)

कार का यह तर्क है कि प्रकृत्यर्थ की अपेक्षा प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता हुआ करती है, अतः "विविदिषन्ति" इस पद के प्रकृत्यर्थ वेदन की अपेक्षा प्रत्ययार्थ इच्छा की ही प्रधानता है। अतएव यज्ञादि कर्मों का उपयोग "विविदिषोत्पत्ति" में ही माना जाता उचित है, विद्योत्पत्ति में नहीं।[१] भामतीकार के इस तर्क के विरुद्ध विवरणकार का यह कथन है कि प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ में प्रत्यार्थ की प्रधानता होती है, यह एक सामान्य नियम है। इस नियम का "इष्यमा मण समभिव्याहारे इष्यमाणस्यैव प्राधान्यम् न तु इच्छायाः" इस विशेष नियम से बाध हो जाता है। इसी कारण "अश्वेन जिगमिषति", "असिना जिघांसति" इत्यादि वाक्यों में इच्छा के विषय गमन और हनन के प्रति ही क्रमशः अश्व और असि के करणत्व का बोध होता है, इच्छा के प्रति नहीं। अतएव "विविदिषन्ति यज्ञेन" इस श्रुति के द्वारा यज्ञ आदि कर्मों का उपयोग प्रकृति से अभिहित "वेदन" की उत्पत्ति में ही मानना उचित है, विविदिषोत्पत्ति में नहीं। इस प्रकार विवरणकार ने यज्ञादि कर्मों का उपयोग विद्योत्पत्ति में माना है, विविदिषोत्पत्ति में नहीं। शंकराचार्य ने सर्वपेक्षाधिकरण के भाष्य में शम, दम इत्यादि को विद्या का प्रत्यासन्न साधन कहा है तथा यज्ञादि को विविदिषा से संयुक्त होने के कारण बाह्यतर माना है।[२] "तस्मादेवंविच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्य ति (बृ० उ० ४।४।२३) यह श्रु ति स्पष्ट रूप से शमादि को विद्या का साधन बता रही है, तथा तथा "तमेतं वेदानुवचनेन ... विविदिषन्ति यज्ञे न" (बृ० उ० ३।३।२२) यह पूर्वपठित श्रु ति यज्ञादि को विविदिषा का साधन मान रही है। इससे यह स्पष्ट है कि श्रुति के अनुसार यज्ञादि कर्मों का उपयोग विविदिषोत्पत्ति में ही है, विद्योत्पत्ति में नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा के दर्शन के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन का प्रतिपादन किया गया है (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यश्च (बृ० उ० २।४।५ तथा ४।५।६)। श्रवण, मनन और निदिध्यासन को दोनों प्रस्थानों में आत्म-दर्शन का

---

१. वेदनस्य प्रकृत्यर्थतया शब्दतो गुणत्वात् इच्छायाश्च प्रत्ययार्थतया प्राधान्यात्, प्रधानेन च कार्यसंप्रत्ययात्। (भामती १।१।१, पृ० ६१)

२. तस्मादेवंविदिति विद्यासंयोगात् प्रत्यासन्नानि विद्यासाधननानि शमादीनि विविदिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनि इति विवेक्तव्यम्। (ब्र० सू० शा० भा० ३।४।२७)

अन्तरंग साधन माना गया है। तथापि इनके अंगांगित्व के सम्बन्ध में दोनों प्रस्थानों में मतभेद है। भामतीकार ने निदिध्यासन को अंगी माना है और विवरणकार ने श्रवण को अंगी स्वीकार किया है। श्रवण को अंगी मानने में भामतीकार को यह आपत्ति है कि शब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परोक्ष ही होता है, अपरोक्ष नहीं। उनके मत में शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान शब्द प्रमाण का फल नहीं, अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल है। जैसे कुटज बीज से वटांकुर की उत्पत्ति संभव नहीं, वैसे ही शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है।[1] आत्म साक्षात्कार रूपी अपरोक्ष ज्ञान को भामतीकार ने प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल माना है तथा अन्तरिन्द्रियरूप मन को इसका करण स्वीकार किया है। निदिध्यासन से उत्पन्न संस्कार को उन्होंने आत्म-साक्षात्कार में मन का सहायक कहा है, अतः उन्होंने श्रवण, मनन और निदिध्यासन में निदिध्यासन को अंगी तथा श्रवण और मनन को उसका अंग माना है।[2] इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मंडन मिश्र ने भी वेदान्तवाक्य-जन्य ज्ञान को संसर्गात्मक माना है। उनके मत में संसर्गात्मक शाब्द ज्ञान प्रसंख्यान से असंसर्गात्मक एवं अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" (बृ० उ० ४।४।२१) इस श्रुति का प्रमाण उपस्थित किया है। भामतीकार ने भी मण्डन मिश्र के प्रसंख्यानविषयक सिद्धान्त का अनुमोदन किया है।[3] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने आत्म-साक्षात्कार के साधन भूत श्रवणादि में निदिध्यासन के अंगित्व को ही स्वीकार किया है।

इसके विपरीत विवरणकार के मत में श्रवण ही अंगी एवं प्रधान है तथा मनन और निदिध्यासन उसके अंग हैं। उन्होंने शब्द प्रमाण से भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को संभव बताया है। उनके मत में किसी वस्तु का अपरोक्षत्व करणस्वभाव-प्रयुक्त न होकर विषय-

---

१. न चैष साक्षात्कारो मीमांसासहितस्यापि शब्दस्य फलम् अपितु प्रत्यक्षस्य; तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। अन्यथा कुटजबीजादपि वटाङ्कुरोत्पत्तिप्रसंगात्।
(भामती १।१।१, पृ० ५७)

२. तस्यापि श्रवणमननपूर्वकोपासनाजनितसंस्कारसचिवादेव चेतसो भावात्।
(भामती, १।१।४, पृ० ११४)

३. (वे० क० १।१।२८, पृ० २१८)।

स्वभाव प्रयुक्त होता है। अतः अपरोक्षवस्तुविषयक शाब्द ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है। घटादि परोक्षवस्तुविषयक ज्ञान के आपरोक्ष्य की उपपत्ति अपरोक्षसंवित् के साथ तादात्म्य से ही होती है। "दशमस्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान की अपरोक्षता दृष्ट ही है। अतः शब्द से भी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति संभव है। मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु तथा अद्वैतसिद्धि में "शब्दापरोक्षवाद" का समर्थन किया है। खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, पंचदशी इत्यादि ग्रन्थों में भी इसका सुदृढ रूप से समर्थन किया गया है। अपरोक्षस्वभाव आत्मा का ज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है? परोक्ष होने पर उस ज्ञान का प्रामाण्य कैसे सम्भव है? श्रवण के अंगित्व का समर्थन करते हुए विवरण भावप्रकाशिकाकार नृसिंहाश्रमाचार्य कहते हैं कि श्रुत वस्तु का ही मनन होता है, श्रवण और मनन से स्थिर किये हुए का ही ध्यान होता है। अतः आत्मसाक्षात्कार में श्रवण की ही प्रधानता माननी होगी।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि विवरण प्रस्थान में आत्मसाक्षात्कार के साधनभूत श्रवणादि में श्रवण को ही अंगी माना गया है, जब कि भामतीप्रस्थान में निदिध्यासन को प्रधानता दी गयी है।

इसी प्रश्न से संबद्ध एक दूसरा प्रश्न, जो दोनों प्रस्थानों में मतभेद का विषय बना हुआ है, आत्मसाक्षात्कार के करण के संबंध में है। हम देख चुके हैं कि भामतीकार अपरोक्षज्ञान को शब्द प्रमाण का फल नहीं मानते अपितु वे उसे प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल मानते हैं। उनका कथन है कि शब्दप्रमाण में अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है। जैसे कुटजबीज से बटांकुर की उत्पत्ति सम्भव नहीं, वैसे ही शब्द से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति भी संभव नहीं है। कल्पतरुकार कहते हैं कि "दशमस्त्वमसि" इत्यादि स्थल में भी शब्दसहकृत चक्षुरिन्द्रिय से ही दशमत्व का अपरोक्ष ज्ञान होता है, शब्द मात्र से नहीं, अन्यथा अन्धे को भी यह ज्ञान हो जाता। अन्धे को होने वाला दशमत्व का ज्ञान अपरोक्ष नहीं, अपितु परोक्ष ही होता है।[2] परिमलकार का कथन है कि

---

१. एकात्मविषयत्वेनैव श्रवणादित्रयस्य श्रवणात् श्रुतस्यैव मन्तव्यत्वात्, श्रवणमननाभ्यां स्थिरीकृतस्यैव ध्येयत्वाच्च तेषां समानविषयत्वमिति मननादिवाक्यस्य न तन्मूलत्वमित्यर्थः। (वि० भा० प्र०; पृ० ३२)

२. दशमस्त्वमसीत्यत्रापि वत्सचिवादक्षादेव साक्षात्कारः, अन्धादेस्तु परोक्षधीरेव (वे० क० १।१।१, पृ० ५६)

यदि यह मान भी लें कि अन्धे को होनेवाला दशमत्व का ज्ञान परोक्ष नहीं अपितु अपरोक्ष है, तो भी इस ज्ञान का करण स्पर्शनेन्द्रिय या अन्तः-करण को ही माना जा सकता है, शब्द को नहीं।[1]

अतः शब्द की अपरोक्ष ज्ञान-जनकता कहीं भी दृष्ट नहीं है। शब्द की अपरोक्षज्ञानहेतुता का खण्डन करते हुए परिमलकार का कथन है कि यदि शब्द के द्वारा अपरोक्षज्ञान सम्भव हो तो ब्रह्म के स्वतः अपरोक्ष होने के कारण तद्विषयक शब्द ज्ञान भी अपरोक्ष हो और इस परिस्थिति में वेदान्तश्रवण के अनन्तर ही आत्मसाक्षात्कार हो जाये। किन्तु लोक में ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। अतः शब्द के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति को सम्भव नहीं माना जा सकता।[2] इस प्रकार भामतीप्रस्थान में शब्द की अपरोक्षज्ञानहेतुता का खण्डन करते हुए अन्तःकरण को ही आत्मसाक्षात्कार का करण स्वीकार किया गया है।

इसके विपरीत विवरणप्रस्थान में शब्द को ही आत्मसाक्षात्कार का करण माना गया है। यहाँ ज्ञान की अपरोक्षता को करणस्वभावप्रयुक्त न मानकर विषयस्वभावप्रयुक्त ही माना गया है। इन्द्रियजन्यज्ञान की अपरोक्षता भी विषयस्वभाव-प्रयुक्त है, करणस्वभाव-प्रयुक्त नहीं। घटादि परोक्ष पदार्थों की अपरोक्षविषयता अपरोक्ष संवित् के साथ तादात्म्य के कारण उपपन्न है।[3] यदि तार्किकमतानुसार इन्द्रियजन्य-ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान माना जाय तो अनुमितिज्ञान को भी प्रत्यक्षज्ञान मानना होगा क्योंकि वह भी मनोजन्य होनेके कारण इन्द्रियजन्य है। अतएव इन्द्रियजन्यत्व को ज्ञान के अपरोक्षत्व में नियामक हेतु नहीं माना जा सकता है।[4] इस पर यदि कहें कि इन्द्रियजन्य ज्ञान के अप-

---

१. दशमोऽस्मीत्यपरोक्षज्ञानमन्तःकरणेन संभवति, शरीरविषयं चेत् स्पर्शने-न्द्रियेण वा ज्ञानान्तरोपनयसहितान्तःकरणेन वा संभवति।
(वे० क० प०, १।१।१, पृ० ५६)

२. यदि ब्रह्म स्वतोऽपरोक्षमिति तद्विषयशब्दजन्यमपि ज्ञानमपरोक्षं भवेत्, तदा श्रवणजन्यज्ञानमप्यपरोक्षमिति श्रुतवेदान्तस्य पुंसः तस्मिन् पारोक्ष्यभ्रमानु-वृत्तिर्नस्यात्। (वे० क० प०, १।१।१, पृ० ५५)

३. अर्थस्य घटादेश्चानपरोक्षस्वभावस्याप्यपरोक्षसंवित्तादात्म्यादपरोक्षत्वम्।
(वि० भा० प्र०, पृ० ४०५)

४. न तावदिन्द्रियजन्यज्ञानत्वमपरोक्षत्वम्,
अनुमितावपि मन इन्द्रियजन्यत्वात्। (वि० भा० प्र०, पृ० ४०३)

रोक्ष होने पर भी मनोजन्यज्ञान को अपरोक्ष नहीं माना जाता, तो ऐसी स्थिति में मनोजन्य आत्मज्ञान को भी अपरोक्ष नहीं माना जा सकेगा और आत्मसाक्षात्कार के प्रति मन की करणता के सिद्धान्त का खण्डन स्वयमेव हो जायगा।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी शब्द को ही आत्मसाक्षात्कार का करण माना है, मन को नहीं। मन की करणता का निषेध करते हुए वे कहते हैं कि भावनोपचित्त चित्त कैवल्य का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान के द्वारा अज्ञान के नष्ट होते ही तज्जन्य चित्त का भी समुच्छेद हो जाता है।[1]

इस प्रकार हमने देखा कि भामतीकार ने आत्मसाक्षात्कार के प्रति मन को करण माना है जबकि विवरणकार तथा वार्तिककार ने शब्द को ही इसका करण स्वीकार किया है।

किन्तु वस्तुतः आत्मा के स्वयंप्रकाश होने के कारण उसको प्रकाशित करने के लिए किसी प्रकाश या प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यदि अन्य पदार्थों के समान आत्मा भी किसी प्रमाण का विषय एवं प्रमेय हो, तो यह भी अन्याधीनप्रकाश होने के कारण उन्हीं के समान जड़ हो जाये। जिस आत्मा के प्रकाश से संसार के समस्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उस स्वयंप्रकाश आत्मा को प्रकाशित एवं प्रमाणित करने के लिए भला किसी अन्य प्रकाश या प्रमाण की आवश्यकता कैसे पड़ सकती है? अतः आत्मा को किसी प्रमाण का विषय नहीं माना जा सकता। इसीलिये तो श्रुतियों में आत्मा को अप्रमेय कहा गया है। यद्यपि आत्मा स्वयंप्रकाश है तथापि अज्ञान के आवरण के कारण यह अप्रकाशित-सा रहता है। जैसे आकाश में प्रकाशमान सूर्य मेघ के आवरण से अप्रकाशित-सा हो जाता है, किन्तु वस्तुतः वह मेघ के पीछे प्रकाशमान ही रहता है तथा मेघ के हटते ही वह पुनः प्रकाशित दृष्टिगत होता है, वैसे ही स्वयंप्रकाश आत्मा अज्ञान-तिमिर से आवृत हो जाने के कारण अप्रकाशित-सा रहता है और ज्ञान के द्वारा अज्ञान-तिमिर के छिन्न-भिन्न हो जाने पर वह पुनः प्रकाशित-सा हो जाता है। परमार्थतः वह सदैव प्रकाशमान है। स्वयंप्रकाश आत्मा को प्रकाशित करने के लिए किसी साधन या करण की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल

---

१. भावनोपचितो चेतो न कैवल्यकारणम्।
तस्येहैव समुच्छेदात्तद्धेत्वज्ञानहानतः॥ (बृ० उ० भा० वा० २।४।२०५)

आवरण को दूर करने की। इस आवरण को दूर करने में ही प्रमाण की उपयोगिता है, उसे प्रकाशित करने में नहीं। ज्ञान से अज्ञान रूप आवरण के दूर होते ही स्वयंप्रकाश आत्मा का स्वयमेव साक्षात्कार हो जाता है।

शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवेदान्त के भामतीप्रस्थान तथा विवरणप्रस्थान के तुलनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि इन दोनों प्रस्थानों का अन्तिम लक्ष्य एक होने पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर इनमें परस्पर मतभेद है। भामतीप्रस्थान पर मण्डनमिश्र की विचारधारा का प्रभाव पड़ा है, जब कि विवरण-प्रस्थान पर सुरेश्वराचार्य की विचारधारा का। भामतीकार वाचस्पति मिश्र मण्डनमिश्र के विचारों से पूर्णतया प्रभावित है, जब कि विवरण-कार प्रकाशात्मयति अपने अनेक सिद्धान्तों के लिए सुरेश्वराचार्य के ऋणी है। मण्डन और सुरेश्वर की विचारधाराओं में महान् अन्तर है। अतएव मण्डन और सुरेश्वर को अभिन्न व्यक्ति नहीं माना जा सकता। विद्यारण्य के शंकरदिग्विजय पर आधारित मण्डन और सुरेश्वर का अभेदवाद सर्वथा अयुक्तियुक्त एवं अप्रामाणिक है।

●

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

(संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थ)

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
१. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	शंकराचार्य	नि० सा० प्रे० मुम्बई १९३८
२. भामती	वाचस्पति मिश्र	नि० सा० प्रे० मुम्बई १९३८
३. वेदान्तकल्पत :	अमलानन्द	नि० सा० प्रे० मुम्बई १९३८
४. कल्पतरुपरिमल	अप्पयदीक्षित	नि० सा० प्रे० मुम्बई १९३८
५. रत्नप्रभा	(शारीरक भाष्य टीका) गोविन्ददास,	नि० सा० प्रे० मुम्बई १९३४
६. रत्नप्रभा	(भाषानुवाद) भूमिका, म० म० डा० गोपीनाथ कविराज,	अच्युत ग्रन्थमाला काशी, १९९३ सं०
७. पंचपादिका	पद्मपादाचार्य	मद्रास गवर्नमेंट ओरियन्टल सीरीज १९५८
८. (पंचपादिका) प्रबोध परिशोधिनी,	आत्मस्वरूप	,, ,,
९. (पंचपादिका) तात्पर्यार्थद्योतिनी	विज्ञानात्मा	,, ,,
१०. पञ्चपादिका विवरण	प्रकाशात्मा	,, ,,
११. (विवरण) तात्पर्यदीपिका	चित्सुखाचार्य	,, ,,
१२. (विवरण) भावप्रकाशिका	नृसिंहाश्रम	मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज १९५८
१३. ब्र० सू० शांकरभाष्य (नवटीकोपेत)	पं० अनन्तकृष्ण शास्त्री	
१४. विवरणप्रमेय संग्रह	विद्यारण्य	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी
१५. विवरणादिप्रस्थानविमर्श	डॉ० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय	चौखम्भा वाराणसी १९५६
१६. संक्षेपशारीरकम्	सर्वज्ञात्ममुनि	वाराणसी, २०१५ सं०
१७. विवरणोपन्यास	रामानन्द सरस्वती	

१८. तत्त्वबोधिनी (संक्षेप-शारीरक टीका)	नृसिंहाश्रम	सरस्वती भवन वाराणसी १९३४
१९. सारसंग्रह (संक्षेपशारीरक व्याख्या)	मधुसूदन सरस्वती	चौखम्भा १९३४
२०. सुबोधिनी (संक्षेपशारीरक व्याख्या)	पुरुषोत्तम मिश्र	आ० सं० ग्रं० पूना १९१८
२१. सिद्धान्त बिन्दु	मधुसूदन सरस्वती	गा० ओ० सी० बड़ौदा १९३३
२२. सिद्धान्तबिन्दु व्याख्या (बिन्दु प्रपात)	म० म० वासुदेव शास्त्री	पूना, १९६२
२३. न्यायरत्नावली सिद्धान्त बिन्दु व्याख्या	ब्रह्मानन्द	चोखम्भा वाराणसी
२४. ब्रह्मसिद्धि (शंखपाणि व्याख्या)	मण्डन मिश्र	म० म० कुप्पुस्वामी द्वारा संपादित मद्रास, १९३७
२५. अद्वैतसिद्धि	मधुसूदन सरस्वती	नि०सा०प्रे०मुम्बई १९३७
२६. अद्वैतब्रह्मसिद्धि	सदानन्द यति	कलकत्ता विश्वविद्यालय १९३२
२७. अद्वैतसिद्धांत-विद्योतनम्	गौड़ब्रह्मानन्द सरस्वती	विद्याविलास प्रेस, वाराणसी १९३४
२८. अद्वैतरत्नरक्षणम्	मधुसूदन सरस्वती	नि० सा० प्रे० मुम्बई १९३७
२९. अद्वैतामोद	म० म० वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर	ओ०बु० ए० पूना १९१८
३०. पंचदशी	विद्यारण्य	वाराणसी १९५०
३१. शंकराचार्यकृत प्रकरणग्रन्थाः		ओ० बु० ए० पूना, १९५२
३२. श्रीभाष्य (श्रुति प्रकाशिका सहित)	रामानुजाचार्य	नि० सा० प्रे० १९१६
३३. सर्वदर्शनसंग्रह	माधवाचार्य	पूना १९०६
३४. सिद्धान्तलेशसंग्रह	अप्पयदीक्षित	अच्युत ग्रन्थमाला, काशी २०११ सं०
३५. सिद्धान्तलेशसंग्रह	अप्पयदीक्षित	कृष्णानन्द टीका
३६. वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	चौखम्भा सं० सी० १९५४
३७. वेदान्तसार	सदानन्द	चौ० सं० सी० १९५४

३८. तत्त्वप्रदीपिका	(चित्सुखी)	(नयन प्रसादिनी व्याख्या सहित) काशी, १९५६
३९. नैष्कर्म्यसिद्धि	सुरेश्वराचार्य (हिरियन्ना द्वारा संपादित)	मैसूर, १९२५
४०. खण्डनखण्डखाद्य	श्री हर्ष	
४१. न्यायनिर्णय आनन्दगिरि	(शारीरक भाष्य व्याख्या)	नि०सा०प्रे० मुम्बई १९३४
४२. उपदेशसाहस्री	शंकराचार्य	गायघाट, वाराणसी, १९५४
४३. अनुभूति प्रकाश	विद्यारण्यस्वामी	नि० सा० प्रे० मुम्बई १९२६
४४. इष्टसिद्धि	विमुक्तात्मा	
४५. जीवन्मुक्तिविवेक	विद्यारण्य	
४६. माण्डूक्योपनिषद्कारिका-भाष्य	शंकराचार्य	गीताप्रेस, गोरखपुर २०१६ सं०
४७. मुण्डकोपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	गीताप्रेस, गोरखपुर २०१६
४८. छान्दोग्योपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	गीताप्रेस, गोरखपुर २०१६ सं०
४९. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य	शंकराचार्य	गीताप्रेस, गोरखपुर २०१६ सं०
५०. बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्तिक	सुरेश्वराचार्य	
५१. बृहदारण्यकवार्तिकसार	विद्यारण्य	चौ० सं० सी० १९१९
५२. ऐतरेयोपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	गीताप्रेस, गोरखपुर २०१६ सं०
५३. कठोपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	,, ,,
५४. ईशोपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	,, ,,
५५. तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	,, ,,
५६. प्रश्नोपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	,, ,,
५७. श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	,, ,,
५८. केनोपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	,, ,,
५९. कल्याण, वेदान्ताङ्क		,, ,,

६०. गीताभाष्य — शंकराचार्य — नि० सा० प्रे० मुम्बई १९३६

६१. शास्त्रप्रकाशिका (बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक टीका) — आनन्दगिरि — आ० सं० ग्रं० पूना १९९२ सं०

६२. लघुचन्द्रिका — (ब्रह्मानन्दी) — अद्वैतसिद्धि व्याख्या नि० सा० प्रे० १९३४

६३. शतभूषणी — अनन्तकृष्ण शास्त्री

६४. अद्वैततत्त्वप्रदीपिका — अनन्तकृष्ण शास्त्री

६५. विष्णुपुराण — वेदव्यास

६६. तत्त्वदीपन — अखण्डानन्द

६७. योगवासिष्ठ — नि० सा० प्रे० मुम्बई १९३७

६८. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त — डा० बी० एल० आत्रेय — वाराणसी १९५७

६९. भारतीय दर्शन — पं० बलदेव उपाध्याय

७०. भारतीय दर्शन — म० म० उमेश मिश्र

७१. भारतीय संस्कृति और साधना म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

ENGLISH BOOKS

1. The Brahma Sutra : Dr. S. Radhakrishnan, London, 1960
2. The Vedanta Acoording to Sankar and Remanuj : Dr. S. Radhakrishnan, 1928
3. The Principal Upnisada : Dr. S. Radhakrishnan.
4. Bhagavadgita (Eng. Trans.) : Dr. S. Radhakrishnan.
5. History of Indian Philosophy : Dr. S. N. Das Gupta, Cambridge, 1940
6. Indian Philosophy : Dr. S. Radhakrishnan, 1927
7. Lectures on Vedant : Ghate.
8. Lights on Vedanta. Dr. V. P. Upadhyaya Benaras, 1959.
9. Vachaspati Mishra on Advaita Vadanta : Dr. S. S. Harsukar, 1958.
10. A Critique on the Vivarana school, Dr. B.K, Sen Gupta, Cal. 1959.

11. An Introduction to Advaita Philosophy : Kokileshwer Shastri, Cal. 1925.
12. An Introduction to Shankar's Theory of Knowledge : Dr. N.K. Devraj, Benaras, 1952.
13. A Study of Sankar. N. M. Shastri Cal. 1942.
14. Gaudapada : A Study in early Advaita : Dr. T. M. P. Mahadevan, Madras, 1954.
15. Gaudapada Karika, R. D. Karmarkar, Poona 1953;
16. Indian Pnilosophical Studies. M. Eiriyanna, Mysore, 1957.
17. Introduction to Vedanta Philosophy : P. N. Mukhopadhyaya, Cal. 1928
18. A Study of the Vedant : S. K. Das.
19. The Outlines of Vedant : M. Sri Nivas Rau, Banglore 1928.
20, The Philosophy of Upnisada. S. C. Chakravarti, Cal. 1935.
21. The Doctrine of Maya, P. D. Shastri, London, 1911,
22. Studies in Post-Sankar Dialectics : Ashuttosh Bhattacharya, Cal. 1936.
23. Studies in Philosophy : K. C. Bhattacharya. Cal. 1961.
24. Sankara's Selected works : S Venkatraman, Madras 1940.
25. Shankara Vedant, Dr. Ganganath Jha, Allahabad, 1939,
26. Philosphy of Bhedabheda, P. N. Sri Niwasachari, Madras 1950.
27. Philosophical Essays, Dr. S. N. Das Gupta, Cal. 1941.
28. Mayavada or the Non-dualistic Philosophy, Sadhu Santi-Nath, Poona 1938.
29. Panchadasi of Vidyaranya (Trans.), M. Sri Niwas Rau. 1912.
30. Religion and Philosophy of Veda and Upanishada, A. B, Keith, Cambridge 1925.
31. Sambandha Vartika of Sureshwaracharya, Dr. T. M. P. Mahadevan, Madras, 1958.
32. Six Ways of Knowing, Dr. D. M. Datta, Cal. 1960.
33. How for Sankar Represents the View of Sutrakar, M. T. Taliwala, Bombay, 1918.
34. Appearence and Reality, F. H. Bradley Oxford 1955.
35. A Pluralistic Universe, William James.
36. Jivatman in the Brahmasutra, A. K. Gupta, 1921.

शुद्धिपत्र

			शुद्ध रूप
१३०	२३	संक्षेप शाशीरक	संक्षेप शारीरिक
१४०	१४	बह्मदत्त	ब्रह्मदत्त
१४५	५	माक्ष	मोक्ष
१४६	१२	माना है।	माना है।[२]
१५३	१९	वर्वक	वर्णक
१६२	१२	बहिर्मुख	बहिर्मुखी
१६५	६	साधानान्तर	साधनान्तर
१७१	फुटनोट (प्रथम)	जी०	दी०
१७२	१९	उत्पादन	उपपादन
१७४	१	बिषय	विषय
१९४	७	इष्यमा मण	इष्यमाण

हम श्री धीरेन्द्र कुमार विद्यालंकार के आभारी हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के मुद्रण में अपार सहयोग दिया।

प्रकाशक